सामान्य समाजशास्त्र

GENERAL SOCIOLOGY

डॉ ओमप्रकाश जोशी



कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

Topics for Study

1 Nature of Sociological Enquiry

2 Status and Role Socialisation Groups Stratification

3 Social Process Interaction, Co-operation, Competition and Conflict Activity Sentiment and Norms

4 Theories of Social Change, Evolution and Progress

5 Social Control and Major Institutions

Published by College Book Depot, Jaipur-2
Printed at Hema Printers Jaipur

दो शब्द

'सामान्य समाजशास्त्र' मे पाठ्यक्रमानुसार 'टापिक्स' की सरल और आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। पुस्तक की विषय-वस्तु को विषय के आधिकारिक विद्वानो की रचनाओ के भरपूर सहयोग से छात्रो के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। किंग्सले डेविस, टी. बी बाटोमोर, राबर्ट बीरस्टीड, मेकाइवर एव पेज, सेजनिक एव ब्रूम, हैरी एम जानसन आदि विदेशी विद्वानो के ग्रन्थो का भी उपयोग किया गया है। भारतीय विद्वानो की रचनाओ का भी यथावश्यकता सहयोग लिया गया है। लेखक को इन सभी देशी-विदेशी विद्वानो के प्रति एतदर्थ अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करने मे हर्ष है।

पुस्तक की जटिल विषय वस्तु को सरल, सुबोध रूप मे प्रस्तुत किया गया है। विषय-सामग्री व्यवस्थित और क्रमबद्ध रहे, इसका विशेष ध्यान रखा गया है। समाजशास्त्रीय हिन्दी शब्दो को अंग्रेजी मे भी दिया गया है ताकि विषय-वस्तु को समझने मे अनावश्यक भ्रम न रहे। विभिन्न समाजशास्त्रीय पत्र पत्रिकाओ के सहयोग से विषय सामग्री को यथासाध्य अद्यतन बनाया गया है। पुस्तक के अन्त मे चुने हुए विश्वविद्यालय प्रश्न भी दिए गए है ताकि छात्रो को प्रश्न पत्रो की शैली, ढग आदि का ज्ञान हो सके।

आशा है, पुस्तक पाठको को पसन्द आएगी। आप सभी के उपयोगी सुझाव सहर्ष आमन्त्रित है ताकि पुस्तक के भावी सस्करण को और अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

ओमप्रकाश जोशी

अनुक्रमणिका

1 समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति

(NATURE OF SOCIOLOGICAL ENQUIRY)

समाजशास्त्र, अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति, समाज के किसी पहलू विशेष को लेकर नहीं चलता बल्कि सम्पूर्ण समाज पर प्रकाश डालता है, मनुष्य के भीतर विद्यमान सामाजिकता (Sociability) का वैज्ञानिक रूप से विवेचन करता है। समाजशास्त्र को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा गया है भिन्न प्रकार इसे परिभाषित किया गया है, इसके क्षेत्र पर स्वरूपात्मक और समन्वयात्मक सम्प्रदायों में मतभेद है तथापि—इन भिन्नताओं के बावजूद—समाजशास्त्र की केन्द्रीय सामग्री पर सभी समाजशास्त्रियों में मतैक्य है। इस बात पर लगभग सभी सहमत हैं कि समाजशास्त्र मनुष्य का अध्ययन है यह मनुष्यता का वैज्ञानिक अध्ययन है, यह मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन है और यह उन समूहों के सम्बन्ध में जिनके साथ व्यक्ति अन्तःक्रिया करता है, मनुष्य का अध्ययन है।

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति
(Nature of Sociological Enquiry)

कोई भी विषय हो, उसका अपना एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य होता है जिसके माध्यम से किसी भी सामाजिक घटना को समझने समझाने का प्रयत्न किया जाता है। समाजशास्त्र में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से, विभिन्न प्रकार के उपागमों के माध्यम से सामाजिक यथार्थ को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। इन उपागमों की विवेचना हम आगे यथास्थान करेंगे, पहले हम समाजशास्त्रीय अन्वेषण अथवा विमर्श (Sociological Enquiry) की प्रकृति की व्याख्या करेंगे। समाजशास्त्रीय अन्वेषण में सैद्धान्तिक तथा पद्धति शास्त्रीय दोनों प्रकार के आयाम विवेच्य हैं।

यद्यपि प्रारम्भ से ही विद्वान् सामाजिक जीवन, समाज, सामाजिक समस्याओं आदि पर विचार प्रकट करते रहे हैं, तथापि फ्रेंच विद्वान् आगस्ट काम्टे (1798–1857) ही वह व्यक्ति था जिसने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए एक पृथक् विज्ञान की आवश्यकता का अनुभव किया और उसे 'समाजशास्त्र' (Sociology) की संज्ञा दी। आगस्ट काम्टे ने समाजशास्त्र की जो रूपरेखा प्रस्तुत की, समाजशास्त्रीय

अन्वेषण की प्रकृति की जो व्याख्या प्रस्तुत की, उसका आगे चलकर विभिन्न रूपों मे विकास हुआ। आगस्ट काम्टे समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति को वैज्ञानिक मानता था तथापि वह समाज-सुधार की भावना से प्रेरित था और आज वैज्ञानिक तथा मानवतावादी समाजशास्त्र के संयुक्त रूप के पक्ष मे जो विचार प्रबल है, उन्हे हम काम्टे की भावना की विजय कह सकते हैं। काम्टे ने समाजशास्त्र का एक ऐसे विज्ञान के रूप मे प्रकट किया जो सम्पूर्ण मानव जीवन और उसकी क्रियाओ का अध्ययन करे। काम्टे के बाद आने वाले समाजशास्त्रियो ने समाजशास्त्रीय अन्वेषण को एक नया मोड दिया। उन्होने इस बात पर बल दिया कि समाजशास्त्रियो को व्यवस्थित रूप से आँकडे एकत्रित करने चाहिए ताकि वैज्ञानिक पद्धति से उनका विश्लेषण किया जा सके और समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति को अधिक परिपक्व दृष्टि दी जा सके। बीसवी सदी के प्रथम चरण तक समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप मे महत्त्व पा चुका था और पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण से विषय मे काफी प्रगति हो चुकी थी। व्यवस्थित रूप से आँकडे एकत्र करने की दिशा मे विभिन्न प्रकार की पद्धतियों का विकास हुआ, इस क्षेत्र मे काफी उन्नति हुई और फलस्वरूप समाज-शास्त्रियो को नई नई समस्याओ को समझने समझाने तथा विश्लेषित करने का अवसर मिला। समाजशास्त्र मे व्यापक स्तर पर संख्यात्मक विवेचन को स्वीकार किया गया। जैसा कि डॉ नरेन्द्र कुमार सिघवी ने लिखा है—'एक प्रकार से सख्यात्मक विवेचना एव सांख्यिकी निरूपण समाजशास्त्र मे आवश्यक समझा जाने लगा। कम्प्यूटर के आविष्कार ने वृहद् एव जटिल आँकडो का विधिवत् वर्गीकरण सम्भव कर दिया जिसके अन्तर्गत निष्कर्षों का विभिन्न चरो के साथ सम्बन्ध दिखला कर नए फल प्रस्तुत किए जाने लगे। अमेरिका मे विशेषकर बहुत बडे पैमाने पर आँकडो का एकत्रीकरण किया गया एव बडी सख्याओ मे प्रतिवेदनो का निर्माण हुआ जिसमे समाज के विभिन्न वर्गों और भाँति भाँति की सामाजिक समस्याओ के बारे मे विधिवत् आँकडे प्रस्तुत किए गए थे। भौतिकी प्रारूप को सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए उपयुक्त माना गया और साथ ही विषय एव वस्तु का द्विभाजन किया गया जिससे कि वस्तु परकता एव मूल्य तटस्थता की स्थापना सम्भव हो सके। ये तत्त्व वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए आवश्यक थे। इस भौतिकी प्रारूप का स्पष्ट अर्थ यह था कि समाजशास्त्र को भी भौतिकशास्त्र का दर्जा दिया जा सकता है और सामाजिक व भौतिक यथार्थ मे किसी प्रकार का कोई अन्तर नही है।"

उपरोक्त विश्लेषण मे समाजशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप पर बल दिया गया है। पर समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी मे लाने का अर्थ यह नही है कि इसके सैद्धान्तिक स्वरूप का महत्त्व कम हो गया है। वास्तव मे विज्ञान ज्ञान भी है और पद्धति भी और इन दोनो स्वरूपो में इसके दो तत्त्व प्रमुख है—तर्क (Rationality), एव इन्द्रियगत अनुभव (Empiricism)। डॉ सिघवी के शब्दो मे 'सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विज्ञान मे ऐसे प्राक्कथनो को प्रस्तुत किया जाता है जो कि तार्किक आधार पर परस्पर जुडे हुए है एव जिनका सत्यापन इन्द्रिय अनुभव पर निर्भर करता है।

विज्ञान के लिए यह भी आवश्यक है कि यह वस्तु परक रूप से विश्वसनीयता के आधार पर यथार्थ को समझे। अतः यह स्वाभाविक ही है कि विज्ञान के अधूरे आधार भ्रामक माने जाएँगे। यह कहना कि विज्ञान एक व्यवस्थित अध्ययन है अथवा विज्ञान ज्ञान का व्यवस्थित स्वरूप है हम स्वीकार नही कर सकते क्योंकि हम विज्ञान को सैद्धान्तिक एवं पद्धति शास्त्रीय आयामों के द्वारा स्पष्ट व व्यापक रूप से समझाने का प्रयास कर रहे है। विज्ञान की लोकप्रिय धारणा वास्तविकता से बहुत परे है। लोकप्रिय धारणा के अन्तर्गत हम विज्ञान का अर्थ एक ऐसी स्थिति से लगाते हैं जहाँ एक व्यक्ति सफेद पोशाक मे प्रयोगशाला मे टैस्टट्यूब का उपयोग करता है और विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का मिश्रण। विज्ञान, मोटर, पंखा, बिजली अथवा अन्य ऐसे उपकरण भी नही है जो कि टेक्नोलाजी का भाग माना जाएगा। विज्ञान एवं टेक्नोलाजी को एक मानना त्रुटिपूर्ण होगा।"

समाजशास्त्रीय अन्वेषण जब हमें समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की ओर ले जाता है तो स्पष्ट ही हमारे समक्ष प्रश्न प्रस्तुत होता है कि समाजशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं ? प्रायः समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की परिवर्तनशीलता के आधार पर ही समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के प्रति सन्देह प्रकट किया जाता है। पर यह वास्तव मे एक पक्षीय दृष्टिकोण है। हम यह तो मानते हैं कि विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की प्रकृति उतनी सुनिश्चित नही है जितनी कि प्राकृतिक विज्ञानों की है, लेकिन हम इस बात की उपेक्षा भी नही कर सकते है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत वैज्ञानिक पद्धति से सामाजिक तथ्यों का अध्ययन होता है और यह शास्त्र पूर्णत सिद्धान्तो को प्रतिपादन से ही सम्बन्धित न होकर उनका निर्वचन भी करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक ही है। विख्यात समाजशास्त्री, बीरस्टीड ने तो स्पष्ट शब्दों म लिखा है कि सामाजिक घटनाओं मे कुछ भी कृत्रिमता, विलक्षणता अथवा अलौकिकता नही है और जब सामाजिक घटनाएँ उतनी ही प्राकृतिक है जितनी कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति या विद्युत शक्ति, तो उनका अध्ययन करने वाले शास्त्र—समाजशास्त्र—को विज्ञान कहने में "हमे सकोच क्यों होगा ? समाजशास्त्र प्राकृतिक सामाजिक घटनाओं का शास्त्र है, अतः यह विज्ञान भी है।"

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रकृति के अन्तर्गत हमे कुछ धारणाएँ स्वीकार होगी—

प्रथम प्रकृति की एकरूपता (Uniformity of Nature) को स्वीकार करना होगा अर्थात् यह मानना होगा कि एक सी स्थिति होने पर एक सी घटनाएँ घटित होती है। दूसरे शब्दों म, प्रकृति के भी अपने नियम होते है और विशेष स्थितियों के संयोगों के फलस्वरूप एक ही प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं। प्रकृति के नियम सभी जगह समान रूप से लागू होते हैं।

द्वितीय, सत्य की वस्तुपरकता (Objectivity of Truth) को स्वीकार करना होगा अर्थात् हमे यह मानना होगा कि हम अपने स्वय के विश्वासों या स्वय की आस्थाओं द्वारा सत्य की सही या वास्तविक प्रकृति को नही बदल सकते। दूसरे

शब्दों मे, हम इस विश्व या जगत् को हमारी आशाओं, आकांक्षाओं, आस्थाओं और हमारे विश्वासों से स्वतन्त्र होकर भी समझ सकते है।

तृतीय, हमें यह स्वीकार करना होगा कि सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए इन्द्रियपरक अनुभव का होना नितान्त आवश्यक है।

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति के सन्दर्भ मे जोबर्ग एव नैट (Sjoberg and Nett) ने विज्ञान के अन्तर्गत चार कथनो का उल्लेख आवश्यक माना है—

"(1) घटनाओं की पुनरावृत्ति का एक निश्चित क्रम है।

(2) ज्ञान, अज्ञान से बेहतर है।

(3) वैज्ञानिक और बाह्य यथार्थ में एक सचार का माध्यम जुडा हुआ है जिसका आधार इन्द्रियक अनुभव है।

(4) सामाजिक व्यवस्था मे कार्य और करण का सम्बन्ध रहता है।"

इन प्राक्कथनो के आधार पर विज्ञान की प्रकृति को ठीक से समझने के लिए हम कह सकते हैं कि—(1) विज्ञान आनुभाविक (Empirical) है, विज्ञान मे विभिन्न प्रकार के प्राक्कथनो का प्रस्तुतीकरण किया जाता है (Science is Propositional) विज्ञान तार्किक (Logical) है, विज्ञान समस्या को सुलझाता या हल करता है (Problem-solving) एव विज्ञान मे निरन्तरता (Continuity) है। हमे यह मानकर चलना चाहिए कि यथार्थ को हम अपने अनुभव के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझ सकते है और यह अनुभव हमे अपने इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त होता है। वैज्ञानिक अध्ययन मे विभिन्न प्रकार के आँकडो को व्यवस्थित स्वरूप देना आवश्यक है, अन्यथा हम यह नही कह सकते कि कोई वस्तु वैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत की गई है। विज्ञान मे जो सामग्री एकत्र की जाती है, उसे तर्क के माध्यम से जाँचा और परखा जाता है। कोई भी घटना जिसे हम समझाना चाहते है, विज्ञान के लिए एक समस्या मानी जाती है अर्थात् विज्ञान का एक उद्देश्य और अभिप्राय समस्याओ को सुलझाना है। विज्ञान की प्रकृति सचयी होती है और उसमे एक निरन्तरता पाई जाती है। पिछली खोजो के आधार पर नई खोजे की जाती है और नए ज्ञान का विकास होता रहता है। गिलिन एव गिलिन ने वैज्ञानिक प्रवृत्ति को बडा महत्त्व दिया है। एक बहुत ही व्यवस्थित पद्धति का उपयोग करते हुए भी यह सम्भव है कि अनुसन्धानकर्त्ता की पक्षपातपूर्ण मनोवृत्ति उसके सम्पूर्ण अध्ययन को अवैज्ञानिक बना दे। अत उसी अध्ययन को वैज्ञानिक' कहा जा सकता है जिसमें अध्ययनकर्त्ता वैज्ञानिक प्रवृत्ति द्वारा तथ्यो का सग्रह करे। वैज्ञानिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ है—(क) घटनाओं का तटस्थ अर्थात् 'ज्यों का त्यों' अध्ययन किया जाए, (ख) निष्कर्ष पर पहुँचने और निर्णय लेने मे कोई शीघ्रता न करके धैर्य पूर्वक काम किया जाए, (ग) परिश्रम से मुख न मोडा जाए क्योकि तभी वैज्ञानिक पद्धति अधिक सत्य बन सकती है, (घ) जिज्ञासा प्रवृत्ति बनाई रखी जाए अर्थात् उस समय तक खोज करते रहा जाए जब तक कि विषय से सम्बन्धित स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध न हो जाएँ, एव (ङ) *विचार शक्ति को रचनात्मक बनाए रखा जाए, क्योकि तभी* जटिल तथ्यो को सरल रूप मे स्पष्ट किया जा सकेगा।"

मर्टन (Merton) ने विज्ञान की मूल्य व्यवस्था (Value System) को अधिक महत्त्व दिया है। उसके अनुसार विज्ञान के पाँच मूल्य पुंज हैं—

1 सार्वभौमिकता (Universalism) अर्थात् विज्ञान के नियम और सिद्धान्त सर्वत्र सभी स्थितियों में एक से लागू होते हैं।

2 व्यवस्थित शंका (Organised Scepticism)—अर्थात् विज्ञान के लिए शंका का होना आवश्यक है क्योंकि बिना शंका के हम किसी वस्तु या घटना को समझने की इच्छा नहीं करेंगे। पर यह शंका व्यवस्थित होनी चाहिए ताकि हम विषय वस्तु को विधिवत् रूप से समझ सकें। जिज्ञासा विज्ञान की कुंजी है।

3 सामुदायिकता (Communalism) अर्थात् विज्ञान द्वारा प्राप्त परिणामों को गोपनीय नहीं रखा जाता, ज्ञान को प्रचार प्रसार हेतु दूसरों के साथ बाँटा जाता है और पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नई शोध का पूरा प्रसार होता है ताकि उसके सत्यापन में कोई शंका न रहे।

4 नैतिक तटस्थता (Ethical Neutrality) अर्थात् विज्ञान नैतिकता के प्रश्न पर तटस्थ रहता है, इस बारे में कोई निर्णय नहीं देता है कि क्या होना चाहिए। विज्ञान का कार्य वस्तु का विश्लेषण कर उसके कार्यकरण-सम्बन्ध को स्पष्ट करना है।

5 रुचि तटस्थता (Disinterestedness) अर्थात् वैज्ञानिक अपनी अध्ययन वस्तु के प्रति भावनात्मक रूप से इस तरह तटस्थ रहता है कि उसकी व्यक्तिगत रुचियों, दुराग्रहों आदि से उसका अध्ययन प्रभावित न हो सके।

विज्ञान के अभिप्राय और वैज्ञानिक पद्धति की विशेषताओं के समझ लेने के पश्चात् हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि विज्ञान तथ्यों की वह व्यवस्थित और क्रमबद्ध व्याख्या है जिसमें निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व विद्यमान हों—

(1) वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करना,

(2) अवलोकन या निरीक्षण द्वारा तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करना,

(3) 'क्या है' का वर्णन करना,

(4) 'कैसे' का उत्तर देना अर्थात् कार्य और कारण का सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनकी व्यवस्था करना,

(5) वास्तविक घटनाओं के आधार पर भविष्य की ओर संकेत करना।

जब हम समाजशास्त्रीय अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रकृति की चर्चा करते हैं तो हमें विज्ञान की उपरोक्त प्रकृति और विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा, क्योंकि ये उसमें समाविष्ट हैं। हमें अपने मस्तिष्क में यह बात बैठा लेनी चाहिए कि जहाँ कहीं भी व्यवस्थित और क्रम-बद्ध रूप से तथ्यों का अध्ययन करके निष्पक्ष निष्कर्ष प्रस्तुत किए जाएँ वहीं विज्ञान का निर्माण हो जाता है, चाहे तथ्य प्राकृतिक क्षेत्र में हो अथवा सामाजिक क्षेत्र में।

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की सीमाएँ
(Limitations of Sociological Enquiry)

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की अपनी सीमाएँ हैं क्योंकि भौतिक वस्तुओं की *प्रकृति और सामाजिक घटनाओं की प्रकृति में मूलभूत अन्तर है।* कार (Carr) ने सामाजिक क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित चार प्रकार की सीमाएँ बताई हैं—

(1) हमारी इच्छाएँ एक विशेष प्रकार का फल या परिणाम चाहती हैं।
(2) हम व्यावहारिक फल के आकांक्षी हैं।
(3) हम सामाजिक क्षेत्र में वस्तुपरक दृष्टिकोण प्रायः नहीं अपना पाते।
(4) हमारे व्यक्तिगत अनुभवों के जगत् में परे सम्बन्ध बहुत अस्पष्ट रूप में ज्ञात होते हैं।

फ्रांसिस बेकिन ने सामाजिक विज्ञानों में चार सीमाओं का उल्लेख किया है—

1 नृजातीय सीमाएँ (भ्रान्तियाँ) *(Idols of Tribe)—हम प्राकृतिक* त्रुटियों की ओर ही झुकाव रखते हैं, फलस्वरूप मनुष्य की मनुष्य होने की अपनी सीमाएँ उसे सत्य के प्रत्येक पहलू का दिग्दर्शन नहीं करा सकतीं।

2 समाजीकृत भ्रान्तियाँ (Idols of the Cave)—सामाजिक विज्ञानों पर एक सीमा व्यक्ति के गलत विचारों और धारणाओं की है जिनमें वह अपने समाजीकरण की *प्रक्रिया में सीख लेता है। जन्म से लेकर बड़े होने तक व्यक्ति समाजीकरण* की प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार की गलत आदतों, धारणाओं और विश्वासों को आत्मसात कर लेता है फलस्वरूप वह 'सही दृष्टि' से विचलित हो जाता है।

3 शाब्दिक भ्रान्तियाँ (Idols of the Market Place)—सामाजिक विज्ञान भाषा सम्बन्धी सीमा का शिकार बना रहता है। भाषा के अनेक अर्थ निकलते हैं जो कि *'सन्दर्भ' से जुड़े रहते हैं। जब तक हम वार्तालाप के सन्दर्भ और वार्तालाप में* संलग्न व्यक्तियों के बारे में समुचित ज्ञान रखते हों, तब तक हम अध्ययन की घटना के बारे में सही ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।

4 वाद-विरोध की भ्रान्तियाँ (Idols of the Theatre)—यह स्वाभाविक है कि मनुष्य किसी विशेष विचारधारा या वाद के प्रति निष्ठावान हो। *यदि सामाजिक वैज्ञानिक इस प्रकार की निष्ठा में लिप्त है तो वह अपने अध्ययन* दृष्टिकोण को एक विशेष घुमाव दे देता है और उसका परिप्रेक्ष्य उसकी विचारधारा (Ideology) के अनुरूप बन जाता है।

हायक (Hayek) आदि विद्वानों ने तीन त्रुटियों की ओर सकेत किया है—(1) वस्तुपरकता के प्रति आस्था (Fallacy of Objectivity), (2) पद्धतिशास्त्रीय सामूहिकता (Methodological Collectivism) एवं (3) इतिहासवाद (Historicism)। हायक द्वारा बताई गई इन तीन त्रुटियों को स्पष्ट करते हुए डॉ० सिंघवी ने लिखा है—*"वस्तुपरकता के अन्तर्गत यह मान लिया जाता है कि* मनुष्य को मनन की छूट नहीं है और उसके चिन्तन का कोई महत्त्व नहीं है। दूसरी

धारणा के अन्तर्गत वस्तु को पूर्ण रूप से देखने का प्रयास किया जाता है जो कि भ्रान्तिमय है। इतिहासवाद के अन्तर्गत घटनाओं को विशिष्ट रूप में न देखकर साधारणीकरण के दृष्टिकोण से देखा व समझा जाता है। इन सब सीमाओं के अतिरिक्त अन्य कई सीमाएँ भी हैं। उदाहरण के तौर पर सामाजिक विज्ञानों में हम प्रयोगशालाओं का निर्माण नहीं कर सकते और न ही घटनाओं पर नियन्त्रण रख सकते हैं। कृत्रिम तरीकों से घटनाओं का निर्माण भी सामाजिक विज्ञानों में सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त क्योंकि मनुष्य ही मनुष्य का अध्ययन करता है इनके परस्पर प्रभाव अध्ययन को गलत ढंग से सम्मिलित कर सकते हैं। मनुष्य एक जटिल प्राणी है और उसके व्यवहार में इतनी जटिलता है कि किसी भी एक नियम के आधार पर उसके व्यवहार को समझने का प्रयास असफल ही माना जाएगा। यह मनुष्य ही है जो कि सोचता कुछ और है, कहता कुछ और है और करता कुछ और है।"

विज्ञानवाद के खण्डन के रूप में उभरा मानवतावादी समाजशास्त्र (Humanistic Sociology as a CounterCulture to Scientism)

समाजशास्त्र को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाने, सामाजिक अन्वेषणों का पूरी तरह वैज्ञानिक साँचे में ढालने के आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि समाजशास्त्र न तो सामाजिक पुनरोत्थान में कोई योग दे सका, न इस ज्ञान का उपयोग शोषित वर्ग के लाभ के लिए किया गया और न विभिन्न सामाजिक समस्याओं के निदान की दिशा में विशेष प्रयत्न किया जा सका। अतः विगत कुछ दशकों से समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विरोध में मानवीय समाजशास्त्र (Humanistic Sociology) का जन्म और विकास हुआ है। विभिन्न प्रकार के असन्तोष इस मानवीय या मानवतावादी समाजशास्त्र के उदय के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणार्थ, रूढ़िवादी या कन्जरवेटिव असन्तोष (Conservative Dis-satisfaction) इस बात का द्योतक है कि 'समाजशास्त्र को अधिक बेचा गया है। हम जितना कहते हैं उससे कम जानते हैं और हमारा ज्ञान लोक-ज्ञान की सीमाओं से अधिक ऊपर नहीं उठा है।' टैक्नोक्रेटिक असन्तोष (Technocratic Dis-satisfaction) इस बात को लेकर है कि समाजशास्त्र ने सामाजिक पुनरुत्थान में कोई भूमिका अदा नहीं की है और इसकी सुधारात्मक प्रवृत्ति प्रायः मिटती जा रही है। रैडीकल असन्तोष (Radical Dis-satisfaction) इस बात को लेकर है कि शोषित एवं निम्नवर्गों के कल्याण के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग नहीं किया गया है। वास्तव में इन विभिन्न विरोधी विचारधाराओं का जन्म इसलिए हुआ कि तकनीकी विकास ने मानव के सामाजिक जीवन पर इतना गहरा प्रहार किया कि वह 'बीमार या रोगग्रस्त' बन गया। ऐरिक फ्रोम ने पूरी अमेरिकी संस्कृति को 'बीमार संस्कृति' की संज्ञा दी है तो स्पेंगलर ने पाश्चात्य संस्कृति के ह्रास की भविष्यवाणी की है। विज्ञान और टैक्नोलाजी के कुप्रभावों को देखकर बौद्धिक जगत् में चिन्ता और असन्तोष पैदा हो जाना स्वाभाविक था। फलस्वरूप पश्चिम में ऐसे कितने ही सामाजिक आन्दोलन

का जन्म हुआ जिन्होंने वैभव, विलासिता, और उपभोग की संस्कृति का विरोध किया। समाजशास्त्रीय क्षेत्र में इस बात का विरोध किया जाने लगा कि केवल आँकड़े एकत्र करना और नई पद्धतियाँ विकसित करना ही सब कुछ नहीं है। इस बात पर बल दिया जाने लगा कि सामाजिक यथार्थ को समझने का प्रयत्न करना होगा क्योंकि हम अभी इस स्थिति से बहुत दूर हैं। समाजशास्त्रीय अन्वेषण को एक नया मोड़ दिया गया और यह कहा जाने लगा कि यहाँ एक नवीन समाजशास्त्र का निर्माण आवश्यक है जो मानवतावादी पहलुओं को लेकर चले, सामाजिक यथार्थ को समझने, समझाने में सहायक हो। इसीलिए मानवतावादी समाजशास्त्र का पोषण *किया गया जिसके अन्तर्गत इस बात पर बल दिया जाता है कि समाज*-शास्त्रीय ज्ञान को सामाजिक पुनरुत्थान के कार्य में लगाना चाहिए, शोषित और निम्न वर्ग के लोगों के लाभ के लिए इस ज्ञान का उपयोग किया जाना चाहिए। समाजशास्त्र को बेचने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित किया जाना चाहिए। समाज-शास्त्रियों को यह अनुभव करना चाहिए कि विज्ञानवाद ने हमारी संस्कृति को कितना धक्का पहुँचाया है। समाजशास्त्रियों में एक ऐसी जिज्ञासा पैदा होनी चाहिए जो 'बन्द किवाडों में झाँक सकें।' समाजशास्त्रीय संवेदना और समाजशास्त्रीय परि-कल्पना के आधार पर समाज को समझना आवश्यक है। मानवतावादी समाजशास्त्र *की माँग है कि समानुभूति (Empothy), अन्तःज्ञान (Intution) आदि* तरीकों से सामाजिक घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाए।

इस सम्पूर्ण विवेचन के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति (Nature of Sociological Enquiry) मानविकी एवं वैज्ञानिक दोनों रही है। दोनों ही दृष्टिकोण या उपागम परस्पर बिल्कुल भिन्न है। तथापि दोनों ही दृष्टिकोणों का समुचित समन्वय ही समाजशास्त्रीय अन्वेषण को सही दिशा में ले जा सकता है। प्रारम्भ से पिछले पाँच-छः दशकों तक समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में ही प्रस्थापित किए जाने का प्रयत्न रहा। लेकिन तत्पश्चात् मानविकी या मानवतावादी समाजशास्त्र का विकास होने लगा और आज यह विचारधारा लोकप्रिय बनती जा रही है।

क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है ?
(Is Sociology a Science ?)

समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति के सन्दर्भ में हमने समाजशास्त्र की *वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में सांकेतिक और अप्रत्यक्ष विवेचन किया है। समाजशास्त्रीय अन्वेषण की प्रकृति के सन्दर्भ में ही प्राय यह सीधा प्रश्न किया जाता है कि* समाजशास्त्र किस प्रकार एक विज्ञान है? समाजशास्त्र को विज्ञान मानने में—एक सामाजिक विज्ञान मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि उसकी प्रकृति में विज्ञान के सभी आवश्यक तत्त्व मौजूद है।

(1) समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है—समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं का विज्ञान है जो अपने अध्ययन-विषय

का मनमाने ढग से अध्ययन नही करता। समाजशास्त्र ने कुछ निश्चित और वैज्ञानिक पद्धतियो को विकसित कर लिया है जिनकी सहायता से वह मूर्त और अमूर्त (Concrete and abstract) दोनो ही प्रकार के सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करता है। इनमे व्यक्तिगत जीवन अध्ययन पद्धति, सांख्यिकीय पद्धति, सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, समाजमिति तथा ऐतिहासिक पद्धति प्रमुख हैं।

(2) समाजशास्त्र निरीक्षण द्वारा तथ्यो का संग्रह, विश्लेषण और वर्गीकरण करता है—समाजशास्त्र की सम्पूर्ण पद्धति एकदम व्यवस्थित और क्रमबद्ध है। विभिन्न पद्धतियो के आधार पर समाजशास्त्री सर्वप्रथम एक उपकल्पना (Hypothesis) बनाकर प्रश्नावली अथवा अनुसूची की सहायता से तथ्यो का सग्रह करते है। फिर इन एकत्र किए हुए तथ्यों को इनकी समानता के आधार पर विभिन्न वर्गों मे बाँट लेते हैं। प्रत्येक वर्ग मे ऐसे ही तथ्य रखे जाते है जो एक दूसरे से निश्चित रूप से सम्बन्धित हो। इतना कर लेने के बाद प्रत्येक वर्ग का विश्लेषण किया जाता है ताकि उसके आधार पर कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकें।

(3) समाजशास्त्र "क्या है" का विवेचन करता है—समाजशास्त्र मे केवल "क्या है" अर्थात् वर्तमान वास्तविक घटनाओ का ही विवेचन किया जाता है, "क्या होना चाहिए" से यह सम्बन्ध नही रखता। दूसरे शब्दो मे "आदर्श" अथवा दर्शन से समाजशास्त्र का कोई सम्बन्ध नही है। समाजशास्त्रियों का काम सामाजिक तथ्यो को "ज्यों का त्यो" प्रस्तुत करना है। समाजशास्त्र यह स्पष्ट करेगा कि अपराध क्या है, क्यो होते है, कितनी मात्रा मे होते हैं, आदि। लेकिन वह इस बात से सम्बन्ध नही रखेगा कि अपराध होने चाहिएँ अथवा नही। समाजशास्त्र मे "ख्याली पुलाव" पकाने का प्रयत्न किसी भी स्तर पर नही किया जाता। स्पष्ट है कि घटनाओं का वास्तविक विवेचन करने के फलस्वरूप समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक हो जाती है।

(4) समाजशास्त्र कार्य कारण सम्बन्धो को बताता है—समाजशास्त्र मे तथ्यो का विश्लेषण और निरूपण करके घटना के वास्तविक कारणो का भी पता लगाया जाता है। यह काम इस विश्वास के आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक सामाजिक घटना किसी न किसी निश्चित कारण के फलस्वरूप घटित होती है। उदाहरणार्थ समाजशास्त्र केवल यही नही बताता कि भारत मे तेजी से सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वरन् उन कारणो की भी व्याख्या करता है जो इस स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं। गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की अपनी परिभाषा मे कार्य-कारण के पक्ष पर पर्याप्त बल देते हुए इसे एक विज्ञान माना है।

(5) समाजशास्त्रीय नियमो मे "सर्वव्यापी" प्रकृति पाई जाती है—समाजशास्त्रीय नियम एक क्षेत्र-विशेष मे निश्चय ही वैज्ञानिक और "सर्वव्यापी" प्रकृति के सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, अनेक समाजशास्त्री नियम इस कथन की प्रामाणिकता स्पष्ट कर सकते हैं कि समान प्रकृति वाले समाजो मे समान "कारण" का सदा समान "प्रभाव" होगा। सयुक्त परिवार कही भी हो, उनमे स्त्रियो की स्थिति पुरुषो की तुलना मे निम्न होगी। जनसख्या की अधिकता जहाँ कही भी हो,

किसी न किसी मात्रा मे बेरोजगारी फैलेगी। सामाजिक बन्धनो मे तनाव कही भी पैदा हो, उनके बढने पर सामाजिक विघटन की स्थिति अवश्य उत्पन्न होगी।

(6) समाजशास्त्र के नियमों की परीक्षा और पुनर्परीक्षा सम्भव है—कोई भी वैज्ञानिक पद्धति किसी व्यक्ति विशेष की बपौती नही होती। रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र भी इसी दृष्टि मे पूर्ण विज्ञान माने जाते हैं कि उनके नियमो की परीक्षा कही भी और कभी भी की जा सकती है। समाजशास्त्रीय नियमो मे भी यही बात लागू होती है कि उनकी प्रामाणिकता की पुनर्परीक्षा किसी भी समय की जा सकती है। जो निष्कर्ष आज एक समाजशास्त्री ने निकाले हैं, दूसरा समाजशास्त्री वैज्ञानिक पद्धति द्वारा उन निष्कर्षों की फिर से जाँच कर सकता है। इस परीक्षा और पुनर्परीक्षा के दौरान ही नए निष्कर्ष सम्भव होते है इस प्रकार का दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक है और इसीलिए समाजशास्त्र को एक प्रगतिशील विज्ञान स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

(7) समाजशास्त्र भविष्य की ओर सकेत कर सकता है—समाजशास्त्र म वर्तमान घटनाओ के आधार पर भविष्य की सम्भावित परिस्थितियो की ओर सकेत करने की क्षमता है। उदाहरणार्थ, यदि समाजशास्त्री जातिप्रथा के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन कर रहा है तो उसका यह भी कार्य होगा कि वह इस विषय म सम्बन्धित सभी तथ्यो का सग्रह, वर्गीकरण, विश्लेषण, निरूपण आदि करके ऐसे निष्कर्ष निकाले जिनके आधार पर यह भविष्यवाणी करना सम्भव हो कि यदि ये परिस्थितियाँ या अवस्थाएँ बनी रही तो आगे चल कर जातिप्रथा का क्या वास्तविक रूप अथवा स्वरूप होगा। यदि समाजशास्त्री ऐसा करने की क्षमता नही रखता तो वह वैज्ञानिक होने का अधिकार नही रखेगा। चूँकि समाजशास्त्र मे भविष्यवाणी करने की शक्ति है अत उसे विज्ञान की श्रेणी म रखा जाना चाहिए।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र मे विज्ञान के सभी आवश्यक तत्व मौजूद हैं तथा यह वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सामाजिक घटनाओ और सामाजिक प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे ज्ञान का व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध सग्रह करने म सक्षम है। अत नि सकोच समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

समाजशास्त्र को विज्ञान कहने मे जो आपत्तियाँ ह वे निरर्थक है (Objections against the Scientific Nature of Sociology are Useless)

समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उन आपत्तियों का मूल्यांकन किया जाए जो इसे विज्ञान कहने पर की जाती है। अग्रिम पक्तियो मे हम समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर आपत्तियो को लेंगे और साथ ही उनका निराकरण भी करते चलेंगे।

1 समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक तटस्थता का अभाव—सबसे पहली आपत्ति यह की जाती है कि समाजशास्त्र का अध्ययन विषय कुछ इस प्रकार का है कि उसके अध्ययन मे वैज्ञानिक तटस्थता (Scientific objectivity) को बनाए रखना सम्भव

नहीं है। इस सम्बन्ध मे दो प्रमुख कारण हैं—(i) समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक घटनाओं से है जो कि अत्यधिक जटिल होती है, एव (ii) सामाजिक घटनाएँ निरन्तर परिवर्तनशील हैं। समाजशास्त्र का प्रमुख सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धो और प्रक्रियाओं मे है जो कि एक ओर तो अमूर्त हैं और दूसरी ओर इनमे अत्यधिक भिन्नता भी पाई जाती है। इन कारणों से समाजशास्त्रीय नियमो का पक्षपातपूर्ण होना स्वाभाविक है। अध्ययनकर्त्ता किसी विषय का अध्ययन करते समय अपनी भावनाओं और विश्वासो से सर्वथा अप्रभावित नही रह सकता, अत उसके निर्णय पक्षपातपूर्ण हो जाते है। दृष्टिकोण मे तनिक सी भी असावधानी उसके निष्कर्षो को गलत बना देती है।

उपरोक्त आपत्ति भ्रामक है—सामाजिक तथ्यों की जटिलता के आधार पर समाजशास्त्र को वैज्ञानिक न मानना भ्रामक है। वास्तव मे किसी भी वस्तु की जटिलता या सरलता का सम्बन्ध तो हमारे ज्ञान के स्तर से है। ज्ञान की कमी होने पर साधारण तथ्य भी हमे जटिल लगेगा और वास्तविक ज्ञान होने पर एक जटिल तथ्य भी हमारे लिए सरल बन जाएगा। समाजशास्त्र एक नवोदित विज्ञान है, अत यदि अध्ययन वस्तु जटिल लगे तो इस आधार पर उसे अवैज्ञानिक नही कहा जा सकता। हमे यह नही भूलना चाहिए कि समाजशास्त्र मे विभिन्न आधुनिक प्रविधियाँ विकसित होती जा रही है जिनके द्वारा सामाजिक घटनाओं की जटिलता को सरलता से समझना सम्भव होता जा रहा है।

2 *समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं को ठीक से माप नहीं पाता*—समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विरुद्ध दूसरी आपत्ति है कि यह अपनी अध्ययन वस्तु को ठीक से माप नही सकता। सामाजिक घटनाएँ अमूर्त होती है अत उन्हें निश्चित रूप से मापना या तौलना सम्भव नही है। फलस्वरूप समाजशास्त्र में वह यथार्थता नहीं आ पाती जो अन्य प्राकृतिक विज्ञानो मे है।

उपरोक्त आपत्ति निराधार है—सामाजिक घटनाओं को मापन सम्बन्धी कठिनाई के आधार पर समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता से इन्कार करना भी भ्रामक है। विज्ञान के लिए माप का होना सदैव अनिवार्य नही है। एक दर्जी कपड़े को एक एक इन्च माप कर बनाता है, लेकिन हम उसे वैज्ञानिक नहीं कहते। अति प्राचीन काल म बीमारी या ज्वर को मापने की कोई प्रविधिया नही थी, लेकिन सही अवलोकन और अनुमान के आधार पर चिकित्सा विज्ञान का अस्तित्व था। अत स्पष्ट है कि विज्ञान और माप का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। मापने की क्षमता विज्ञान के लिए केवल एक सहायक तत्त्व है। फिर यह भी नही भूलना चाहिए कि ज्यों ज्यो समाजशास्त्रीय ज्ञान उन्मुक्त होता जा रहा है, सामाजिक घटनाओं की माप करना भी सम्भव बनता जा रहा है।

3 *समाजशास्त्र मे प्रयोगशाला का अभाव*—समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध तीसरी आपत्ति यह है कि *समाजशास्त्र मे प्रयोगशाला-पद्धति का प्रयोग प्राय* नहीं हो सकता। दूसरी ओर प्राकृतिक विज्ञानो को यह सुविधा पूर्णत प्राप्त है कि

वे अपनी प्रयोगशाला मे विभिन्न प्रयोग कर सकें और उनके आधार पर यथार्थ तथा निश्चित निष्कर्ष निकाल सकें। चूँकि समाजशास्त्र मे प्रयोगशाला का अभाव है, अत प्राप्त तथ्यो को किसी प्रकार प्रामाणिक नही माना जा सकता। गार्नर के शब्दो मे 'हम समाज के एक भाग को हाथ मे नही ले सकते और उसे विभिन्न अवस्थाओ मे रखकर टैस्ट-ट्यूब (Test tube) मे डालकर न तो उसकी परीक्षा कर सकते है, न अपनी जिज्ञासा को सन्तुष्ट कर सकते है और न सामाजिक समस्याओ का हल खोज सकते है।" समाजशास्त्री अपनी आवश्यकतानुसार एक बच्चे को जगल मे रखकर मानव-जीवन पर समाज के महत्त्व का मूल्यांकन नही कर सकता और न ही किसी व्यक्ति को रातो-रात अपराधी चोर या डाकू बनाकर उसकी विशेषताओ का निरूपण कर सकता है। जब समाजशास्त्र मे प्रयोगशाला पद्धति का प्रयोग नही हो सकता तो उसे विज्ञान भी नही कहा जा सकता।

यह आपत्ति भी भ्रामक है—चाहे समाजशास्त्र के पास भौतिक विज्ञानो की भाँति कोई कृत्रिम प्रयोगशाला नही है, लेकिन हमे यह भी भूलना चाहिए कि समाजशास्त्रीय नियमो की प्रकृति भी ऐसी होती है कि उन्हे किसी बन्द और कृत्रिम प्रयोगशाला के अन्दर समझा नही जा सकता। समाजशास्त्र की प्रयोगशाला तो सम्पूर्ण समाज है, और यही उसके लिए स्वाभाविक है। हमे इस तथ्य की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए कि प्राचीनकाल मे विख्यात् भौतिक वैज्ञानिको ने अपने विश्व-विख्यात् वैज्ञानिक नियमो का प्रतिपादन आज जैसी यन्त्र-सज्जित बन्द प्रयोगशालाओ मे नही किया था, बल्कि उनकी प्रयोगशाला सम्पूर्ण प्रकृति थी। फिर यदि समाजशास्त्रीय नियमो का प्रतिपादन खुले वातावरण मे किया जाता है, तो उसे वैज्ञानिक कहने मे आपत्ति क्यो होनी चाहिए। गिलिन और गिलिन ने ठीक ही लिखा है कि सूक्ष्म अवलोकन अथवा निरीक्षण (Accurate observation) प्रयोगशाला पद्धति की सबसे बडी कसौटी है, इसलिए समाजशास्त्र की यह कोई कमी नही है कि उसके पास अन्य विज्ञानो की भाँति कृत्रिम प्रयोगशाला नही है। जब समाजशास्त्र मे, बिना प्रयोगशाला के ही, सूक्ष्म और यथार्थ अवलोकन-शक्ति है, तो उसकी विज्ञान की ओर बढती हुई प्रगति को रोका नही जा सकता।

4 समाजशास्त्र भविष्य के बारे मे निश्चित घोषणा नहीं कर सकता— समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर अन्तिम मुख्य आरोप यह लगाया जाता है कि इसमे भविष्यवाणी करने की योग्यता नही है। सामाजिक घटनाएँ इतनी परिवर्तनशील है कि समाजशास्त्रीय नियम किसी भी प्रकार की निश्चित भविष्यवाणी नही कर सकते। दूसरी ओर प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानो मे निश्चित भविष्यवाणी करने की क्षमता होती है, उनके नियम बिलकुल ठीक और सब जगह समान लागू होने वाले होते हैं।

उपरोक्त आपत्ति भी एकपक्षीय है—वास्तव मे देखा जाए तो निश्चित भविष्यवाणी करने सम्बन्धी कमी सामाजिक विज्ञान मे तो क्या, प्राकृतिक विज्ञानो तक मे स्पष्ट है। चेस्टर अलेक्जेण्डर के अनुसार, ऋतु विज्ञान विशेषज्ञ 5 दिन पहले

भी यह अनुमान नहीं लगा सकता कि भविष्य में क्या होगा अथवा प्राणीशास्त्री तुरन्त यह नहीं बता सकता कि कौनसा खरगोश नवअंकुरित मटर के पौधे के अंकुरों को खा जाएगा, अथवा भू-गर्भ शास्त्री यह नहीं कह सकता कि आगामी शीतकाल में कौनसी रेल की पटरी टूटेगी ? लुण्डबर्ग ने एक उदाहरण देते हुए लिखा है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम भी तभी खरा उतरता है जब कुछ अवस्थाएँ विद्यमान हों। इस नियम के अनुसार समान भार की सभी वस्तुएँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से समान रूप से प्रभावित होती हैं, पर यदि हम कुछ कागज के टुकड़ों को एक साथ ऊँची मीनार से फेंके तो कुछ टुकड़े धरती पर पहले गिरेंगे और कुछ बाद में, और यदि हवा तेज चल रही हो तो टुकड़े हवा में ही उड़ते रहेंगे। अभिप्राय यह हुआ कि जब विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव प्राकृतिक नियमों पर भी पड़ता है और भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों की भविष्यवाणी करने सम्बन्धी सीमाएं है, तो समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता को ठुकराना एकपक्षीय है। फिर पार्सन्स का यह नियम कि "सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित किसी भी प्रक्रिया की दशा एवं गति में तब तक परिवर्तन नहीं होगा जब तक कि कोई विरोधी प्रेरक शक्ति उसके सामने बाधाएँ उत्पन्न न करदे"[1] उतना ही सही है कि जितने कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम।

स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के विरुद्ध लगाई गई आपत्तियाँ निराधार हैं, उनके आधार पर इसे विज्ञान की मान्यता देने में संकोच करना हठवादिता या दुराग्रह है।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति क्या है ? (What is the Real Nature of Sociology ?)

अथवा

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of the Scientific Nature of Sociology)

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की सीमाओं को यदि हम जान लें तो हमारे समक्ष समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति स्पष्ट हो जाएगी और इस सम्बन्ध में अनेक भ्रामक धारणाएँ दूर हो सकेगी। इस सम्बन्ध में हम दो विख्यात् समाजशास्त्रियों के मतों का उल्लेख करेंगे—प्रथम है रॉबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt), एवं दूसरे है हैरी एम जानसन (Harry M. Johnson)।

बीरस्टीड के अनुसार समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की सीमाएँ अथवा विशेषताएँ

बीरस्टीड ने अपनी पुस्तक "The Social Order" में पृष्ठ 11 से 15 तक समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति का निरूपण किया है—

1 *T Parsons* : Working Papers in the Theory of Action, p 102

1. समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है न कि प्राकृतिक विज्ञान (A Social and not a Natural Science)—बीरस्टेड के अनुसार समाजशास्त्र प्रत्येक दृष्टिकोण से एक सामाजिक विज्ञान है न कि प्राकृतिक विज्ञान। समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है, सामाजिक सम्बन्धों और प्रक्रियाओं का विज्ञान है। इस प्रकार इसका अध्ययन-विषय मौलिक रूप से सामाजिक है। भौतिक या प्राकृतिक घटनाओं से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि समाजशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि प्राकृतिक या भौतिक घटनाओं का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, लेकिन सामाजिक एवं गैर-सामाजिक घटनाओं के आपसी सम्बन्धों और सह-सम्बन्धों का यह अध्ययन मूल रूप में सामाजिक दृष्टिकोण से ही किया जाता है। अतः समाजशास्त्र को हम एक सामाजिक विज्ञान कहेंगे, न कि प्राकृतिक विज्ञान।

2. समाजशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है न कि आदर्शात्मक विज्ञान (A Categorical not a Normative Discipline)—समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का उसी रूप में अध्ययन करता है जिस रूप में कि वे वास्तव में हैं। दूसरे शब्दों में समाजशास्त्र 'क्या है' का अध्ययन करता है 'क्या होना चाहिए' अर्थात् आदर्श से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सामाजिक घटनाओं को वास्तविक रूप में प्रस्तुत करते हुए समाजशास्त्री का दृष्टिकोण पक्षपात रहित अथवा निरपेक्ष रहता है, वह अपने अध्ययन अथवा निरूपण में किसी घटना विशेष या समूह विशेष की तरफदारी नहीं करता। क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या सही है और क्या गलत, क्या नीति पूर्ण है और क्या नीति के विरुद्ध आदि विषयों पर विवेचना करना समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के विरुद्ध है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर निष्कर्ष प्रस्तुत करना इसका काम है। समाज में एक समय विशेष में विद्यमान सामाजिक मूल्य, विश्वासों, कार्य प्रणालियों आदि का अध्ययन ही इसे रुचिकर है।

3 समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं (A Pure Science, not an Applied Science)—विशुद्ध विज्ञान का प्रमुख कार्य ज्ञान का व्यवस्थित और क्रमबद्ध संग्रह करना है न कि उस ज्ञान को व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोग करने के सम्बन्ध में सुझाव देना या स्वयं उस ज्ञान को व्यावहारिक रूप में प्रयोग में लाना। एक समाजशास्त्री यही करता है। विशुद्ध विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का उद्देश्य मानव-समाज से सम्बन्धित वास्तविक ज्ञान का संग्रह है, उसे उपयोग में लाना नहीं। विशुद्ध विज्ञान सैद्धान्तिक होता है जबकि व्यावहारिक विज्ञान का कार्य है सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करना। इस प्रकार जहाँ भौतिकशास्त्र, सैद्धान्तिक व्याख्या होने के फलस्वरूप, विशुद्ध विज्ञान है वहाँ इंजीनियरिंग-शास्त्र भौतिक शास्त्र के नियमों को व्यावहारिक रूप में लागू करने के कारण एक व्यावहारिक विज्ञान माना जाएगा। समाजशास्त्र में केवल सामाजिक सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है, इसका काम उन्हें सामाजिक जीवन पर लागू करना नहीं है। इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का कार्य 'सामाजिक कार्य' (Social works) तथा अन्य विशिष्ट सामाजिक विज्ञानों का है।

4 समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है, मूर्त नहीं (A Relatively Abstract Science and not a Concrete one)—समाजशास्त्र में समाज का अध्ययन किया जाता है अर्थात् इसका सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन से है जो कि स्वय अमूर्त होते हैं। अत समाजशास्त्र को भी मूर्त नहीं बल्कि अमूर्त विज्ञान कहना होगा। सामाजिक घटनाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हुए समाजशास्त्र अपने को किसी भी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं करता। इसका उद्देश्य व्यक्ति विशेष का अध्ययन करना नहीं बल्कि उनके बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करना है जो कि अमूर्त होते हैं अर्थात् जिन्हें हम देख नहीं सकते, अनुभव कर सकते है।

5 समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण विज्ञान है न कि विशेषीकरण या वैयक्तिकरण विज्ञान (A Generalizing and not a Particularizing or Individualizing Science)—बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की पाँचवी विशेषता यह बताई है कि इसे सामान्यीकरण विज्ञान कहना चाहिए न कि विशेषीकरण अथवा वैयक्तिकरण विज्ञान। समाजशास्त्र मानव अन्त क्रिया और सब के बारे में, मानव समूह तथा समाजो की प्रकृति स्वरूप विषय वस्तु और सरचना के बारे मे सामान्य नियम या सिद्धान्त (General Laws or Principles) ढूंढने का प्रयत्न करता है, न कि विशिष्ट समाजो अथवा विशिष्ट घटनाओं के सम्पूर्ण और व्यापक विवरणों को जानने का, जैसाकि इतिहास मे होता है। समाजशास्त्र की रुचि इस एतिहासिक तथ्य मे नहीं है कि मुसोलिनी के नेतृत्व मे इटली ने कभी इथियोपियावासियों पर युद्ध लादा था बल्कि इस समाजशास्त्रीय सिद्धान्त मे है कि बाह्य आक्रमण किसी समूह के आन्तरिक सगठन को दृढता या तीव्रता देने का एक तरीका (One way to intensify the internal solidarity of a group) है।

6 समाजशास्त्र तार्किक और अनुभवसिद्ध दोनों विज्ञान है (Both a Rational and an Empirical Science)—समाजशास्त्र अपने अध्ययन-कार्य मे किसी भी आध्यात्मिक या दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रश्रय नहीं देता। यह वैज्ञानिक पद्धतियों का दृढता से प्रयोग करता है ताकि जो भी निष्कर्ष वह निकाले वे न केवल तार्किक अथवा युक्तियुक्त हो बल्कि अनुभवसिद्ध भी हो। दूसरे शब्दो मे, समाजशास्त्र के अपने अध्ययन मे एक ओर तो उन तथ्यो को सम्मिलित किया जाता है जिन्हे तर्क के आधार पर स्पष्ट किया जा सके एव दूसरी ओर तथ्यों का अध्ययन उस पृष्ठभूमि के आधार पर भी किया जाता है जो अनुभव पर आधारित हैं। अनेक सामाजिक तथ्य ऐसे होते हैं जिन्हे हम तर्क से प्रमाणित नहीं कर सकते लेकिन जो अनुभव मे सिद्ध है। इस प्रकार समाजशास्त्र तार्किक विज्ञान भी है और अनुभवसिद्ध विज्ञान भी।

7 समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है विशेष सामाजिक विज्ञान नहीं (A General and not a Special Social Science)—समाजशास्त्र मे केवल कुछ विशेष सम्बन्धों का नहीं अपितु सामान्य सम्बन्धो का अध्ययन किया

जाता है, अतः यह एक सामान्य विज्ञान है, न कि विशेष विज्ञान। समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र के प्रसंग में हम बता चुके हैं कि सभी सामाजिक विज्ञानों में कुछ सामान्य (Common) तत्त्व पाए जाते हैं और समाजशास्त्र ऐसे ही तत्त्वों का अध्ययन करने के फलस्वरूप एक सामान्य विज्ञान की श्रेणी में आता है। साथ ही यह भी है कि समाजशास्त्र किसी भी घटना का विवेचन करते हुए किसी एक विशेष कारण या उस घटना के विशेष पहलू पर अधिक जोर नहीं देता वरन् उस घटना के सभी पक्षों को सामान्य रूप से देखता है और सामान्य कारण ढूंढने तथा विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है। अतः इस दृष्टि से भी समाजशास्त्र सामान्य विज्ञान ही है, विशेष विज्ञान नहीं।

बीरस्टीड ने समाजशास्त्र की प्रकृति को बड़े संक्षेप और सरल रूप में एक चार्ट द्वारा प्रस्तुत किया है जिसे हम निम्नानुसार रख सकते हैं (बाएँ कालम के शब्द समाजशास्त्र की प्रकृति को इंगित करते हैं)—

समाजशास्त्र क्या है	क्या नहीं है
सामाजिक (Social)	प्राकृतिक (Natural)
निरपेक्ष या वास्तविक (Categorical or positive)	आदर्शात्मक (Normative)
विशुद्ध (Pure)	व्यावहारिक (Applied)
मूर्त (Abstract)	अमूर्त (Concrete)
सामान्यीकरण (Generalizing)	विशेषीकरण (Particularizing)[1]
तार्किक तथा अनुभवसिद्ध (Rational & *Empirical*)	—
सामान्य (General)	विशेष (Particular)

इस प्रकार 'समाजशास्त्र एक सामाजिक, एक वास्तविक, एक विशुद्ध, एक अमूर्त, एक सामान्यीकरण, तार्किक और अनुभवसिद्ध दोनों, तथा एक सामान्य विज्ञान है।'[2]

हैरी एम. जानसन के अनुसार समाजशास्त्र में विज्ञान की विशेषताएँ

हैरी एम जानसन ने अपनी विख्यात पुस्तक "समाजशास्त्र एक विधिवत् विवेचन" (हिन्दी अनुवाद) में पृष्ठ 3 पर लिखा है कि समाजशास्त्र में किस सीमा तक विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

1 यह लौकिक (यथार्थवादी, पार्थिव) है, अर्थात् यह प्रेक्षण और तार्किक चिन्तन पर आधारित है, न कि अति-प्राकृतिक अन्तर्बोध पर। इसके परिणाम

1 "Generalizing" और "Particularizing" को कभी कभी क्रमश. Idiographic तथा Nomothetic भी कह दिया जाता है।

2. सिंघवी एवं गोस्वामी समाजशास्त्र विवेचन, पृष्ठ 5

अनुमानों पर आधारित नहीं होते, यह सच है कि अपने रचनात्मक कार्य की प्रारम्भिक स्थितियों में सभी वैज्ञानिक अनुमान लगाते हैं, किन्तु अपने इन अनुमानों को वैज्ञानिक उपलब्धि के रूप में घोषित करने से पूर्व तथ्यों के धरातल पर इन्हें वे आंक लेते हैं।

2 यह सैद्धान्तिक है; अर्थात् यह जटिल प्रेक्षणों का सारांश प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। यह सारांश संक्षिप्त, तर्कसम्मत, परस्पर सम्बन्धित प्रस्तावनाओं के रूप में होता है जिनका प्रयोजन कार्य-कारण सम्बन्धावलि को स्पष्ट करना होता है।

3 यह संचयी है, अर्थात् समाजशास्त्रीय सिद्धान्त एक के आधार पर दूसरे बनते हैं, नए सिद्धान्त पुराने सिद्धान्तों का सुधार, विस्तार और परिष्कार करते हैं।

4 यह नैतिकता मुक्त है, अर्थात् समाजशास्त्री की इसमें रुचि नहीं होती है कि अमुक सामाजिक कार्य भले हैं अथवा बुरे, वह तो केवल उनकी व्याख्या करता है।

इन सभी पक्षों में समाजशास्त्र अभी पूर्णता नहीं पा सका है, किन्तु इस दिशा में प्रगति क्रमिक है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
(Sociological Perspective)

समाजशास्त्र क्या है? को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझ लेना भी आवश्यक है। इसे स्पष्ट करते हुए डॉ० सिंघवी एवं गोस्वामी ने लिखा है—"समाजशास्त्र एक विशिष्ट दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटना का अध्ययन करता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत एक पक्ष तो सामाजिक सम्बन्धों का है जिसके अन्तर्गत हम दो या दो से अधिक व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों का चाहे वे सहयोग के हों या संघर्ष के हों, एवं उससे उत्पन्न प्रभावों व उनके निर्माण की परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं। इसी दृष्टिकोण का दूसरा पक्ष यह है कि कोई भी वस्तु या प्रघटना हमारे सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक मूल्यों सामाजिक प्रस्थिति, सामाजिक प्रक्रिया एवं सामाजिक नियन्त्रण को किस रूप में प्रभावित करती है। हम सम्बन्धों के अर्थशास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक पक्ष को समाजशास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत विचारणीय नहीं समझते।"[1]

वास्तव में, यह आवश्यक नहीं है कि हम किसी वस्तु-विशेष को एक ही विषय के अन्तर्गत रखें। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हम उस वस्तु का किस दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं और हमारे अध्ययन की सन्दर्भ-परिधि क्या है? इस दृष्टिकोण से, हम एक ही वस्तु का कई विषयों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक कुर्सी का अध्ययन अर्थशास्त्री भी कर सकता है, वनस्पतिशास्त्री भी और समाजशास्त्री भी लेकिन अध्ययन का दृष्टिकोण भिन्न होगा। वनस्पतिशास्त्री इस दृष्टिकोण से अध्ययन करेगा कि कुर्सी की लकड़ी किस वर्ग में आती है।

1. वही, पृष्ठ 6

अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण से अध्ययन करेगा कि कुर्सी कितने मे खरीदी गई, कितने मे बेची गई, उससे हानि-लाभ क्या हुआ आदि। समाजशास्त्री कुर्सी को प्रस्थिति प्रतीक (Status symbol) के रूप मे देखेगा। वह यह देखेगा कि कुर्सी पर किस पद का व्यक्ति बैठता है। कुर्सी की लकडी वही है लेकिन एक कुर्सी कमरे के बाहर चपरासी के लिए पड़ी होती है तो वैसी ही कुर्सी एक विशेष कक्ष मे अधिकारी के लिए सुरक्षित रहती है। इस प्रकार विभिन्न कुर्सियाँ विभिन्न पदो के प्रतीक के रूप मे देखी जाती है। यह दृष्टिकोण समाजशास्त्री दृष्टिकोण है। हम इसे एक दूसरे उदाहरण द्वारा भी समझ सकते है। एक पोषाहार विशेषज्ञ डबल रोटी का अध्ययन प्रोटीन, विटामिन आदि की मात्रा को आँक कर सन्तुलित आहार की दृष्टि से करेगा। एक अर्थ शास्त्री उसका अध्ययन बाजार-वस्तु के रूप मे करेगा, उसके क्रय मूल्य, विक्रय मूल्य, उपभोक्ता की बचत आदि को ध्यान मे रखेगा। पर यदि डबल रोटी के जल जाने पर पति-पत्नी मे झगडा हो जाए, तनाव हो जाय तो यह प्रसग समाजशास्त्री के लिए अध्ययन की विषय-वस्तु बन जाएगा क्योंकि यहाँ डबल रोटी पति पत्नी के सामाजिक सम्बन्धो को प्रभावित करती है। अभिप्राय यह हुआ कि समाजशास्त्री दृष्टिकोण एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जिसके माध्यम से हम विभिन्न वस्तुओ का अध्ययन कर सकते है। इसी कारण धर्म के समाजशास्त्र, कला के समाजशास्त्र, सगीत के समाजशास्त्र आदि का विशिष्ट विषयो के रूप मे अध्ययन किया जाता है।

समाजशास्त्र का मूल्य
(Value of Sociology)

समाजशास्त्र के मूल्य अथवा महत्व या उसकी उपयोगिता को विभिन्न समाजशास्त्रियो ने व्यापक दृष्टि से प्रस्तुत किया है। किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक "मानव समाज" (Human Society) के पृष्ठ 11 से 14 मे "समाजशास्त्र का मूल्य" शीर्षक से बडा सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है। अन्य समाजशास्त्रियो ने भी समाजशास्त्र के महत्व को अपने अपने ढग से विवेचन किया है। यहाँ हम विभिन्न दृष्टिकोणो को समन्वित रूप मे प्रस्तुत करेंगे—

(1) **समाजशास्त्र का साधनात्मक मूल्य**—समाजशास्त्र के साधनात्मक मूल्य की चर्चा करते हुए किंग्सले डेविड ने लिखा है कि इस दृष्टिकोण से यदि एक बार समाज के कुछ उद्देश्यो पर हम एक मत हो जाते हैं तो सामाजिक विज्ञान उन सभी साधनो को निश्चित करने मे सहायता करता है जिनसे उन उद्देश्यो को प्राप्त किया जा सके। एक जटिल समाज मे सामाजिक नीतियो का पालन केवल प्रथाओं और भावनाओं के आधार पर नही किया जा सकता। कुछ मात्रा मे अध्ययन किए जाने वाले समाज के ज्ञान की भी आवश्यकता पडती है। इसके अतिरिक्त सामाजिक नीतियाँ जितनी विस्तृत और व्यापक होगी उतने ही अधिक समाजशास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता पडेगी जो कि पूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक ज्ञान से भिन्न कोटि का होता है। उदाहरणार्थ, किसी राष्ट्र के अधिकांश नागरिक जन्म-दर मे वृद्धि करना

उचित समझते हैं तो इस लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों को केवल आर्थिक या राजनीतिक अर्थों में ही पूर्णतः निश्चित नहीं किया जा सकता। इसके साधनों का पता लगाने के लिए पारिवारिक संगठन, जनसंख्या की गतिशीलता, प्रजनन तथा, परम्परागत मूल्यों से सम्बन्धित विषय आदि पर भी विचार करना होगा। इसके लिए समाजशास्त्रीय प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता होती है।

(2) **समाजशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण मानव-समाज के बारे में दृष्टिकोण को विकसित करना**—समाजशास्त्र मानव समाज का वास्तविक विज्ञान है, यह संसार के सभी समाजों से सामान्य रूप में सम्बन्धित है। यह सभी समाजों की विशेषताओं और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करता है। इस ज्ञान का हमारे लिए भारी महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा हमारे दृष्टिकोण का विकास होता है। किसी समूह विशेष या समाज-विशेष के बारे में हमारी संकीर्णता दूर होती है और हम यह समझ पाते हैं कि प्रत्येक समाज आवश्यक रूप से एक प्राकृतिक व्यवस्था है, अतः विभिन्न समाजों में चाहे ऊपर से अन्तर दिखाई दे, लेकिन मौलिक रूप से वे सभी एक हैं। जब यह ज्ञान हमें हो जाता है तो हम संकीर्ण जातिवाद या राष्ट्रवाद से ऊपर उठ सकते हैं। विश्व शान्ति के प्रसार और एक सुव्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक जीवन को प्रोत्साहित करने में समाजशास्त्र की उपयोगिता हमें स्वीकार करनी होगी। समाज के वास्तविक अर्थ और प्रकृति को समझे बिना हम सफल व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकते, इस दृष्टि से भी समाजशास्त्र का महत्त्व देखना होगा।

(3) **समाजशास्त्र आधुनिक समाज की जटिल समस्याओं को सुलझाने में सहायक**—प्राचीन समाज और जीवन बड़ा सरल था, अतः उस समय सामाजिक समस्याओं की प्रकृति भी जटिल न थी और समाजशास्त्र जैसे किसी विज्ञान की विशेष आवश्यकता न थी। लेकिन आधुनिक समाज उत्तरोत्तर जटिल होता जा रहा है और साथ ही सामाजिक जीवन तथा उससे सम्बन्धित समस्याएँ भी बहुत जटिल बन रही हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए इनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होना नितान्त आवश्यक है। हम जानते हैं कि कोई भी समस्या किसी एक विशेष कारण से उत्पन्न न होकर प्रायः सामान्य कारणों से उत्पन्न होती है। समाजशास्त्र इन सामान्य कारणों के विषय में बताता है, अतः हमारे लिए यह सम्भव होता है कि इन समस्याओं की वास्तविक प्रकृति को समझकर उन्हें सही रूप में सुलझाने का प्रयत्न करें। समाजशास्त्र की यह भारी उपयोगिता है कि इसके द्वारा व्यक्ति को एक व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता मिलती है।

(4) **व्यक्तिगत संगठन में सहायक**—समाजशास्त्र व्यक्तिगत जीवन को संगठित करके सामाजिक संगठन के लिए एक उचित वातावरण तैयार करने की दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। व्यक्ति समाज की सबसे छोटी किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई है, क्योंकि वही सम्बन्धों का जाल फैलाता है, समाज के नियमों के अनुसार कार्य करता है अथवा समाज-विरोधी कार्यों से विभिन्न सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न

कर देता है। अतः यदि व्यक्तिगत जीवन को संगठित और व्यवस्थित न रखा जाए तो सामाजिक संगठन के लिए यह घातक बात होगी। आज सभी समाज इस तथ्य को समझने लगे हैं कि व्यक्तिगत जीवन को संगठित करने का दायित्व सम्पूर्ण समूह पर है, क्योंकि व्यक्ति और समाज परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्रीय नियमो का महत्त्व इस बात मे है कि उनके द्वारा व्यक्तिगत परिस्थितियों को सामाजिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे स्पष्ट किया जाता है, इस प्रकार समाज के भीतर ही समस्याओ का समाधान ढूंढा जाता है। समाजशास्त्र न केवल बाह्य व्यक्तित्व (वेश-भूषा, बोल-चाल, व्यवहार, पारस्परिक सम्बन्ध आदि) का अध्ययन करता है बल्कि व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले आंतरिक कारकों (मूल प्रवृत्तियों, प्रेरणाओ, उद्वेग आदि) का भी अध्ययन करता है। आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व का भली प्रकार अध्ययन करके ही व्यक्ति के जीवन को संगठित किया जा सकता है, और समाजशास्त्र इस कार्य मे अत्यधिक सहयोगी है।

(5) **समाजशास्त्रीय अध्ययन मे अन्य व्यक्तिगत लाभ**—किंग्सले डेविस के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययन मे एक बड़ा व्यक्तिगत लाभ है जो सामाजिक लाभ से बिलकुल भिन्न है। डेविड ने लिखा है शिक्षित व्यक्ति का एक लक्षण यह है कि वह उन वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है जिनको सामान्य व्यक्ति स्वीकार कर चुके होते हैं। अतः उसको अपने बारे मे और दूसरों के बारे मे अधिक अच्छा ज्ञान होता है। वह नई परिस्थितियो से अपना अभियोजन करने मे अधिक समर्थ हो जाता है। वह परम्परागत साधारण विचारो की अपेक्षा आधारभूत सिद्धान्तो के दृष्टिकोण से विचार करने योग्य हो जाता है। अतः परिणामो को सोचने मे वह दूरदर्शी बन जाता है। अन्य समाजो और वर्गों का अपने समाज से तुलनात्मक अध्ययन कर सकने के कारण उसे अपने अस्तित्व के लिए बहुत सी वस्तुएँ संगत दिखाई देने लगती है जो कदाचित् उसके ध्यान मे नही आती। इस प्रकार, समाजशास्त्रीय ज्ञान के फलस्वरूप, व्यक्ति का जीवन अधिक समृद्ध और सम्पूर्ण हो जाता है। इसी कारण उदार कलात्मक पाठ्यक्रम मे सामाजिक, मनोविज्ञान, सामाजिक मानव विज्ञान तथा समाजशास्त्र का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है।

(6) **समाजशास्त्र पारिवारिक संगठन को स्थायित्व देने मे सहायक**—समाज शास्त्र हमें सामाजिक सम्बन्धो का वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करता है तथा उन आवश्यक दशाओ के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करता है जो पारिवारिक जीवन को सुखी और स्थायी बनाने के लिए जरूरी है। समाजशास्त्र मे पारिवारिक नियमो आदर्शों और मूल्यो का अध्ययन किया जाता है समयानुसार सामाजिक मूल्यो मे आवश्यक परिवर्तन करने का अनुमति दी जाती है तथा समाजशास्त्र से हमें ज्ञान होता है कि रोमांस आदि बातें पारिवारिक जीवन से मेल नहीं खातीं, इसीलिए रोमांटिक विवाहो का अन्त रोमांटिक विवाह विच्छेद के रूप मे प्रायः होना है। पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित ऐसी ही अनेक समस्याओ के बारे मे सही और व्यावहारिक उत्तर प्रदान करके समाज शास्त्र पारिवारिक जीवन को स्वस्थ बनाने मे मदद करता है। पारिवारिक

जीवन से सम्बन्धित विभिन्न विषयों जैसे जीवन-साथी का चुनाव और उसके गुण, पति पत्नी का पारिवारिक अनुकूलन, परिवार नियोजन का महत्व, सन्तान का समुचित लालन-पालन, पारिवारिक बजट-निर्माण का ढंग आदि के बारे में समाजशास्त्र हमें वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करता है। समाजशास्त्रीय ज्ञान से हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि पारिवारिक आदर्शों में किस प्रकार के परिवर्तन उचित हैं, ये परिवर्तन व्यक्ति के विकास में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं आदि। संक्षेप में, समाजशास्त्र से हमें उन विषयों का ज्ञान होता है जिनसे पारिवारिक संगठन को स्थायित्व मिल सकता है और परिवार के विभिन्न सदस्यों की प्रस्थिति और कार्य (Status and Role) में सन्तुलन बनाए रखा जा सकता है।

(7) सामाजिक कल्याण की वृद्धि में सहायक— आधुनिक लोककल्याणकारी राज्यों में समाजशास्त्र का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि वह इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है कि सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार स्थापित किया जाए, जिससे पिछड़े और साधनहीन वर्गों को न्यूनतम जीवन स्तर बनाए रखने की सुविधाएँ मिल सकें तथा उन्हें विकास के अवसर प्राप्त हो सकें। सामाजिक ज्ञान की व्यावहारिक उपादेयता इसी बात से स्पष्ट है कि विभिन्न केन्द्रीय समाज कल्याण संस्थाओं, श्रम-कल्याण क्षेत्रों, परिवार नियोजन, ग्रामीण विकास, समाज-सुधार, दण्ड-सुधार, जन-जातीय कल्याण, प्रोबेशन तथा पैरोल आदि क्षेत्रों में समाजशास्त्रियों को प्राथमिकता दी जाती है। बीरस्टीड के अनुसार, समाजशास्त्र इतना व्यावहारिक हो चुका है कि उसे शिक्षा संस्थान के बाहर प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक युग सामाजिक नियोजन का युग है जिसकी सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि समाज शास्त्रीय ज्ञान में अधिकाधिक वृद्धि हो।

(8) समाजशास्त्र धार्मिक झगड़ों को दूर कर मानवीय एकता स्थापित करने में सहायक—समाजशास्त्र का मानवीय एकता के आधार के रूप में विशेष महत्व है। इतिहास बताता है कि धर्म, जाति-भेद आदि के नाम पर अनाचार होते रहे हैं, धर्म के नाम पर किसी ने तलवार उठाई, तो किसी ने क्रूसेड किया। इन परिस्थितियों को सुधारने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि यह विभिन्न धर्मों की वास्तविकताओं के सम्बन्ध में हमें यथार्थ ज्ञान प्रदान कराता है और सामाजिक जीवन तथा धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध एवं महत्व को बतलाता है। इसी दृष्टि से इसकी एक विशेष शाखा 'धर्म का समाजशास्त्र' (Sociology of religion) विकसित हो गई है जिसका प्रमुख कार्य धर्म के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि है ताकि धार्मिक झगड़ों को भुलाकर धार्मिक एकता का मार्ग प्रशस्त हो सके। समाजशास्त्र की वस्तुतः यह सबसे बड़ी उपयोगिता है कि इसके द्वारा संघर्षपूर्ण मानव समूहों को दूसरे के निकट लाया जा सकता है। यह हमें संकीर्णता के घेरे से निकाल कर उदार चरित्र प्रदान करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति और समाज को भारी लाभ है। हमारी निरन्तर बढ़ती जा रही जटिल सामाजिक समस्याओं का

सुलझाने मे अन्य सभी सामाजिक विज्ञानो की तुलना मे समाजशास्त्र अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है, क्योंकि यदि एकमात्र वह सामाजिक विज्ञान है जो किसी सामाजिक घटना या समस्या को सम्पूर्ण समाज की विभिन्न दशाओं की पृष्ठ भूमि मे स्पष्ट करता है। पुनश्च, किंग्सले डेविस के ये शब्द सारपूर्ण हैं कि "समाजशास्त्र के मूल्य" के प्रश्न का तात्पर्य यह नही है कि हमें सामाजिक विज्ञान की आवश्यकता है अथवा नही बल्कि प्रश्न तो यह है कि सामाजिक विज्ञान का प्रयोग यथार्थ रूप मे कैसे किया जाए ?' स्पष्टत इससे सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के लाभ है और ये लाभ ही, मार्ग में विभिन्न बाधाओं के बावजूद, समाजशास्त्र की उपयोगिता को, इसके प्रति बढ़ती हुई सहानुभूति को स्पष्ट करते हैं।[1]

आधुनिक जटिल समाज मे समाजशास्त्र की उपयोगिता निरन्तर विकासमान है। लेकिन समाजशास्त्र केवल स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही पनप सकता है (Can thrive only under freedom)। वास्तव मे, जिस सीमा तक समाजशास्त्री अपने उद्देश्यों की पूर्ति मे, अपने परिणामो को प्रकाशित करने मे और अपने निष्कर्षों को उन्मुक्त रूप से अभिव्यक्त करने मे स्वतन्त्र होगे, समाजशास्त्र का उतना ही अधिक विकास सम्भव हो सकेगा। समाजशास्त्र के विकास के लिए यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि एक राष्ट्र कहाँ तक एक उन्मुक्त और स्वतन्त्र समाज के रूप मे उपस्थित है।[2]

समाजशास्त्रीय अन्वेषण के उपागम
(Approaches of Sociological Enquiry)

शैक्षणिक दृष्टि से प्रत्येक विषय का अपना एक विशिष्ट सैद्धान्तिक एव पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण या उपागम होता है। समाजशास्त्र को लें तो यद्यपि विभिन्न विद्वानो ने समाज के बारे मे अपने विचार समय-समय पर रखे है, और सामाजिक जीवन, सामाजिक सस्थाओ तथा सामाजिक प्रतिमानों की व्याख्या की है, तथापि एक विशिष्ट परिप्रेक्ष मे सामाजिक प्रघटनाओं को समझाने का वैज्ञानिक प्रयास आगस्ट काम्टे के समय से माना जाएगा। पिछले पृष्ठो मे हम समाजशास्त्रीय अन्वेषण की वैज्ञानिक और मानवतावादी दोनो प्रवृत्तियो पर प्रकाश डाल चुके है, जिन्हें हम समाजशास्त्रीय अन्वेषण के (1) विज्ञानवादी, और (2) मानवतावादी उपागम या दृष्टिकोण की सज्ञा देते है। इन दो उपागमो के अतिरिक्त समाजशास्त्र मे अन्य और भी कई उप अभिमुखन हैं और प्रत्येक उप अभिमुखन के अन्तर्गत सामाजिक प्रघटना को एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य मे समझाने का प्रयास हुआ है। हेगडोर्न और उनके सहयोगी ने समाजशास्त्र मे तीन मुख्य अभिमुखन माने हैं—

1 सरचनात्मक अभिमुखन (Structural Orientation)
2 सामाजिक क्रिया का अभिमुखन (Social Action Orientation)
3 व्यावहारात्मक अन्तःक्रिया का अभिमुखन (Behavioural Orientation)

1. किंग्सले डेविस वही, पेज 14.
2 *Alex Inkeles* What is Sociology ?, P. 117.

संरचनात्मक अभिमुखन—इसके अन्तर्गत हम उन तत्त्वो की चर्चा करते हैं जो व्यक्ति से स्वतन्त्र हैं और उन व्यक्तियो पर एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने का दबाव डालते हैं। जैसा कि डॉ० सिंघी ने लिखा है कि "ऐसा माना जाता है कि वे व्यक्ति जो कि एक ही संरचनात्मक दबावो को अनुभव करते हैं एक विशेष प्रकार से व्यवहार करेंगे। यह भी माना जाता है कि संरचना का एक भाग दूसरे भाग को प्रभावित करता है और ये सभी भाग परस्पर जुड़े हुए रहते है। इस संरचनात्मक अभिमुखन के चार अन्य सम्बन्धित तत्त्व है। पहला तत्त्व इकोलोजिकल तत्त्व कहलाता है जिसके अन्तर्गत प्राकृतिक साधन जनसंख्या एव टैक्नोलॉजी के तत्त्वो को सम्मिलित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर वे लोग जो कि गहन जनसंख्यात्मक स्थलो मे रहते है अधिक सामुदायिक संस्थाओ के सदस्य होते है। अत इकोलोजिकल तत्त्व सामाजिक प्रक्रियाओ को प्रभावित करते हैं। दूसरा तत्त्व समाज मे परस्पर आश्रित स्थितियो की चर्चा करता है। ये स्थितियाँ व्यक्ति से स्वतन्त्र होती है। हम प्राय देखते हैं कि हालांकि व्यक्ति विशेष किसी भी सामाजिक व्यवस्था से चले जाते है फिर भी यह व्यवस्था विद्यमान रहती है। इसका स्पष्ट उदाहरण या कारण यह है कि सामाजिक व्यवस्था के लिए व्यक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। अपितु स्थितियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के तौर पर कोई भी कक्षा निरन्तर रूप से चलती रहती है उसका कारण किसी विशेष विद्यार्थी का होना नही है लेकिन विद्यार्थी की स्थिति का होना जरूरी है इस दृष्टिकोण से जब विद्यार्थी, अ, ब, स, चले भी जाते हैं तो भी अन्य विद्यार्थी आ जाते हैं और कक्षा की निरन्तरता बनी रहती है। अत विद्यार्थी की प्रस्थिति का होना आवश्यक है न कि किसी एक विशिष्ट विद्यार्थी का होना। सामाजिक संरचना को समझने के प्रति स्थिति व भूमिका जैसे शब्दो का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। तीसरा तत्त्व समूह संरचना का है। इसके अन्तर्गत संचार व्यवस्था सत्ता श्रम विभाजन, सत्ता संरचना इत्यादि तत्त्व आते हैं। चौथे तत्त्व के अन्तर्गत हम प्रतिमानो की संरचना का उल्लेख करते हैं। इस विचारधारा के अन्तर्गत समाज एव समूह नियमो, प्रतिमानो कानूनो, प्रथाओ इत्यादि से सचालित होते है और अगर समूह अथवा समाज के सदस्यगण इन प्रतिमानो का पालन न करे तो सामाजिक व्यवस्था छिन्न भिन्न अथवा विघटित हो जाएगी।"

सामाजिक क्रिया अभिमुखन—इसके अन्तर्गत व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है, व्यक्ति की विषय परक विचारधारा और उसके इरादे को समाज मे अधिक महत्त्व पूर्ण माना जाता है। व्यक्ति क्या सोचता है, उसकी क्या धारणाएँ हैं और आस्थाएँ है, उसकी क्या भावनाएँ है—इन तत्त्वो पर अधिक बल दिया जाता है। सामाजिक क्रिया अभिमुखन को प्रारम्भ मे विकसित करने का श्रेय मैक्स वेबर को है। सामाजिक जीवन को समझने समझाने की दृष्टि से व्यक्ति के विषय परक इरादो का बडा महत्त्व है। क्रिया अभिमुखन के अनुसार समस्त क्रियाएँ किसी न किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होती है। साथ ही ये क्रियाएँ किसी स्थिति मे होती है। व्यक्ति

की सभी क्रियाएँ सामाजिक प्रतिमानो द्वारा निर्धारित होती हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

व्यवहारात्मक अन्त क्रिया का अभिमुखन—इस अभिमुखन के अन्तर्गत हम बाह्य व्यवहार के उन प्रतिमानो (जिनको देखा जा सकता है) के माध्यम से सामाजिक जीवन को समझाने का प्रयास करते है। इस अभिमुखन मे व्यक्ति के इरादे और विषय परक स्थिति को महत्त्व नही दिया जाता। इस अभिमुखन के प्रतिपादकों का कहना है कि व्यक्ति के इरादो को समझने का कोई सही मापदण्ड नही होता। होमन्स ने सामाजिक विनिमय के सिद्धान्त द्वारा व्यवहारात्मक अभिमुखन को समझाने का प्रयास किया है जिसके अनुसार व्यक्ति तब तक परस्पर अन्त क्रिया करते रहते है जब तक कि दोनो पक्षो को परस्पर लाभ होता रहता है।

पिछले कुछ वर्षो से एथनोमैथोडोलोजी अभिमुखन (Ethnomethodology Orientation) ने, जिसके प्रमुख प्रवर्तक गारिफकल है, सामाजिक जीवन को समझने मे उल्लेखनीय भूमिका अदा की है। इस अभिमुखन के अन्तर्गत मुख्यत तीन पहलुओ का अध्ययन किया जाता है—(1) दिन प्रतिदिन का जीवन (2) भाषा के सामाजिक पक्ष का विश्लेषण, एव (3) सामाजिक प्रतिमानो का व्यक्ति वास्तविक जीवन मे जिस तरह उपयोग करते हैं उसका विश्लेषण। इस अभिमुखन का आग्रह है कि सामाजिक सम्बन्धो तथा सामाजिक जीवन के आधारभूत आयामो को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापो को समझें। हम इस बात को महत्त्व दें कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानो का वास्तविक जीवन मे किस तरह उपयोग करता है।

एक अन्य उपागम "रेडीकल सोशियोलॉजी" (Radical Sociology) है जिसका प्रादुर्भाव 1967 के पश्चात् समाजशास्त्र मे एक विशिष्ट शाखा के रूप मे हुआ है। यह उपागम समाज के उन वर्गों के अध्ययन पर बल देता है जो अब तक शोषित और उपेक्षित रहे है। यह उपागम एक नवीन समाजशास्त्र का निर्माण करना चाहता है जिसके माध्यम से समाजशास्त्रीय ज्ञान का उपयोग समाज के नवनिर्माण मे किया जा सके।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय अन्वेषण के विभिन्न उपागम हैं और प्रत्येक उपागम एक विशिष्ट सैद्धान्तिक एव पद्धतिशास्त्रीय आधार को लेकर सामाजिक यथार्थ को समझाने का प्रयास करता है।

2 प्रस्थिति और भूमिका

(Status and Role)

समाज में प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। विषय के गम्भीर प्रतिपादन से पूर्व, सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रस्थिति सामाजिक पद है जिसे धारण करने वाले को शक्ति और सम्मान की एक निश्चित मात्रा प्राप्त रहती है। सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी समय-विशेष पर व्यक्ति का जो दर्जा होता है, उसके अनुसार हम उसकी प्रस्थिति को आंकते हैं। कुछ व्यक्ति समाज में उच्च पदों पर आसीन होते हैं तो कुछ व्यक्तियों को अपेक्षाकृत निम्न स्थिति प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक स्थिति धारण करता है। उदाहरणार्थ परिवार में किसी व्यक्ति को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो सकते हैं तो किसी राजनीतिक दल या कार्यालय में उसकी स्थिति दूसरों के अधीन हो सकती है। सामाजिक प्रस्थिति के साथ कोई न कोई भूमिका (अर्थात् कार्य) जुड़ी रहती है। भूमिका के महत्त्व के अनुपात से ही व्यक्ति की प्रस्थिति कम या अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। इस प्रकार समाज में प्रस्थिति और भूमिका का चोली-दामन का साथ है। भूमिका अथवा कार्य को लिन्टन ने "सामाजिक प्रस्थिति के सक्रिय भाग" की संज्ञा दी है। प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह हर परिस्थिति में अपनी सामाजिक प्रस्थिति के अनुरूप एक विशेष भूमिका का निर्वाह करेगा। इस स्थिति अथवा दशा को हम "प्रस्थिति और भूमिका का सन्तुलन" कहते हैं, और यह सन्तुलन ही सामाजिक संगठन का वास्तविक आधार है।

प्रस्थिति और भूमिका के सन्दर्भ में प्रस्तुत अध्याय में हमारे अध्ययन की रूपरेखा को हम निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित करना उपयुक्त समझेंगे—

(1) प्रस्थिति एवं भूमिका का अर्थ और परिभाषा
(2) प्रस्थिति और भूमिका के आवश्यक तत्त्व

(3) सामाजिक प्रस्थितियों का वर्गीकरण
    (क) प्रदत्त प्रस्थिति
    (ख) अर्जित प्रस्थिति
(4) प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति मे अन्तर एव सम्बन्ध
(5) व्यक्ति और उसकी प्रस्थितियाँ
(6) कुछ प्रस्थिति-सम्बन्ध
(7) प्रस्थिति सघर्ष और विपर्यय
(8) प्रस्थिति के प्रतीक
(9) भूमिका की धारणा
(10) भूमिका की विशेषताएँ
(11) प्रस्थिति और भूमिका का महत्त्व ।

प्रस्थिति और भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Status & Role)

किसी व्यक्ति की प्रस्थिति का अभिप्राय उस पद या स्थिति (Position) से है जो वह अपने किसी प्राणिशास्त्रीय व्यक्तिगत गुण अथवा सामाजिक-सांस्कृतिक नियम के आधार पर प्राप्त करता है, जबकि भूमिका से अभिप्राय वह कार्य है जिसे उस व्यक्ति को उस पद पर होने के कारण निभाना पडता है । इस प्रकार समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई प्रस्थिति अवश्य प्राप्त होती है और तदनुसार उसे अपनी भूमिका निभानी पडती है ।

समाजशास्त्रियो ने प्रस्थिति और भूमिका को विभिन्न रूपो मे परिभाषित किया है—

लिन्टन के अनुसार, "किसी व्यवस्था-विशेष मे एव किसी-समय-विशेष मे एक व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वही उस व्यवस्था के सन्दर्भ मे उस व्यक्ति की प्रस्थिति होती है ।··· ··· अपनी प्रस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पडता है, उसी को भूमिका (अथवा कार्य) कहते हैं ।"

इलियट एव मेरिल ने लिखा है कि "प्रस्थिति व्यक्ति की वह स्थिति (Position) है जिसे व्यक्ति किसी समूह मे अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग,व्यवसाय, विवाह अथवा प्रयत्नो आदि के कारण प्राप्त करता है । भूमिका वह कार्य है जिसे व्यक्ति प्रत्येक प्रस्थिति के फलस्वरूप निभाता है ।"[1]

बीरस्टीड के अनुसार, "प्रस्थिति समाज या किसी समूह मे एक स्थिति मात्र है । हर समाज और हर समूह मे ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ होती हैं और हर व्यक्ति ऐसी बहुत-सी स्थितियो मे रहता है—वास्तव मे जितने समूहो से उनका सम्बन्ध है

1 *Elliot and Merrill* Social Disorganisation, Page 9

इतनी स्थितियाँ उसके साथ हैं। समूह की किस्म के साथ उसकी प्रस्थिति बदल जाएगी, उदाहरण के लिए—एक संगठित समूह मे उसकी प्रस्थिति एक तरह की होगी और दूसरे मे दूसरी तरह की।"[1]

स्थिति-संकुल तथा स्थिति-समूह
(Station and Stratum)

प्रस्थिति के सन्दर्भ मे "स्थिति-संकुल" और "स्थिति-समूह" शब्दावली को समझ लेना आवश्यक है। किंग्सले डेविस ने इन शब्दो का अच्छा स्पष्टीकरण दिया है।[2] हम कह चुके हैं कि समाज में व्यक्ति केवल एक प्रस्थिति प्राप्त नहीं करता वरन् एक ही समय मे अथवा विभिन्न अवसरों पर अनेक स्थितियाँ प्राप्त करता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह अपनी योग्यता तथा कुशलता के अनुसार विभिन्न स्थितियो मे संगति बनाए रखेगा। डेविस ने इन विभिन्न स्थितियो की समग्रता को "स्थिति-संकुल" (Station) नाम से सम्बोधित किया है। डेविस ही के अनुसार "स्थिति-संकुल का तात्पर्य अनेक स्थितियों तथा आफिसो के गुच्छे (Cluster) से है जो किसी व्यक्ति के अधिकार मे होते हैं तथा जिनको सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होती है।"

किसी समाज में बहुत से व्यक्ति, जो लगभग एक ही प्रकार के स्थिति-संकुल से सम्बन्धित होते हैं, उनके लिए डेविस ने "स्थिति-समूह" (Stratum) शब्द का प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों मे, स्थिति-समूह का अर्थ व्यक्तियों के उस समूह से है जो समाज मे लगभग समान पदों को प्राप्त किए होते हैं। स्थिति-समूह किसी भी समाज के ढाँचे का एक प्रमुख अंग होता है। एक ही स्थिति-संकुल के व्यक्ति एक स्थिति-समूह का निर्माण करते हैं, अतः उनके दृष्टिकोणो, स्वार्थो और उनकी समस्याओं मे बहुत कुछ समानता पाई जाती है। कभी-कभी इसी आधार पर वे दूसरे स्थिति-समूहों से अपनी रक्षा के लिए नियम भी बनाते हैं। इस सामूहिक रक्षा की भावना के कारण स्थिति-समूह मे संगठन की धारणा पाई जाती है जिसे, किंग्सले डेविस के शब्दो मे "हम स्थिति-समूह का संगठन" (Stratum solidarity) कह सकते हैं।

प्रस्थिति का प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रेणी से अन्तर

कभी-कभी प्रस्थिति को प्रतिष्ठा (Prestige), सम्मान (Esteem) तथा श्रेणी (Rank) का पर्याय मान लिया जाता है। लेकिन इस प्रकार का कोई भी विचार भ्रामक है।

प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति का एक विशेष मूल्य (Value) होता है जिसे हम प्रस्थिति की प्रतिष्ठा (Prestige of the Status) कहते हैं। इस प्रकार प्रस्थिति और प्रतिष्ठा समानार्थी नहीं होते। व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण उसकी उच्च

1. बीरस्टीड : सामाजिक व्यवस्था, वही, पेज 278.
2. किंग्सले डेविस, वही, पेज 76-77

अथवा निम्न प्रस्थिति के अनुसार ही होता है। कोई भी व्यक्ति जो समाज मे एक स्थिति को प्राप्त किए हुए है वह उससे सम्बन्धित प्रतिष्ठा भी ग्रहण करता है।

उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी हो और अनजान व्यक्ति उसे सामान्य क्लर्क समझ ले तो प्रस्थिति की कारण के अनुसार ही उसकी प्रतिष्ठा का मूल्यांकन होगा। ज्योही अनजान व्यक्ति को पता चलेगा कि उसके सामने कोई सामान्य क्लर्क नही वरन् उच्च पदाधिकारी है, तो उसकी निगाह मे उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा पहले से अधिक बढ़ जाएगी।

प्रस्थिति और सम्मान (Esteem) मे भी अन्तर है। हम देखते हैं कि एक ही पद पर आसीन अनेक व्यक्ति अपने पद का दायित्व समान रूप से नही सँभाल पाते, अतः उनका समाज में एक सा स्थान नही होता। समान स्थिति के कारण उनकी प्रतिष्ठा चाहे समान हो, लेकिन उनके कार्य के मूल्यांकन को हमे दूसरे नाम से जानना होगा और इस मूल्यांकन को समाजशास्त्रीय भाषा मे हम "सम्मान" कहते हैं। एक व्यक्ति की स्थिति उच्च प्रतिष्ठापूर्ण हो सकती है, लेकिन यदि उसका कार्य असन्तोषजनक है, बेढगा है तो उसका सम्मान कम हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति जो समाज के विभिन्न पदो पर आसीन है, प्रत्येक पद के दायित्व को नही निभा पाता तो लोग उसे मूर्ख, गधा, सनकी, पागल या क्या-क्या नही कह डालते।[1] इस प्रकार सम्मान का सम्बन्ध सदैव किसी स्थिति-सम्बन्धी प्रत्याशा से होता है।

प्रस्थिति और श्रेणी मे भी स्पष्ट अन्तर है। कुछ व्यक्तियो को उच्च पद प्राप्त होते हैं तो कुछ को निम्न। विभिन्न उच्च और निम्न स्थितियो की सम्पूर्णता को ही समाजशास्त्रीय अर्थ मे हम "श्रेणी" (Rank) कहते हैं। इन श्रेणियो द्वारा ही सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति का निश्चय होता है।

प्रस्थिति और भूमिका सम्बन्ध

हम बता चुके हैं कि समाज मे हर व्यक्ति की अपनी प्रस्थिति होती है जिसके साथ कोई-न-कोई भूमिका अर्थात् (कार्य) जुड़े रहते हैं। कार्य अथवा भूमिका के महत्त्व के अनुपात मे ही उस व्यक्ति की स्थिति को कम या अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि समाज मे प्रस्थिति और कार्य का चोली-दामन का साथ है। प्रत्येक दशा मे दोनों एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, हम एक को दूसरे की अनुपस्थिति मे स्पष्ट नही कर सकते। प्रस्थिति व्यक्ति को एक विशेष सामाजिक पद अथवा स्थिति प्रदान करती है जबकि भूमिका वह ढग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति से सम्बन्धित दायित्वो का निर्वहन करता है।

प्रस्थिति और भूमिका के आवश्यक तत्व
(Essential Elements of Status and Role)

प्रस्थिति और भूमिका का जो विवेचन हमने दिया है, उसके आधार पर इनके कुछ आवश्यक तत्वो का सकेत हम अग्रानुसार कर सकते हैं—

1. वही, पेज 78

(1) प्रथम आवश्यक तत्त्व यह है कि इनका निर्धारण सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत सांस्कृतिक कारकों द्वारा होता है। किसको कौनसी प्रस्थिति प्राप्त होगी तथा उस प्रस्थिति से सम्बन्धित कौनसे कार्य उसे करने होंगे, इसका निर्धारण संस्कृति ही करती है।

(2) हम किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका या कार्य को दूसरे व्यक्तियो की प्रस्थितियों और भूमिका के सन्दर्भ में भी समझ सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका दूसरे व्यक्तियो की प्रस्थिति और भूमिका से कुछ-न-कुछ सम्बन्धित होती है तथा उनके द्वारा प्रभावित भी होती है। उदाहरणार्थ पिता की प्रस्थिति के सन्दर्भ मे ही हम माता की प्रस्थिति और भूमिका को समझ सकते हैं। यदि पति और सन्तान नहीं हैं तो माता की प्रस्थिति और भूमिका का कोई अर्थ नहीं होगा।

(3) प्रस्थिति और भूमिका की अभिव्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति अपने ढग से करता है। हो सकता है कि एक पिता जो बड़ा कठोर और कट्टर है, पिता की भूमिका को बड़ी कठोरतापूर्वक निभाये जबकि एक सहनशील पिता, अपनी भूमिका को मधुरता और दया के साथ निभाए।

(4) व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका सामाजिक स्थिति का केवल एक भाग या अंश होती है। इसीलिए समाज मे व्यक्ति केवल एक ही प्रस्थिति और भूमिका प्राप्त नही करता बल्कि एक ही समय में अथवा विभिन्न अवसरों पर अनेक प्रस्थितियाँ और भूमिकाओं को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति पिता, प्रिंसिपल, विश्वविद्यालय का परीक्षक और किसी क्लब का प्रेसीडेंट हो सकता है और इनमे से प्रत्येक स्थिति से सम्बन्धित अलग-अलग भूमिकाएँ भी निभा सकता है।

(5) प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ-न-कुछ प्रतिष्ठा का तत्त्व जुड़ा रहता है। उदाहरणार्थ शिक्षक की प्रतिष्ठा हम ज्ञान-दाता के रूप मे और माता की प्रतिष्ठा हम जननी के रूप मे करते हैं।

(6) समाज के सभी व्यक्ति अपनी प्रत्येक प्रस्थिति से सम्बन्धी सभी भूमिकाओं को उचित प्रकार से निभा नही पाते। एक व्यक्ति शिक्षक के रूप मे कर्त्तव्यपरायण हो सकता है लेकिन पति के रूप मे एक लापरवाह पति भी बना रह सकता है। जिस रूप मे और जिस ढग से वह अपनी भूमिका निभाता है, प्राय उसी अनुपात मे वह सम्मान का पात्र होता है।

(7) उच्च से निम्न प्रस्थिति के आधार पर समाज के सदस्य विभिन्न श्रेणियो मे बँट जाते हैं। ये श्रेणियाँ सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति का निश्चय करती हैं। ये समाज मे उदग्र (Vertical) रूप में अथवा क्षैतिज (Horizontal) रूप मे स्तरीकरण (Stratification) तथा विभेदीकरण (Differentiation) की परिस्थितियाँ उत्पन्न करती हैं।[1]

(8) व्यक्ति कुछ प्रस्थितियो को परम्परागत रूप मे स्वत ही प्राप्त करता है जबकि कुछ प्रस्थितियो को वह आगे चलकर अर्जित करता जाता है।

सामाजिक प्रस्थितियों का वर्गीकरण
(Classification of Social Statuses)

लिन्टन ने लिखा है कि किसी समाज व्यवस्था में किसी व्यक्ति विशेष को एक समय विशेष में जो पद या स्थान प्राप्त होता है वही उस व्यवस्था के सन्दर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति होती है तथा अपनी इस प्रस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, वह उसकी भूमिका होती है। समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की कोई न कोई प्रस्थिति अवश्य होती है। यह सामाजिक व्यवस्था चूँकि अंशतः प्राकृतिक और अंशतः मानव निर्मित होती है, अतः स्वाभाविक है कि व्यक्ति की सभी प्रस्थितियाँ भी समान प्रकृति की नहीं हो सकतीं। व्यक्ति कुछ प्रस्थितियों को सामाजिक विरासत के रूप में स्वतः प्राप्त करता है तो कुछ प्रस्थितियों को निजी प्रयत्नों से प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न प्रस्थितियों के निर्धारण में व्यक्ति के प्राकृतिक और सामाजिक दोनों गुणों का महत्त्व होता है। इस प्रकार सभी प्रस्थितियों को हम मोटे रूप में दो प्रमुख भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(क) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status), तथा

(ख) अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)

अग्रिम पंक्तियों में सर्वप्रथम हम दोनों प्रस्थितियों के अभिप्राय और कतिपय अन्य पहलुओं का विस्तार से वर्णन करेंगे और तत्पश्चात इन दोनों के अन्तरों और सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे।

(क) प्रदत्त प्रस्थिति
(Ascribed Status)

प्रदत्त प्रस्थिति का अर्थ

जो प्रस्थिति व्यक्ति को अपने समाज से प्रथा, परम्परा आदि के अनुसार बिना किन्हीं प्रयासों के अपने आप प्राप्त हो जाती है, उसे हम प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं। पिता, माता, भाई, बहन आदि प्रदत्त प्रस्थितियों के उदाहरण हैं। इन प्रस्थितियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति की किसी योग्यता का प्रश्न नहीं उठता और न ही उसके लिए किसी विशेष शिक्षा, कार्यकुशलता या प्रयत्न की आवश्यकता होती है। किंग्सले डेविस के शब्दों में, "आरम्भ के ये पद क्योंकि जन्म से ही आरोपित या प्रदत्त (Ascribed) होते हैं, उस समय ही देख लिए जाते हैं जबकि उस बच्चे के व्यक्तित्व के बारे में समाज कुछ भी नहीं जानता।" वास्तव में, यह आवश्यक भी है कि समाज स्वतः ही व्यक्ति को कुछ ऐसी प्रस्थितियाँ प्रदान करें जो न केवल उसके व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए आवश्यक हो बल्कि समाज से अधिकाधिक अनुकूलन कर सकने की दृष्टि से भी अपरिहार्य हों।

प्रदत्त प्रस्थितियों के आधार

प्रस्थितियों का आरोपण बच्चे की आन्तरिक क्षमता के दृष्टिकोण से कितना

ही विचारयुक्त या मनमाना क्यों न हो ऐसा अधिकांशतः एक अचेतन नियम-व्यवस्था द्वारा किया जाता है।[1] समाज द्वारा प्रदान की जाने वाली अथवा आरोपित प्रस्थितियाँ परम्परागत नियमों के अनुसार स्वतः निर्धारित होती हैं और व्यक्तित्व का समुचित विकास होने से इन्हें स्थायित्व प्राप्त हो जाता है। यद्यपि इस व्यवस्था का रूप प्रत्येक समाज में विभिन्न होता है, लेकिन प्रत्येक समाज में इसके आधारों में एकरूपता पाई जाती है। किंग्सले डेविस ने प्रदत्त प्रस्थिति के चार प्रमुख आधारों का उल्लेख किया है--लिंग (Sex), आयु (Age), नातेदारी (Kinship), तथा अन्य आधार (Other bases)।

(1) लिंग अथवा यौन-भेद (Sex dichotomy)—यौनिक भिन्नता प्रस्थिति प्रदान करने का एक अत्यधिक सरल आधार है। प्रत्येक समाज में इस आधार का उपयोग केवल प्रस्थिति प्रदान करने के लिए ही नहीं बल्कि अर्जित पदों (Ascribed statuses) को विशेषाधिकार देने के लिए भी किया जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि बहुत से अर्जित पद भी एक विशेष योनि के कारण ही प्राप्त होते हैं।

लिंग-प्रस्थितियाँ प्राणिशास्त्रीय परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं और उनके बारे में हम कुछ नहीं कर सकते। लिंग अथवा यौन-भेद के आधार पर ही समाज में स्त्री तथा पुरुष की प्रस्थिति और भूमिका में महत्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। प्राय स्त्रियों को पुरुषों से निम्न समझा जाता है और उन्हें ऐसे कार्य नहीं सौंपे जाते जो उनके गर्भकाल को विपरीत रूप से प्रभावित करें, अथवा जिन कार्यों से वे एकदम थक जाएँ, अथवा जिनकी वजह से उन्हें अपने बच्चों के पालन-पोषण का अवसर न मिले। किंग्सले डेविस के शब्दों में, "स्त्रियों के व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षणों की अपेक्षा उनकी प्रजनन-क्रिया समाज में उनकी प्रस्थिति-निर्धारण का प्रमुख कारण है। नारी को ऐसा काम सौंपा गया है जो उसकी प्रजनन-क्रिया के अनुकूल है। नारीत्व की परिभाषा प्रदत्त प्रस्थिति द्वारा की जाती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं।"

यद्यपि, लिंग अथवा यौन-भेद के आधार पर स्त्रियों और पुरुषों में श्रम-विभाजन पाया जाता है, लेकिन यह श्रम-विभाजन किन्हीं भी दो संस्कृतियों में समान नहीं होता। उदाहरणार्थ, कुछ संस्कृतियों में घर बनाने का कार्य पुरुषों को सौंपा गया है तो कुछ दूसरी संस्कृतियों में यह कार्य नारियाँ करती हैं। कुछ जातियों में पुरुष जादूगरी का कार्य करते हैं, कहीं स्त्रियाँ यह कार्य करती हैं। एकमात्र सर्वव्यापी सत्य यह है कि प्रत्येक स्थान पर योनि के आधार पर विशेषीकरण पाया जाता है और प्रत्येक स्थान में स्त्रियों का विशेषीकरण सन्तान के पालन-पोषण तथा प्रजनन के क्षेत्र से सम्बन्धित है।"

वर्तमान समय में, सभ्य समाजों में यद्यपि यौन-भेद को अधिक महत्वपूर्ण न मान कर स्त्री-पुरुषों को सभी क्षेत्रों में कार्य करने के अवसर दिए जाते हैं, लेकिन

1. वही, पृष्ठ 81.

योनि के आधार पर श्रम विभाजन समाप्त नही हुआ है, और न हो सकता है। यह अत्यधिक सदेहपूर्ण है कि योनि के आधार पर प्रदत्त प्रस्थिति का भेद समाज से कभी पूर्णत. समाप्त हो सकेगा।

(2) आयु-भेद (Age Differences)—प्रदत्त प्रस्थिति का दूसरा महत्वपूर्ण आधार आयु (Age) का है। योनि की तरह यह भी एक निश्चित और पूर्णत. स्पष्ट शारीरिक तथ्य है जो जन्म से ही स्पष्ट होता है। आयु-प्रस्थितियां भी प्राणिशास्त्रीय परिस्थितियो पर निर्भर करती हैं और उनके बारे मे हम कुछ नही कर सकते, हां, ऊपरी बनावट और टीप-टाप से अपनी उम्र को छिपा जरूर सकते हैं।[1] आयु के आधार पर ही बालक, किशोर, युवा, प्रौढ, वृद्ध आदि की प्रस्थितियां प्रत्येक समाज मे अलग-अलग होती हैं।

योनि के विपरीत, आयु सदैव बदलती रहती है अत इसके आधार पर आजीवन कोई स्थायी प्रस्थिति किसी व्यक्ति को नही दी जा सकती। अपने जीवन काल मे प्रत्येक व्यक्ति आयु के आधार पर निर्मित विभिन्न श्रेणियो को प्राप्त करता है। यदि आयु के आधार पर किसी को स्थायी पद मिलता है तो वह कुछ व्यक्तियो के आयु-सम्बन्धों के दृष्टिकोण से ही है, जैसे—पिता-पुत्र का सम्बन्ध, बडे-छोटे भाई-बहनो का सम्बन्ध, नए-पुराने सदस्यो का सम्बन्ध। इन सभी दशाओ मे समय की अवधि ही स्थायी रहती है, स्वय आयु नही।

आयु के आधार पर प्रस्थितियां थोडी सी होती हैं। ये प्रस्थितियां प्रत्येक सस्कृति मे तो स्थायी होती हैं लेकिन किसी व्यक्ति के लिए स्थायी नही होती, और यदि व्यक्ति जीवित रहता है तो उसे इन प्रस्थितियो से होकर ही आगे बढना पडता है। आयु के यद्यपि कोई निश्चित स्तर नही बनाए जाते, तो भी साधारणत रूप से, डेविस के अनुसार, इनको पांच भागो मे विभाजित किया जा सकता है—शिशुकाल (Infancy) बाल्यकाल (Childhood), युवावस्था (Puberty), प्रौढावस्था (Maturity) तथा वृद्धावस्था (Old age)। इन सभी आयु-समूहो मे व्यक्ति को विभिन्न प्रस्थितियां और अवसर प्राप्त होते है, साधारणत आयु बढने के साथ-साथ प्रस्थिति का महत्व भी बढता जाता है, लेकिन आयु-समूह का महत्व ग्रामीण-समाजो मे जितना अधिक है, उतना नगरीय समाजो मे नही। यह सर्वविदित है कि चीन और जापान की प्राचीन सस्कृति मे व्यक्ति की आयु का बहुत अधिक महत्व था, जबकि पाश्चात्य सस्कृति में आयु का अपेक्षाकृत बहुत कम महत्त्व है।

वर्तमान समाज के अनेक व्यावसायिक सगठनो मे उच्च वेतन तथा उत्तरदायित्व बहुत कुछ सुदृढ आयु पर आधारित होता है। पर साथ ही, पदो का निर्धारण सामान्य आयु मे सम्बन्धित पदो की तरह पूर्णतया आयु पर ही निर्भर नही होता, क्योंकि प्रत्येक श्रेणी के लिए व्यक्ति के प्रयत्न महत्वपूर्ण होते हैं। एक स्वेच्छाचारी

1. बीरस्टीड सामाजिक व्यवस्था (The Social Order), p. 281.

व्यापारिक संस्था में व्यक्ति की पदोन्नति उसकी वरिष्ठता (Seniority) के आधार पर होती है, लेकिन औसत बुद्धि से बहुत नीचे के व्यक्ति की कोई पदोन्नति नहीं हो सकती। पुनश्च, प्रौढ़ व्यक्ति को दिए गए पदों में आवश्यक रूप से अनुभव का तत्त्व सम्मिलित हो जाता है जो जन्म के समय प्रदत्त प्रस्थिति में नहीं हो सकता।

आयु-प्रस्थिति पर यौन-प्रस्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है क्योंकि सभी संस्कृतियों में एक ही आयु के पुरुषों और स्त्रियों के साथ प्रायः भिन्न प्रकार के व्यवहार किए जाते हैं। आयु-प्रस्थिति नातेदारी से सम्बन्धित प्रस्थितियों द्वारा भी प्रभावित होती हैं। विभिन्न आयु-प्रस्थितियों का सम्बन्ध विभिन्न रीतियों से होता है। जिन व्यक्तियों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता, वे आयु-प्रस्थिति द्वारा ही प्रायः एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं।

(3) नातेदारी (Kinship)—नातेदारी व्यवस्था के आधार पर भी व्यक्ति की प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण होता है। उदाहरणार्थ,बचपन से ही माता-पिता की सामाजिक प्रस्थिति के अनुरूप प्रस्थिति बच्चे को प्राप्त हो जाती है। राजा का बेटा राजकुमार कहलाता है जबकि रंक का बेटा फकीर। इसी प्रकार जाति व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का जन्म जिस प्रकार होता है, उसी के अनुरूप जाति व्यवस्था में उसकी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। दूसरी ओर वर्ग-व्यवस्था द्वारा संगठित समाज में जहाँ नातेदारी का महत्त्व कम होता है व्यक्ति अपने वैयक्तिक गुणों, अपनी शिक्षा और सफलताओं के आधार पर अपने माता पिता से भी उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर सकता है। किंग्सले डेविस ने लिखा है कि *"माता-पिता की योग्यताओं और शिशु की योग्यताओं में कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। प्रतिभाशाली माता-पिता की सन्तानें मूर्ख भी हो सकती हैं तथा इसका उलटा भी हो सकता" है। अतः प्राणिशास्त्रीय आधार पर नातेदारी के अनुसार व्यक्ति की प्रदत्त प्रस्थितियों को उचित रूप से नहीं समझा जा सकता। इनकी व्याख्या अवश्य ही समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए।"*

नातेदारी के कारण व्यक्ति को समाज में ही नहीं वरन् परिवार में भी कुछ विशेष परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं, जैसे एक पुत्र के रूप में व्यक्ति किसी का भाई या भतीजा या प्रपौत्र, चाचा तथा इसी प्रकार की कोई भी प्रस्थिति ग्रहण कर सकता है। समाज में इन नातेदारियों के साथ कुछ विशेष प्रकार के अधिकार और कर्त्तव्य जुड़े रहते हैं जिनसे एक ओर तो व्यक्ति की प्रस्थिति का पता चलता है और दूसरी ओर समाज में उसे एक विशेष स्थान मिलता है।

(4) अन्य आधार (Other Bases)—प्रदत्त प्रस्थिति सम्बन्धी आधारों में योनि, आयु एवं नातेदारी ही यथेष्ट नहीं हैं, कुछ और भी आधार प्रभावी होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रजातीय लक्षणों के आधार पर शिशु को समाज में एक प्रस्थिति मिल सकती है और इस प्रकार समाज में प्रजाति से सम्बद्ध जातियों की व्यवस्था का

जन्म होता है। एक नीग्रो प्रजाति की सन्तान को जन्म से ही निम्न स्थिति प्राप्त होती है, चाहे उसका शारीरिक रंग गोरा ही क्यों न हो। दूसरा आधार 'अवैधता' है। यदि बच्चे का जन्म अवैध है तो उसे दूसरे बच्चों की अपेक्षा एक भिन्न प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा समाज के लोग उसे प्राय अनैतिक और हीन दृष्टि से देखते हैं। कुछ समाजों मे जुड़वाँ बच्चो को अद्भुत प्रकार की प्रस्थिति मिलती है, जिसका परिणाम कभी-कभी उनकी मृत्यु तक के रूप मे सामने आता है। बीरस्टीड ने लिखा है कि अपने जन्म-स्थान के बारे मे प्रत्येक व्यक्ति की कोई रुचि नही होती, और फलस्वरूप उसकी क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय प्रस्थितियाँ अर्जित न होकर प्रदत्त ही होती हैं। यह प्रस्थितियाँ बाद मे बदली जा सकती हैं लेकिन उनके लिए कोई बुनियादी पसन्द नहीं होती। किसी विशेष धार्मिक समूह जैसे प्रोटेस्टेन्ट, कैथोलिक, या यहूदी के रूप मे किसी की प्रस्थिति भी मूलत प्रदत्त ही होती है।

(ख) अर्जित प्रस्थिति
(Achieved Status)

जिन प्रस्थितियों को व्यक्ति अपनी शिक्षा, ज्ञान, विशेष योग्यता, साहस व्यवसाय, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण आदि के आधार पर अपने व्यक्तिगत प्रयासों से प्राप्त करता है, उन्हे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं। हम देखते हैं कि कुछ व्यक्तियों को समाज मे प्रदत्त प्रस्थितियो की तनिक भी सुविधा न होने पर भी वे आश्चर्यजनक रूप से उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर लेते हैं जब कि अनेक व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त उच्च प्रस्थितियों के सम्मान तक को बनाए रखने मे असफल रह जाते हैं। हम देखते हैं कि साधारणतया दयालु, योग्य, चतुर और मौलिक विचार वाले व्यक्तियो को समाज मे सभी लोग अधिक महत्व देते हैं। ऐसे व्यक्ति समाज मे सदैव होते हैं जो सभी ज्ञात बाधाओं पर विजय प्राप्त करके समाज के नेता बन जाते हैं। प्रत्येक देश और प्रत्येक समाज मे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो इतिहास का निर्माण करते हैं और सम्पूर्ण संस्थात्मक व्यवस्था को इस प्रकार सूक्ष्म रूप से बदल देते हैं कि उन्हें सम्पूर्ण व्यवस्था मे एक महत्वपूर्ण स्थान मिल सके। एक व्यक्ति, जिसे निम्न जाति या प्रजाति का सदस्य होने के कारण समाज द्वारा कोई उच्च प्रस्थिति प्रदत्त नहीं होती, अपने प्रयत्नो और योग्यता के बल पर अति उच्च प्रस्थिति अर्जित कर सकता है। यह अवश्य है कि प्रदत्त प्रस्थिति के अभाव मे व्यक्ति को उच्च प्रस्थिति अर्जित करने मे प्राय उन व्यक्तियों की तुलना मे अधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं जिन्हें समाज ने पहले से ही उच्च प्रस्थिति दे रखी है।

हमे असामान्य व्यक्तियो को छोड़कर केवल संस्थागत व्यवस्था पर ही विचार करना चाहिए। हम प्रश्न कर सकते हैं कि किस सीमा तक सामाजिक व्यवस्था व्यक्तिगत सफलताओं की मान्यता को अपनी संस्थागत मर्यादा मे स्वीकार करता है? किस सीमा तक समाज व्यक्तिगत प्रतिभा और प्रयत्नो की सफलता के अनुसार प्रस्थितियो के नियमित और वैधानिक परिवर्तन को स्वीकार करता है? किसले

डेविस ने लिखा है कि यदि सामाजिक व्यवस्था अपने सदस्यो को प्रोत्साहन देती है तो वह न केवल असामान्य व्यक्तियो की क्षमताओ का उपयोग सामान्य सामाजिक लक्ष्यो की पूर्ति के लिए करेगी बल्कि ऐसे व्यक्तियो से भी लाभ उठाएगी जिनमे बाधाओ से लडने की प्रतिभा तो नही होती पर जिन्हे प्रोत्साहन दिया जाय तो वे अपनी योग्यताओ को समाज के कल्याण मे लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, समाज प्रस्थितियों मे नियमित परिवर्तन करके उच्च प्रस्थितियो अथवा पदो पर उन अयोग्य व्यक्तियो को बैठने से रोक सकता है जो अनुत्तरदायी व्यक्तियो के हाथ का खिलौना मात्र बन जाते हैं। यह बताना कठिन है कि कुछ समाज अर्जित प्रस्थितियो को संस्थात्मक क्यो बनाते हैं और कुछ ऐसा क्यो नही कर पाते।

डेविस ने लिखा है कि आधुनिक समाजो मे व्यापार की प्रवृत्ति, श्रम-विभाजन, नागरिक जीवन और तीव्र सामाजिक परिवर्तन अर्जित प्रस्थिति या पद के बढते हुए महत्व से सम्बन्धित है। व्यापार मे व्यक्ति आर्थिक क्षेत्र मे आत्म-निर्भर बनता है और "आत्म' (Self) की भावना का विकास कर सकता है। विकसित श्रम-विभाजन उस व्यक्ति को अपनी योग्यता का लाभ उठाने का अवसर देता है जो अपने कार्य मे विशेष रूप से दक्ष है। इस प्रकार वह व्यक्ति उच्च प्रस्थिति की आशा कर सकता है। एक नगर (City) विभिन्न प्रकार के साहसियो का सहारा लेकर व्यक्ति को अपने प्रयत्नों के अनुसार प्रस्थिति अर्जित करने का अवसर देता है। तीव्र सामाजिक परिवर्तन निरन्तर नवीन प्रस्थिति प्रदान करता है।

आधुनिक धन-प्रधान समाजो मे धन या सम्पत्ति का भी व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने मे महत्वपूर्ण योग है। गुणो से हीन होने पर भी केवल धन के आधार पर उच्च प्रस्थिति पर विराजमान अनेक व्यक्तियो को समाज मे हम देख सकते हैं। कार्लमार्क्स ने इस दशा की ओर संकेत करते हुए कहा था कि सम्पत्ति ने सम्पूर्ण समाज को दो प्रमुख प्रस्थिति वर्गों मे बाँट दिया है और वे हैं—सम्पत्ति के मालिक तथा सम्पत्ति विहीन वर्ग। हम इन्हीं दो वर्गों को पूंजीपति और श्रमिक वर्ग कहते हैं। प्रथम वर्ग की प्रस्थिति निश्चय ही द्वितीय वर्ग की प्रस्थिति से ऊँची होती है। उल्लेखनीय है कि कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जिनमे व्यक्ति समाज मे उच्च प्रस्थिति तब प्राप्त करता है जब वह अपनी सम्पत्ति का अधिकाधिक त्याग करता है अथवा अपनी सम्पत्ति दूसरो को दे देता है।

वैवाहिक और पैतृक प्रस्थितियाँ अर्जित होती हैं, क्योंकि हर व्यक्ति किसी का पति या पत्नी या माता पिता नहीं बन पाता। इसी तरह शैक्षणिक प्रस्थिति भी है। कॉलिज स्नातक की प्रस्थिति अर्जित की जाती है। व्यावसायिक प्रस्थिति भी अर्जित ही होती है, क्योंकि प्रदत्त प्रस्थिति द्वारा कोई भी व्यक्ति मिस्त्री, ठेकेदार, प्रोफेसर या गणक नही बनता। राजनीतिक दल प्रस्थिति भी हमारे समाज मे अर्जित प्रस्थिति का एक अन्य उदाहरण है। कोई भी व्यक्ति कांग्रेस दल या जनसंघ या साम्यवादी प्रस्थिति को अर्जित करता है। बीरस्टीड ने लिखा है कि "वस्तु-स्थिति

यह है कि ज्यादातर सघ (अर्थात् संगठित समूह) ऐच्छिक हैं और फलस्वरूप इन सघो की सदस्यता से उत्पन्न प्रस्थितियां अर्जित प्रस्थितियां हैं ।"

उल्लेखनीय है कि कुछ प्रस्थितियो की प्रकृति स्वय ऐसी होती हैं कि समाज उन्हे किसी व्यक्ति को स्वय नही दे सकता वरन् उन्हे तो अर्जित ही किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपने आप किसी व्यक्ति को महान् सगीतज्ञ या गणित शास्त्री या अभिनेता या लेखक नही बना सकती । इन प्रस्थितियो को तो व्यक्ति निरन्तर प्रयत्न और व्यक्तिगत रुचि तथा योग्यता द्वारा ही अर्जित करता है ।

यह भी रोचक बात है कि कुछ समाजो की अर्जित प्रस्थितियां दूसरे समाजो मे प्रदत्त होती हैं । उदाहरण के लिए—मध्यकालीन समाज मे धार्मिक प्रस्थिति, वर्ग प्रस्थिति और प्राय व्यावसायिक प्रस्थिति प्रदत्त थी, वे अर्जित नही की जा सकती थी और न मौलिक आरोपण को बदला ही जा सकता था । कुछ समाजो मे सभी सदस्यो की व्यावसायिक प्रस्थितियां आयु, लिंग और दशा की भूमिकाएँ अथवा कार्य होती हैं, और इन समाजो मे पुत्रो से आशा की जाती है कि वे अपने पित्रो के पद-चिह्नों पर चलें । कठोर वर्गात्मक ढांचे वाले और कम सामाजिक गतिशीलता वाले समाजो मे वर्ग-प्रस्थिति प्रदत्त होती है और प्राय अर्जित नही बन सकती ।

अन्त मे, अर्जित प्रस्थिति कभी भी पूर्णत स्वतन्त्र नही होती वरन् इसे विभिन्न सामाजिक मूल्यो और व्यवहार-नियमो को ध्यान मे रखते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, समाज व्यक्ति से अपेक्षा करता है कि वह अपनी योग्यता और क्षमता का उपयोग उन्ही कार्यों मे करेगा जिनसे सामान्य कल्याण मे वृद्धि होती हो अथवा समाज के हितो को कोई ठेस न पहुँचती हो । सामाजिक व्यवस्था उन व्यक्तियो को भी उच्च प्रस्थिति पर जाने से रोकती है जो प्रतिभाशाली या बुद्धिमान होते हुए भी अनुत्तरदायी और असावधान व्यक्तियो के हाथ का खिलौना मात्र बन जाते हैं । पुनश्च, प्रत्येक समाज मे अर्जित प्रस्थिति के आधार समान नही होते, वरन् इनका निर्धारण एक विशेष सास्कृतिक व्यवस्था के अनुसार होता है । उदाहरणार्थ, कुछ आदिम समाजो मे उच्च प्रस्थिति का आधार युद्ध और भयानक पशुओ का शिकार करना, गहरे समुद्र मे मछली पकडना आदि है । चेयनी लोग (Cheyenne) शत्रु पर तीन बार आघात करते थे, अर्थात् यदि किसी शत्रु के शरीर को तीन व्यक्तियो ने क्रमश स्पर्श किया तो उन तीनो को क्रमानुसार सम्मान मिलेगा ।[1]

प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति मे अन्तर और सम्बन्ध
(Distinction Between Ascribed and Achieved Status and Their Relation)

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति—दोनों का व्यक्ति के जीवन मे समान महत्त्व है

1. किग्सले डेविस : वही, पेज 95

तथापि इनकी प्रकृति मे और सामाजिक जीवन मे इनके योगदान मे अन्तर होता है। साथ ही, प्रकृति की भिन्नता के बावजूद, दोनो एक दूसरे की पूरक हैं। हम पहले दोनो मे अन्तरो को लेंगे और तब दोनो मे सम्बन्ध को।

प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति मे अन्तर

(1) प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को समाज से स्वतः ही प्राप्त हो जाती है जब कि अर्जित प्रस्थिति उसे अपने व्यक्तिगत प्रयासो के आधार पर प्राप्त होती है।

(2) प्रदत्त प्रस्थिति का मुख्य स्रोत समाज की प्रथा, परम्परा आदि हैं जब कि अर्जित प्रस्थिति का प्रमुख स्रोत व्यक्ति स्वय होता है, क्योकि वह स्वय के प्रयासो के आधार पर ही उसे प्राप्त करता है।

(3) प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण मे व्यक्ति की आनुवंशिकता, माता-पिता की स्थिति, लिंग, आयु, नातेदारी-सम्बन्धो आदि का विशेष ध्यान रखा जाता है, जब कि अर्जित प्रस्थिति शिक्षा, सम्पत्ति, योग्यता, विशेष कुशलता, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण, आविष्कार की योग्यता आदि पर निर्भर करती है। यह माता-पिता और वंश-परम्परा से बिलकुल भिन्न हो सकती है।

(4) प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षाकृत स्थिर होती है जिसे सामान्यतः बदला नही जा सकता, पर अर्जित प्रस्थिति को प्रयासों द्वारा बदला जा सकता है और प्राय व्यक्ति के जीवनकाल मे ही इसमे अनेक बार परिवर्तन आते हैं।

(5) प्रदत्त प्रस्थिति अनिश्चित होती है क्योकि यह प्रथा, परम्परा पर आधारित होती है जो कि स्वय ही अनिश्चित होते हैं। पिता का अधिकार कहाँ प्रारम्भ और कहाँ समाप्त होता है, इसे कोई भी निश्चित रूप से नही बता सकता। पर अर्जित प्रस्थिति इस अर्थ मे अधिक निश्चित होती है।

(6) प्रदत्त प्रस्थिति मुख्यतः समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था और सामाजिक मूल्यो के अनुसार निर्धारित होने के कारण बहुत कम गतिशील होती है। इसके विपरीत अर्जित प्रस्थिति समाज की आर्थिक व्यवस्था से अधिक सम्बद्ध होने के कारण अधिक गतिशील होती है। वर्तमान युग मे आर्थिक अवसरो मे वृद्धि के साथ-साथ अर्जित प्रस्थिति का महत्व भी बढता जा रहा है।

(7) प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति मे फिचर ने एक महत्त्वपूर्ण भिन्नता का उल्लेख किया है। फिचर के अनुसार, प्रदत्त प्रस्थिति और उससे सम्बद्ध भूमिका मे सामन्जस्य होना सदैव आवश्यक नही होता जबकि अर्जित प्रस्थिति और इससे सम्बद्ध भूमिका के बीच अधिकांश दशाओ मे सामन्जस्य देखने को मिलता है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को कुछ सांस्कृतिक नियमो के अनुसार स्वत ही प्राप्त हो जाती है जबकि व्यक्ति की रुचियां, मनोवृत्तियां, योग्यता आदि इसके विपरीत हो सकती हैं।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में सम्बन्ध

सैद्धान्तिक रूप से एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होने पर भी कार्यात्मक रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति एक दूसरे की पूरक हैं, अत. समाज के लिए दोनो ही आवश्यक हैं।[1] प्रदत्त प्रस्थितियों का महत्त्व स्पष्ट है कि (1) इनका जीवन मे पहला स्थान है, क्योकि एक तो इनकी सहायता से सांस्कृतिक विरासत स्थाई रहती है और दूसरे व्यक्ति को भावी विकास के उचित अवसर भी प्राप्त होते हैं। (2) ये उन उद्देश्यो को स्पष्ट करती हैं जिनके अनुसार व्यक्ति को प्रशिक्षण मिलना चाहिए। जब हम बच्चे की योनि, आयु, आयु-सम्बन्ध, वर्ग, धर्म, क्षेत्र, समुदाय तथा उसके माता-पिता का राष्ट्र आदि जान लेते हैं तो हम भली प्रकार यह समझ जाते हैं कि उसका समाजीकरण और उसका जीवन किस प्रकार का होगा।[2] (3) इनसे व्यक्ति को सुरक्षा की भावना मिलती है, जिसे अर्जित प्रस्थिति कभी नही दे सकती। जीवन के सभी कार्यों मे प्रतिस्पर्द्धा से काम नही चल सकता। मजदूर, व्यवसायी, पदाधिकारी सभी व्यक्ति और समूह प्राय इस बात का प्रयत्न करते है कि उनके वर्ग मे कम से कम प्रतियोगिता हो। व्यापारी कीमत को ऊँची रखने का समझौता करते हैं तो उत्पादक विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से अपने को बचाने के लिए आयात-करो का पक्ष लेते हैं। यह तथ्य व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है कि समाज साधारण बात के लिए विवाह-विच्छेद को, धार्मिक विश्वासो मे निरन्तर परिवर्तन को, सभी बातो मे सदैव अवसरवादिता को अत्यधिक हेय दृष्टि से देखता है।[3]

दूसरी ओर, समाज मे अर्जित प्रस्थिति का भी कम महत्त्व नही है। यह भी अनिवार्य है क्योकि—(1) अर्जित प्रस्थितियो से न केवल उचित व्यक्ति उचित प्रस्थिति या पद पर पहुँच जाता है, बल्कि व्यक्ति को प्रयत्न करने की प्रेरणा भी मिलती है। (2) अर्जित प्रस्थितियो में प्रतिस्पर्द्धा की भावना होती है और व्यक्ति कठोर प्रयत्नो तथा कर्त्तव्यपरायणता से ही सफलता प्राप्त करता है। फलस्वरूप समाज मे एक व्यवस्था बनी रहती है और व्यक्तियो में अपने कार्यों के प्रति दायित्व और जागरूकता की भावना व्याप्त रहती है। वास्तव मे अर्जित प्रस्थितियों की व्यवस्था सम्पूर्ण समाज में जीवन-शक्ति का सचार किए रहती है।

स्पष्ट है कि प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियाँ समाज के लिए अनिवार्य हैं। प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की सामाजिक स्थिति की रूपरेखा द्वारा निर्मित होती है और अर्जित प्रस्थिति उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती है। डेविस के ही शब्दो मे "समाज की सामान्य स्थिति यह होनी चाहिए कि प्रस्थितियों की स्थूल रूपरेखा प्रदत्त प्रस्थितियो (अथवा आरोपित पदो) द्वारा निश्चित हो, जबकि कुछ विशेष प्रस्थितियाँ अर्जित

1. किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 97
2. वही, पृष्ठ 97.
3. वही, पेज 97.

करने के लिए व्यक्ति को स्वतन्त्र छोड दिया जाना चाहिए।"[1] हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रदत्त प्रस्थिति के लिए भी कुछ न कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, *उदाहरणार्थ—यदि कोई राजा परम्परागत या स्वर्गीय अधिकार से प्रजा पर शासन करता है तो भी उसे राजा के अनुरूप व्यवहार तो जानना ही चाहिए।* इसी प्रकार अर्जित प्रस्थिति के लिए भी कुछ विशेष योग्यताओं और आवश्यकताओं की पूर्ति जरूरी है। भारत के राष्ट्रपति का पद एक अर्जित पद या प्रस्थिति है, लेकिन संविधान ने इस प्रस्थिति या पद के लिए कुछ विशेष योग्यताओ और आवश्यकताओं की सीमाऐं बाँध दी है, जैसे व्यक्ति प्राथमिक रूप से भारत का नागरिक हो, कम से कम 35 वर्ष की आयु का हो, किसी लाभ के पद पर कार्य न कर रहा हो, आदि। प्रथागत सीमाएँ भी उतनी ही प्रभावपूर्ण होती हैं जितनी कि संविधान में लिखित सीमाऐं।[2] उदाहरणार्थ, कोई भी स्त्री, नीग्रो, या यहूदी अभी तक अमेरिका का प्रेसीडेन्ट नही हुआ है। यह सम्भव है कि इनमें से कोई व्यक्ति किसी दिन अमेरिका का प्रेसीडेन्ट बन बैठे, लेकिन इसके लिए उसे बहुत-सी बाधाओं पर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी।

व्यक्ति और उसकी प्रस्थितियाँ
(Individual and his Statuses)

रॉबर्ट बीरस्टीड के विख्यात ग्रन्थ "सामाजिक व्यवस्था" (The Social Order) से उद्धृत इस शीर्षक का विवरण हमारे समक्ष प्रस्थितियों को और भी भली प्रकार स्पष्ट कर सकेगा। बीरस्टीड ने लिखा है कि हमारे जैसे जटिल समाज मे प्रत्येक व्यक्ति एक ही दिन के अन्दर विभिन्न प्रस्थितियो को धारण करता है और अपने जीवनकाल मे असख्य प्रस्थितियो को।[3] इसे उन्होंने एक रोचक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—

"एक औसत कॉलेज छात्र को ही ले लीजिए। वह अपने अध्यापकों और नगर-निवासियो के लिए एक विद्यार्थी हो सकता है तो रजिस्ट्रार के लिए एक अण्डरग्रेज्यूएट, नाई के लिए एक ग्राहक, बैंक-अधिकारी के लिए एक जमा करने वाला, बस-चालक के लिए एक सवारी मोटर वाले के लिए एक पैदल-यात्री, माता-पिता के लिए एक पुत्र, बहन के लिए भाई, शनिवार के दिन काम करने वाले विभागीय गोदाम के प्रबन्धक के लिए एक लिपिक, अपने फुटबाल कोच के लिए एक सैकिंड-स्ट्रिंग क्वार्टर-बैक, अपनी किसी समिति के सदस्यो के लिए एक चेयरमैन, बैण्ड के निर्देशक के लिए एक तुरही बजाने वाला, सभी विदेशियो के लिए एक अमेरिकन, सभी लड़कियों के लिए एक पुरुष, अपने डॉक्टर के लिए एक रोगी, मिनिस्टर के लिए उसके क्षेत्र का मतदाता, इत्यादि हो सकता है।"

1 वही, पेज 97.
2. वही, पेज 98.
3 बीरस्टीड : सामाजिक व्यवस्था (The Social Order), वही, पेज 283.

स्पष्ट है कि एक ही दिन के दौरान विद्यार्थी विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है, लेकिन इन से भी उसकी सभी प्रस्थितियों का परिचय नहीं होता। ये तो उसके वर्तमान समय की ही कुछ प्रस्थितियाँ हैं। यदि हम जीवन मे उसके द्वारा प्राप्त करली गई तथा प्राप्त की जाने वाली प्रस्थितियो को जोडने की कोशिश करें तो हमारा काम कभी समाप्त नही होगा। बीरस्टीड के ही शब्दो मे, "ऐसी किसी भी गणना मे एक विस्तृत सूची नही बन सकती, और यह विषमता एक अत्यन्त जटिल समाज के विशेष लक्षणो मे से एक है। समाज जितना अधिक छोटा और सादा होगा, उतनी ही कम प्रस्थितियाँ एक व्यक्ति के पास होगी।"[1] बीरस्टीड ने आगे लिखा है कि हम एक ऐसे समाज मे जन्मे हैं जिसमे ग्राहक और लिपिक, अध्यापक और विद्यार्थी और न जाने क्या-क्या पहले से ही मौजूद है। जिन प्रस्थितियो को हम ग्रहण करेंगे उन्हे हम कानून के रूप मे उत्पन्न नही करते, वरन् वे तो पहले से ही हमारे समाज के ढाँचे का एक अंग हैं। यदि हम इस बात को देखते और समझते हैं तो हमारे पास एक मौलिक और वास्तविक समाजशास्त्रीय अन्तर्दृष्टि है।

"आवश्यक प्रस्थिति" ("Key Status")

समाज मे व्यक्ति की स्थिति का निश्चय करने मे कुछ प्रस्थितियाँ औरो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं और महत्त्व की कसौटी भिन्न-भिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न होती है। इसी कारण, ई टी हिल्लर नामक समाजशास्त्री ने "आवश्यक प्रस्थिति" ("Key Status") की महत्त्वपूर्ण विचारधारा का प्रतिपादन किया है।[1] बीरस्टीड के अनुसार अमरीकी समाज मे व्यवसाय (Occupation) ही आवश्यक प्रस्थिति है। इसका औरो से अधिक महत्त्व है और यह सब मे अग्रणी है। वास्तव मे "तुम क्या करते हो ?"—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जो व्यक्ति के "सामाजिक धरातल" मे उसकी स्थिति को बहुत ही सुरक्षापूर्वक स्थिर करता है। हमारे लिए किसी व्यक्ति के बारे मे सबसे अधिक महत्त्व की बात, विशेष कर जब हम उसे पहले-पहल मिलते हैं, यह है कि वह जीविका के लिए क्या करता है अर्थात् उसका व्यवसाय क्या है। आधुनिक समाज मे व्यक्ति की व्यावसायिक स्थिति ही हमे उसके बारे मे सबसे अधिक ज्ञान दे देती है। कुछ समाजो मे वंश-सम्बन्ध प्रस्थितियाँ या धार्मिक प्रस्थितियाँ या राजनीतिक प्रस्थितियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं और इसलिए 'आवश्यक प्रस्थिति" हो सकती है। उदाहरणार्थ भारत मे किसी समय जाति-प्रस्थिति (Caste status) प्राथमिक महत्त्व की थी और वर्तमान रूस मे राजनीतिक प्रस्थिति (Political status) सर्वोच्च है।

कुछ प्रस्थिति सम्बन्ध
(Some Status Relations)

हम कह चुके हैं कि समाज मे प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियो का जाल पाया जाता है। रॉबर्ट बीरस्टीड के शब्दो मे, "समाज मे बहुत-सी प्रस्थितियाँ दूसरी

1. वही, पेज 283.

प्रस्थितियों के साथ एक प्रकार के अचल सम्बन्ध में जुड़ी हुई हैं।" हमारे समाज में साथ-साथ रहने वाली युग्म प्रस्थितियों (Paired statuses) की संख्या बहुत अधिक है, तथा उनके अपने प्रतिमान हैं। बीरस्टीड ने इन युग्मों अथवा जोड़ों (Pairs) में से कुछ को निम्नानुसार व्यक्त किया है—

माता-पिता	—	शिशु
पति	—	पत्नी
डॉक्टर	—	रोगी
वकील	—	मुवक्किल
अध्यापक	—	छात्र
भाई	—	बहन
मंत्री	—	क्षेत्रवासी
मालिक	—	प्रबन्धक
न्यायवादी	—	गवाह
विक्रय प्रबन्धक	—	सचिव
कोच	—	खिलाड़ी
जमींदार	—	किराएदार
कलाकार	—	मॉडल
बस चालक	—	सवारी
ग्राहक	—	लिपिक
फोरमैन	—	कर्मचारी
मालिक	—	वेतनभोगी
पुजारी	—	अपराधी
नर्स	—	रोगी
सामाजिक कार्यकर्त्ता	—	मुवक्किल
टैक्स कलक्टर	—	नागरिक
मेजबानिन	—	अतिथि
मीटर रीडर	—	गृह-स्वामी
मिलानकर्त्ता	—	जमाकर्त्ता
निदेशक	—	गायक
अधिकारी	—	सूचीकृत आदमी
नगर-सम्पादक	—	संवाददाता
पुलिसमैन	—	मोटरवाला
क्रेता	—	विक्रेता
कप्तान	—	नाविकगण
सेविवर्ग प्रबन्धक	—	सेवा प्रार्थी
राष्ट्रपति	—	मंत्रिमंडल सदस्य

ये युग्म यद्यपि अमेरिकी समाज के सन्दर्भ मे दिए गए हैं, तथापि इनमे से अधिकांश और न्यूनाधिक हेरफेर के साथ लगभग सभी,अन्य सभ्य समाजो मे भी लागू होते हैं ।

प्रतिमानों और प्रस्थितियो का सम्बन्ध

यदि समाज मे सभी युक्त परिस्थितियो (Paired statuses) को बतलाने का प्रयत्न किया जाय तो इस प्रकार की सूची अनेक पृष्ठो तक जा सकती है। समाजशास्त्रीय घटनाओ के महत्त्व के प्रमाण के रूप मे इतनी सूची ही पर्याप्त है। इन युक्त प्रस्थितियो से यह तथ्य प्रकट होता है कि "एक जटिल समाज मे हम दूसरे लोगो के साथ जितने अधिक सम्बन्ध रखते हैं वे व्यक्तिगत सम्बन्धो की अपेक्षा प्रस्थिति सम्बन्ध (Status relations) ही हैं (हालांकि वैसे वे दोनो ही हो सकते हैं) और यह कि ऐसे समाज मे प्रकट होने वाले प्रतिमान सामान्य प्रतिमान मात्र नही हैं बल्कि वे विशिष्ट प्रस्थितियो से जुड़े हुए प्रतिमान ही हैं। वस्तुत इन भिन्न-भिन्न प्रस्थिति सम्बन्धो मे प्रतिमान बिलकुल भिन्न होते हैं।"[1] उदाहरणार्थ, कोई भी छात्र अपने प्रोफेसर से यह नही पूछता कि उसकी आमदनी क्या है और उसमे से वह कितनी बचत कर लेता है। यह प्रतिबन्ध इतना प्रबल है कि घनिष्ठ मित्र भी प्राय इस सूचना का एक दूसरे से विनिमय नही करते। लेकिन यह प्रतिमान सभी प्रस्थितियो पर लागू नही होता। जब किसी बैंक गणक से हम ऋण की प्रार्थना करते हैं तो हमारी आय के बारे मे जानकारी प्राप्त करना उसका अधिकार और कर्त्तव्य है। इसी प्रकार टैक्स कलक्टर तथा नागरिक के मध्य होने वाले प्रस्थिति सम्बन्धो मे भी यह प्रतिबन्ध शिथिल हो जाता है और यह लगभग सर्वव्यापक प्रतिमान के लिए एक अपवाद बन जाता है। एक दूसरा उदाहरण लें कि हमारी संस्कृति मे नग्नता (*Nudity*) पर प्रबल प्रतिबन्ध है। लेकिन यह प्रतिबन्ध ऊपर दी गई सूची के प्रस्थिति सम्बन्धो मे से बहुतो पर लागू नहीं होता तथा उनसे संलग्न प्रतिमानो का कोई भग नही है। यह डाक्टर-रोगी सम्बन्ध की रोगी प्रस्थिति मे पूरी तरह शिथिल हो जाता है। एक डाक्टर उस प्रस्थिति के एक युवा स्त्री से कपड़े उतारने के लिए निवेदन कर सकता है जबकि वह रोगी की प्रस्थिति धारण करती है। पति और पत्नी तथा छोटे बच्चो की प्रस्थितियो मे भी नग्नता सम्बन्धी प्रतिबन्ध लुप्त हो जाता है। सारांश मे, इन उदाहरणो से पता चलता है कि प्रतिमान प्रस्थितियों से संलग्न होते हैं और भिन्न प्रतिमान भिन्न प्रस्थिति से संलग्न होते हैं।[2]

प्रस्थिति संघर्ष और विपर्यय
(Status Conflicts and Reversals)

रॉबर्ट बीरस्टीड ने लिखा है कि भिन्न-भिन्न प्रतिमान भिन्न-भिन्न प्रस्थितियो से संलग्न हैं, और यदि किसी काम को करने की एक प्रस्थिति में छूट है तो वही

1. बीरस्टीड : वही, पेज 286
2. वही, पेज 287

काम दूसरी किसी प्रस्थिति में निषिद्ध हो सकता है। वही एक काम किसी एक प्रस्थिति में एक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकृत हो सकता है तो किसी दूसरी में एक अपराध की भाँति निषिद्ध भी हो सकता है।[1] उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति वकील-वर्ग (Bar) का सदस्य नहीं है तो उसका कानूनी सलाह के लिए फीस लेना गैर-कानूनी है। इसी प्रकार सैनिक कर्मचारियों के लिए विशेष अवसरों पर एक गणवेश (Uniform) पहनना आवश्यक है, लेकिन किसी असैनिक व्यक्ति को सैनिक गणवेश पहनने पर गिरफ्तार किया जा सकता है।

कभी-कभी प्रस्थिति विशेषाधिकारों और कर्त्तव्यों में रोचक विपर्यय (Reversal) देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए अमेरिकी राष्ट्रपति एक संगठनात्मक पद-सोपान की सर्वोच्च कोटि पर है, लेकिन वह भी गुप्त सेवा (Secret Service) के अधिकारियों से आदेश प्राप्त करता है जो कि उसके जीवन की सुरक्षा के लिए कानूनी रूप से जिम्मेदार है। एक एडमिरल (नौसेनाध्यक्ष) नेवी के सभी अफसरों पर फौजी आदेश लागू करता है लेकिन जब वह इन्हीं में से किसी एक डाक्टर की देखरेख में रोगी की प्रस्थिति को प्राप्त कर लेता है तो उस समय लैफ्टिनेंट कमाण्डर एडमिरल उसको आदेश देता है। "इस तरह अधिकार शक्ति (Authority) का निर्धारण पूर्णतः प्रस्थिति द्वारा ही होता है और भिन्न प्रस्थितियों को धारण कर लेने पर एक ही व्यक्तियों को (The same individuals) विपरीत सम्बन्धों (Reverse relationships) में जाना पड़ सकता है।"[2]

"जब प्रस्थितियों को गलत रूप में समझा जाता है तो सामाजिक अन्तःक्रिया (Social interaction) टूट जाती है। जब वे अस्पष्ट होती हैं, तो सामाजिक अन्तःक्रिया कठिन हो जाती है। पर सौभाग्यवश, अधिकतर प्रस्थितियाँ स्पष्ट रूप से सुलझी हुई और मान्यता प्राप्त (Clearly articulated and recognized) हैं, उनसे सम्बन्ध प्रतिमानों को प्रत्येक व्यक्ति जानता है क्योंकि उसने उसी संस्कृति का उपभोग किया है जिसके कि वे एक अंश हैं। जीवन के प्रारम्भ में बच्चा माँ-बाप और पड़ोसी, चचेरे भाई और सहपाठी, अध्यापक और चौकीदार, मन्त्री और पुलिसमैन, अतिथि और पत्रिका-विक्रेता के बीच के अन्तर को सीखता है। बहुत से विषयों में मान्यता (Recognition) को चिह्नों और संकेतों द्वारा (By signs and symbols) सुगम बना दिया जाता है।"[3]

प्रस्थिति के प्रतीक

(Symbols of Status)

कुछ प्रस्थितियाँ बहुत अधिक "प्रत्यक्ष" (Visible) होती हैं, खासतौर पर वे जो आयु लिंग और स्व-वर्ग मान्यता की प्राणिशास्त्रीय श्रेणियों पर आधारित हैं।

1. वही, पेज 289.
2. *Bierstedt*: Op cit., Page 257.
3. Ibid, 259.

किन्तु अनेक प्रस्थितियाँ ऐसी भी हैं जो प्राणिशास्त्रीय अन्तरों पर निर्भर नहीं हैं, किन्तु आसानी से पहचानी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय प्रस्थितियाँ (Nationality Statuses) सामान्य तौर पर पहनावे के भेदो से और भाषा अथवा उच्चारण से समझी जा सकती हैं। प्राय क्षेत्रीय या भौमिक प्रस्थितियाँ (Regional and Territorial Statuses) भी उच्चारण अथवा मुहावरे से पहचानी जा सकती है। व्यावसायिक प्रस्थितियाँ (Occupational Statuses) भी विशेष रूप से विभिन्न प्रकार की वेशभूषा द्वारा प्राय प्रतीकात्मक होती हैं। उदाहरण के लिए, डाक्टरो और नर्सों की सफेद ड्रेस से उनके रोगी या दर्शक होने का भ्रम दूर हो जाता है। पुलिसमैन, पादरी और सैनिक को गणवेश के भेदो के कारण आसानी से अलग-अलग पहचाना जा सकता है। बहुत से विषयो मे, जिनमे कोई विशेष गणवेश या दूसरे किस्म की पौशाक या सजावट व्यावसायिक प्रस्थिति का सकेत नहीं करती, वहाँ दूसरे प्रतीक होते हैं। प्राय प्रस्थितियो के ये चिह्न भौतिक सास्कृतिक लक्षणों के विशिष्ट प्रकार होते हैं। *एक निगम-कार्यकारिणी का पुरुष-सचिव चाहे वैसी ही* वेशभूषा पहने जैसी कि उसका "बॉस" (Boss) पहनता है, लेकिन उसकी डेस्क छोटी होगी और वह एक आरामदेह जगह पर लगी होगी। वास्तव मे, प्रस्थिति प्रतीकों के रूप मे भौतिक सस्कृति के उपकरण (Items) समाज के प्रत्येक कार्यालय मे पाए जा सकते हैं। काम की शारीरिक स्थिति भी एक प्रस्थिति प्रतीक (Status symbol) होती है, जैसे भण्डारों (Stores) मे लिपिक लोग काउन्टरो के पीछे देखे जाते हैं, और ग्राहक उनके सामने। इसी तरह हम बैरो, होटल-लिपिको, नाइयो और टैक्सी-चालको को दुनिया मे किसी भी जगह पर पहचान सकते हैं।[1]

बीरस्टीड के शब्दों मे, साधारणतया ये सब प्रस्थिति प्रतीक (Status symbols) हमारे जटिल समाज मे पूर्णतया स्पष्ट होते हैं, फलस्वरूप नासमझी या असमञ्जसता से उत्पन्न गडबडियाँ अपेक्षाकृत कम हो जाती हैं। भौतिक सस्कृति के उपकरण (Material culture items) सभी समाजों में प्रस्थिति प्रतीकों का काम करते हैं, और भौतिक सस्कृति का एक घना सग्रह (A rich collection) प्रस्थिति को बहुत अच्छी तरह से पहचानने मे सहायता करता है।[2]

भूमिका की धारणा
(Concept of Role)

हम पिछले पृष्ठो मे प्रस्थिति के सन्दर्भ मे "भूमिका" की चर्चा कर चुके हैं। *समाजशास्त्रीय अर्थों[3] ने "भूमिका" प्रस्थिति का कार्य है अर्थात् यह किसी भी प्रस्थिति* का व्यवहारात्मक पहलू है। भूमिका (जिसे कभी-कभी 'सामाजिक भूमिका' Social role भी कह दिया जाता है) सामाजिक सरचना की एक आधारभूत इकाई है[3] जिसे

1 *Bierstedt* op cit, Page 260
2 Ibid, Page 260
3, *Broom and Selznick* Sociology, P. 18

व्यवस्थित रखे बिना सामाजिक संरचना अथवा सामाजिक संगठन की कल्पना भी नही की जा सकती।

भूमिका का निर्माण करने वाले तत्त्व प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं— (क) व्यक्तियों की आशाएँ (Expectations), एव (ख) इन आशाओ के अनुरूप की जाने वाली बाह्य क्रियाएँ (Overt actions)। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कुछ विशेष कार्यों को करने की आशा करता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जो विशेष परिस्थिति (Situations) मे करना उचित समझे जाते है तो कुछ कार्य सांस्कृतिक नियमो को बनाए रखने के लिए आवश्यक होते हैं और कुछ कार्यो की अपेक्षा इसलिए की जाती है कि व्यक्ति का जीवन सगठित बना रहे। यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो की इन आशाओ के अनुरूप बाह्य क्रियाएँ सम्पादित करता है तो समाजशास्त्र मे इन क्रियाओ को 'भूमिका'' की सज्ञा दी जाती है। वास्तव मे, सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था स्थिति और भूमिका के सन्तुलन पर ही निर्भर होती है। जब समाज के अधिकांश व्यक्ति प्रस्थिति की अपेक्षाओ के अनुसार भूमिका नही निभाते तो सामाजिक सगठन बिगडने लगता है और समाज मे असन्तुलन बढता चला जाता है।

परिभाषाएँ कुछ समाजशास्त्रियों के विचार

भूमिका को समाजशास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है। लिटन (Linton) ने भूमिका को प्रस्थिति से सम्बद्ध करके समझाया है। उसके शब्दो मे 'कोई भी भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।'' इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रस्थिति का दूसरा पहलू भूमिका है, प्रस्थिति को हम भूमिका से अलग नही कर सकते। लिण्टन ने अधिक स्पष्ट रूप से एक अन्य स्थल पर लिखा है ''भूमिका के अन्तर्गत हम उन सभी अभिवृत्तियो (Attitudes) सामाजिक मूल्यो (Values) और व्यवहारो (Behaviour) को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियो को समाज द्वारा प्रदान की जाती है।''[1]

डेविस (Davis) ने लिखा है कि भूमिका वह ढग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है।[2] इसका आशय है कि किसी भी मनुष्य को किसी निश्चित प्रस्थिति मे कुछ न कुछ विशिष्ट भूमिका निभानी पडती है जिसकी कि लोग उससे अपेक्षा करते हैं। डेविस का मत है कि यद्यपि किसी व्यक्ति का किसी पद या प्रस्थिति पर कार्य (भूमिका) तो निर्धारित होता है, लेकिन यह आवश्यक नही है कि वह वैसा ही कार्य करेगा भी। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति को ससद-सदस्य चुन लिया जाता है तो हम केवल यह प्रत्याशा करते हैं कि वह अपने ससदीय दायित्वो का पालन करेगा, लेकिन ससद मे जा कर वास्तव मे वह क्या करेगा, इसकी भविष्यवाणी नही की जा सकती। यदि वह अपनी प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निभाएगा तो उसे पुन चुना जा सकता है और यदि वह प्रस्थिति

1 Linton The Cultural Background of Personality, P 77
2 किंग्सले डेविस वही, पेज 75

के अनुसार भूमिका का पालन नही करता तो उसका राजनीतिक भविष्य अन्धकार मे पड़ सकता है। अभिप्राय यह हुआ कि "सामाजिक सरचना की दृष्टि से 'भूमिका' मे न्यूनता का एक ऐसा गुण समाविष्ट है, जिसकी भविष्यवाणी नही की जा सकती।'[1]

ब्रूम तथा सेजनिक (Broom and Selznick) के अनुसार, 'भूमिका की परिभाषा किसी निश्चित सामाजिक स्थिति (जैसे पिता, शिक्षक, नियोजक या रोगी) से सम्बद्ध व्यवहार के रूप मे की जा सकती है। आदर्श भूमिका (The Ideal Role) एक सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध अधिकारो और कर्तव्यो को निर्धारित कर देती है, यह व्यक्ति को बताती है कि एक पिता या शिक्षक की भूमिका के रूप मे उससे क्या आशा की जाती है, किसके प्रति उसके कर्तव्य हैं और किसी पर उसका अधिकारयुक्त दावा है। वास्तविक भूमिका व्यवहार (Actual role behaviour) पर सदैव किसी विशेष सामाजिक स्थिति (Social setting) और साथ ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है।"[2]

सार्जेण्ट (Sargent) के शब्दो मे "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान अथवा प्ररूप (Type) है जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की आशाओ या अपेक्षाओ के अनुसार एक विशेष परिस्थिति मे ठीक समझता है।"[3] अभिप्राय यह हुआ कि समूह प्रत्येक व्यक्ति से उसकी प्रस्थिति को ध्यान में रखते हुए तद्नुसार एक विशेष प्रकार के व्यवहार की आशा करता है। यह व्यवहार ऐसे होते हैं जो उस समूह की सस्कृति या परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त माने जाते हैं। इन्ही व्यवहारो को हम "भूमिका" कहते हैं तथा समूह के प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह अपनी भूमिका का समुचित निर्वाह करेगा।

इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि "सामाजिक भूमिका कुछ प्रत्याशाओं एव क्रियाओ की वह परस्पर सम्बन्धित व्यवस्था है जिसे हम सामाजिक सगठन का सबसे आन्तरिक अग कह सकते हैं।"[4] सामाजिक व्यवस्था मे प्रत्येक प्रस्थिति का अपना स्थान होता है तथा भूमिका ऐसी ही प्रस्थिति की अपेक्षाओ को कहते हैं। चूँकि व्यक्ति विभिन्न सामाजिक स्थितियो मे समय-समय पर अपने आप को पाता है, अत उसके अनेक कार्य होते हैं। दूसरे शब्दो मे एक व्यक्ति ग्राहक, पिता, पति, भाई, चाचा, मित्र आदि की भूमिकाएँ निभाता है। ये भूमिकाएँ इन प्रस्थितियो को धारण करने वाले व्यक्ति के लिए सुनिश्चित होती हैं। जब कभी समाज के अधिकतर सदस्य प्रस्थितियों की अपेक्षाओं के अनुसार भूमिकाएँ नहीं निभा पाते जो समाज की सरचना बिगडने लगती है, चारो ओर असन्तोष व्याप्त होने लगता है, सामाजिक असन्तुलन फैलने लगता है और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था विघटित हो जाती है। वस्तुत, प्रस्थिति और भूमिका का सन्तुलन सामाजिक व्यवस्था का आधार है।

1. वही पेज 75
2. *Broom and Selznick* op cit, p 11
3. *Sargent* : Social Psychology at Cross Road, p 360.
4. *M E. Olsen* : Processes of Social Organization, p. 107.

इस सम्बन्ध मे हमे यह नही भूलना होगा कि "भूमिका" की धारणा एकपक्षीय नही है। भूमिका सदैव "पारस्परिक" (Reciprocal) होती है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका किसी दूसरी स्थिति अथवा व्यक्ति की तुलना मे होती है और इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार यह परिवर्तनशील है।

भूमिका-पालन, भूमिका-ग्रहण, अभिनय की भूमिका

भूमिका के सन्दर्भ मे हमे अन्य तीन सम्प्रत्ययो के अर्थ को भी समझ लेना चाहिए—

(1) भूमिका-पालन (Role-playing)—जब व्यक्ति समाज द्वारा अपेक्षित प्रतिमानो के आधार पर अपनी भूमिका निभाता है तो हम इसे "भूमिका-पालन" कहते हैं। व्यक्ति भाई, छात्र, मित्र, पिता, पति आदि की विभिन्न स्थितियो मे विभिन्न भूमिकाएँ अदा करता रहता है।

(2) भूमिका-ग्रहण (*Role-taking*)—इस प्रक्रिया के अन्तर्गत हम विशिष्ट भूमिकाओ को सीखते हैं। समाज मे व्यक्ति से जिन भूमिकाओ की आशा की जाती है और उनके अनुसार व्यक्ति जिन कार्यों का निर्वाह करता है, उसे "भूमिका-ग्रहण" कहा जाता है। कक्षा में छात्र के रूप में कैसा व्यवहार करना होगा, नई वधू कैसे व्यवहार करे आदि भूमिका-ग्रहण की प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं।

(3) अभिनय की भूमिका (*Playing at-role*)—जब व्यक्ति अभिनय के माध्यम से किसी अन्य पात्र की भूमिका निभाता है तो इसे "अभिनय की भूमिका" कहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति द्वारा लैला, मजनू, शिवाजी या प्रताप या अन्य किसी पात्र का अभिनय करना इसके अन्तर्गत आता है।

भूमिका-प्रत्याशा, भूमिका-संघर्ष

भूमिका के अर्थ को समझने के सन्दर्भ में हमें "भूमिका-प्रत्याशा" (Role expectation) तथा भूमिका-संघर्ष (*Role-conflict*) को भी समझ लेना चाहिए।

1 भूमिका-प्रत्याशा (Role-expectation)—समाज मे भिन्न-भिन्न स्थितियो की ही एक पृथक् भूमिका नही होती वरन् एक ही स्थिति में रहकर भी व्यक्ति से विभिन्न परिस्थितियो में विभिन्न भूमिकाओं की आशा की जाती है। उदाहरणार्थ, एक अध्यापक के रूप में ही हम व्यक्ति से विद्यालय के प्रधानाचार्य, छात्रो, अभिभावकों तथा कर्मचारी वर्ग के व्यक्तियो से भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहारों की आशा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण मे अनेक प्रकार की भूमिकाओं का योग होता है। समाज मे व्यक्ति से जिन भूमिकाओ की आशा की जाती है, उसे "भूमिका-प्रत्याशा" कहकर सम्बोधित किया जाता है। भूमिका-प्रत्याशा (Role-expectation) तथा भूमिका-ग्रहण (Role-taking) के बीच सन्तुलन ही समाज के सगठन का आधार है, और इन दोनो के बीच खाई होने का अर्थ है सामाजिक अव्यवस्था।

2 भूमिका-संघर्ष (Role-conflict)—अधिकांशत हम सामाजिक अपेक्षाओ के अनुरूप ही भूमिका अदा करने का प्रयास करते हैं, पर अनेक ऐसे अवसर भी आते हैं जब हम अपेक्षाओ अथवा प्रत्याशा के अनुरूप भूमिका का निर्वाह नहीं कर पाते। जब किसी प्रस्थिति की अपेक्षाओ के अनुसार भूमिका का पालन नही किया जाता, या ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि दो भिन्न प्रस्थितियो की भूमिका निभानी हो और हम मानसिक उलझन या अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करने लगें, तो इसे 'भूमिका-संघर्ष" कहा जाता है। उदाहरण के लिए, एक भूमिका एक ओर तो मित्रता की माँग करती है और दूसरी ओर निष्पक्ष निर्णय की। इस स्थिति मे भूमिका-संघर्ष पैदा हो जाएगा। एक प्रोफेसर की भूमिका मे व्यक्ति को छात्रो के प्रति मैत्रीभाव भी रखना पड़ता है पर साथ ही उसे एक न्यायाधीश के रूप मे छात्रो के कार्य का निष्पक्ष मूल्यांकन भी करना पडता है। प्रोफेसर की भूमिका के रूप मे यह परस्पर विरोधी माँगें उसके लिए भूमिका-संघर्ष की स्थिति पैदा कर देती हैं, और उसके लिए सामञ्जस्य बैठाना कठिन हो जाता है। एक दूसरा स्पष्ट उदाहरण लें कि एक ओर तो पति अपनी पत्नी को सिनेमा दिखाने का वायदा करता है और जब वे सिनेमा जाने के लिए तैयार हैं तभी पति को उसके आफिसर द्वारा कार्यालय मे बुला लिया जाता है। यहाँ पति की प्रस्थिति और आफिस के कर्मचारी की प्रस्थिति मे और फलस्वरूप अपेक्षित भूमिकाओ मे संघर्ष हो जाएगा। अब पति को यह निर्णय करना होगा कि वह किस भूमिका को प्राथमिकता दे। वास्तव मे, विभिन्न भूमिकाओ को एक साथ निभाना आसान नही होता और भूमिका-संघर्ष की स्थिति मे हम प्रभावी भूमिका को चुन लेते हैं। यदि हम इस प्रकार का सामञ्जस्य (Adjustment) नहीं कर पाते तो हमारा व्यक्तित्व खण्डित होकर गम्भीर परिणामो का शिकार बन जाता है। जब समाज के अधिकांश सदस्यो के साथ ऐसा होता है तो सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न होने लगता है।

भूमिका की विशेषताएँ
(Characteristics of Role)

उपरोक्त विवेचन के प्रकाश मे हम भूमिका (अथवा सामाजिक भूमिका) की निम्नलिखित विशेषताओ का संकेत कर सकते हैं—

(1) भूमिका का आशय उन विभिन्न व्यवहारो की सम्पूर्णता से है जिन्हे एक विशेष प्रस्थिति पर होने के कारण व्यक्ति से पूरा की जाने की आशा की जाती है।

(2) भूमिका प्रत्याशा का निर्धारण संस्कृति विशेष के नियमो द्वारा होता है, अर्थात् भूमिका की स्वीकृति (Sanction) समाज द्वारा की जाती है।

(3) हम प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष भूमिका की आशा दो कारणो से करते हैं—प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यो के अनुकूल आचरण करे और दूसरे, समाज में व्यवस्था बनी रहे।

(4) प्रस्थिति की भाँति भूमिका भी 'प्रदत्त' और 'अर्जित' होती है। एक प्रस्थिति के सभी व्यक्तियों की प्रदत्त भूमिका तो समान होती है लेकिन अर्जित भूमिका में अन्तर होना स्वाभाविक है और इसीलिए हमें लोगों के व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

(5) भूमिका समयानुकूल परिवर्तनशील है। समाज और संस्कृति के साथ व्यक्ति ज्यों-ज्यों अधिकाधिक अनुकूलन करता जाता है, उसकी भूमिका में परिपक्वता आती जाती है।

(6) प्रत्येक भूमिका व्यक्ति से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की माँग करती है और इसीलिए समाज में एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता हुआ पाया जाता है।

(7) यद्यपि हम सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप भूमिका अदा करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन व्यावहारिक रूप में सभी भूमिकाओं को समुचित रूप में निभाना कठिन है। अत: जिस भूमिका में हमारी अधिक रुचि होती है उसका निर्वाह हम अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की भूमिका का उसकी रुचियों, मनोवृत्तियों और योग्यता से विशेष सम्बन्ध है।

(8) सभी भूमिकाएँ समान प्रकृति की नहीं होतीं। कुछ "प्रमुख भूमिकाएँ" (Key roles) होती हैं जिनमें अधिक दायित्व और श्रम निहित होता है तो कुछ "सामान्य भूमिकाएँ" (General roles) होती हैं जिनका निर्वाह हम बड़ी सरलता से कर पाते हैं।

प्रस्थिति और भूमिका का महत्त्व
(Importance of Status and Role)

अध्याय में प्रसंगानुसार अनेक स्थलों पर हम प्रस्थिति और भूमिका के महत्त्व का संकेत दे चुके हैं। स्पष्टता के लिए इसे अलग-अलग निम्नांकित बिन्दुओं में रखा जा सकता है—

(1) इनका सामाजिक संगठन और व्यवस्था को बनाए रखना महत्त्वपूर्ण योग है। सामाजिक संरचना में एक निश्चित प्रस्थिति और उससे सम्बन्धित कुछ निश्चित भूमिका का निर्धारण होने से समाज में संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और सामाजिक संगठन बना रहता है।

(2) इनके फलस्वरूप सामाजिक श्रम-विभाजन सरल बनता है, क्योंकि इनके आधार पर सामाजिक कार्यों का विभाजन बहुत कुछ स्वत ही हो जाता है।

(3) ये अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावशाली साधन है। सभी प्रस्थितियों और भूमिकाओं का नियमन कुछ निश्चित सामाजिक नियमों द्वारा होता है, और जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी प्रस्थिति पर रहते हुए अपनी-अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करता रहता है तो सामाजिक नियन्त्रण की स्थिति स्वत. उत्पन्न हो जाती है।

(4) प्रस्थिति और भूमिका व्यक्ति में कुछ विशेष मनोवृत्ति को पनपाने में सहायक हैं। उदाहरणार्थ, पति बनने के बाद ही व्यक्ति पत्नी के प्रति एक निश्चित और विशिष्ट मनोवृत्ति अपना सकता है तथा एक मातृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की उच्च प्रस्थिति उनमें पुरुषों के प्रति अवहेलना की भावना पनपा देती है।

(5) इनसे व्यक्ति में सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता रहती है। उदाहरणार्थ, पिता की प्रस्थिति पाने के बाद एक लापरवाह पति भी एकाएक ही पिता के उत्तरदायित्व को समझने लगता है।

(6) इनसे व्यक्ति प्रगति के लिए प्रेरित होता है। निम्न प्रस्थिति का व्यक्ति अपने प्रयासों से उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने की ओर प्रयास करता है। इस प्रकार प्रस्थिति और भूमिका समाज तथा व्यक्ति दोनों के लिए जीवन शक्ति है।

वास्तव में, प्रस्थिति और भूमिका दोनों में अधिकांशतः तालमेल रहता है और इसीलिए समाज-व्यवस्था सुदृढ़ बनी रहती है। जब प्रस्थिति की अपेक्षाओं के अनुसार भूमिका नहीं होती तभी सामाजिक ढाँचे में दरार-सी पड़ने लग जाती है और सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यक्तित्व के स्तर पर (At the level of personality) तथा समाज के स्तर पर (At the level of society) प्रस्थिति और भूमिका में समन्वय आवश्यक है। यदि व्यक्तित्व के स्तर पर दोनों में समन्वय नहीं होता तो व्यक्ति का व्यवहार विपथगामी हो जाएगा जिससे समाज को हानि पहुँचेगी। जो लोग अपनी प्रस्थिति के अनुकूल भूमिका का निर्वाह नहीं करते, उन्हें असामाजिक कहा जाता है।

3

समाजीकरण

(Socialization)

"समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।" —ग्रीन

समाज के दृष्टिकोण से, समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा संस्कृति संचारित (Transmitted) की जाती है और व्यक्ति को जीवन के एक संगठित तरीके में फिट किया जाता है। समाजीकरण एक जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। यह बहुत प्रारम्भ में ही आरम्भ हो जाती है और समय के साथ-साथ बच्चा समूह-जीवन (Group life) में भाग लेना सीखता है और कुछ अंशों में अपने समाज के मूल्य और समाज के समूहों के मूल्यों को ग्रहण करता है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति नए सामाजिक स्वरूपों और संस्थाओं (New social forms and institutions) में भाग लेता जाता है वह नए-नए अनुशासन सीखता है और उसमें नए-नए मूल्यों का विकास होता है। जहाँ माता-पिता बच्चे के समाजीकरण के मुख्य अभिकरण होते हैं वहाँ वे स्वयं भी माता-पिता की भूमिका और मूल्यों का निर्वहन करने के कारण समाजीकृत होते जाते हैं।[1] समाजीकरण न केवल हमारे व्यवहार को नियमित करता है बल्कि व्यक्तित्व और आत्म-जागरूकता (Individuality and self-awareness) के विकास के लिए अपरिहार्य शर्त भी है। इस प्रकार समाजीकरण के दो परस्पर पूरक अर्थ हैं—संस्कृति का संचारण (Transmission of Culture) और व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)।[2]

समाजीकरण से ही व्यक्ति मनुष्य बनता है और पशुओं से श्रेष्ठ माना जाता है। समाजीकरण में मनुष्य का व्यक्तित्व संतुलित होता है और वह समाज के हित में, अपने पर नियन्त्रण करना सीखता है। समाजीकरण से व्यक्ति में सामूहिक भावना का विकास होता है और वह अन्य लोगों से सहयोग करना सीखता है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम समाजीकरण पर विस्तार से विचार करेंगे और हमारे अध्ययन की रूपरेखा अधोकित बिन्दुओं पर केन्द्रित होगी—

1 *Broom & Selznick* Sociology, p 84
2 Ibid, p 84

1 समाजीकरण का अर्थ और परिभाषा
2 समाजीकरण के उद्देश्य
3. समाजीकरण के प्रक्रियात्मक पहलू
4 समाजीकरण और अनुरूपता
5 समाजीकरण की प्रक्रिया
6 पृथक्कृत बच्चे ये क्या प्रदर्शित करते हैं ?
7 समाजीकरण की संस्थाएँ
8 समाजीकरण के सिद्धान्त ।

समाजीकरण का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Socialization)

समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से एक सावयवी शरीर को सामाजिक मानव बनाया जाता है । शिशु अपने जन्म के समय केवल अस्थि मांस का ढाँचा होता है । समाज की गतिविधियो मे भाग लेने या समाज के रीति-रिवाजो, मूल्यो आदि को समझने मे वह सर्वथा असमर्थ होता है । लेकिन धीरे-धीरे ये सब बातें समाजीकरण की प्रक्रिया मे वह सीखता है । सावयवी शरीर (Organic Body) में सीखने की जो क्षमता होती है उसका विकास समाज के सम्पर्क से होता है और सीखने की यह प्रक्रिया ही सारभूत रूप मे समाजीकरण है । समाजशास्त्रीय अर्थ मे समाजीकरण का आशय सामाजिक प्रतिमानो अथवा मानदण्डो के सीखने से है ताकि व्यक्ति समाज का सक्रिय सदस्य बन सके । दूसरे शब्दो मे, हर समाज मे अपने कुछ सामाजिक मूल्य, परम्पराएँ, नियम आदि होते हैं जिनके पालन की उस समाज के प्रत्येक सदस्य से आशा की जाती है । इन सभी बातो को व्यक्तित्व मे आत्मसात करने की प्रक्रिया को ही हम समाजशास्त्रीय भाषा मे "समाजीकरण" कहते हैं ।

समाजीकरण को समाजशास्त्रियो ने विभिन्न शब्दावलियो मे स्पष्ट किया है । जॉनसन (H M Johnson) के अनुसार, "समाजीकरण वह सीखने की प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओ के निर्वाह करने योग्य बनाती है ।"[1] जॉनसन ने स्पष्ट किया है कि समाजीकरण के कारण ही मानव शिशु मानव-समाजों के पूर्ण सदस्यो के रूप मे विकसित हो जाते हैं । संस्कृति वह है जो समाजीकरण से सीखी जाए ।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने लिखा है कि "समाजीकरण से हमारा अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह मे एक क्रियाशील सदस्य (A functioning member) बनता है, समूह की कार्यविधियो से समन्वय स्थापित करता है, समूह की परम्पराओ का ध्यान रखता है, और सामाजिक

1 हेरी एम० जानसन समाजशास्त्र—एक विधिवत विवेचन, पृष्ठ 39

परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित करता है।[1]" स्पष्ट है कि गिलिन के अनुसार समाजीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाना है अर्थात् समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज से विलग हो जाएगा, संस्कृति से अछूता रहेगा और सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

ब्रूम के शब्दों में समाजीकरण के दो पूरक अर्थ हैं—'संस्कृति का संचारण और व्यक्तित्व का विकास।"[2] ब्रूम ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाजीकरण के माध्यम से ही एक सावयवी शरीर को सामाजिक मानव बनाया जाता है और बच्चा धीरे-धीरे बड़ा होने के साथ-साथ सामाजिक गतिविधियों, रीति रिवाजों, मूल्यों आदि को अपनाता जाता है। समाजीकरण के फलस्वरूप ही व्यक्ति "सामाजिक" बन जाता है।

ग्रीन (A. W Green) के मतानुसार, "समाजीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं आत्मपन (Sell-hood) और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"[3] इस परिभाषा का भी संकेत है कि कोई बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं को जन्म से ही प्राप्त नहीं करता वरन् समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा वह इन्हें अपनाता है और इनके अनुसार व्यवहार करना सीखकर व्यक्तित्व का विकास करता है।

किम्बाल यंग (Kimbal Young) की दृष्टि से "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों तथा मानकों (Standards) को स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।"[4] फिचर (Fitcher) के अनुसार, "समाजीकरण एक व्यक्ति एवं उसके अन्य साथियों के पारस्परिक प्रभाव की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करना और उनसे अनुकूलन करना सीखता है।[5]

इन सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण ही व्यक्ति के सामाजिक पहलू का निर्माण करता है। इसके माध्यम से ही व्यक्ति एक जैवकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है। समाजीकरण सामाजिक सीख की प्रक्रिया है अर्थात् इसके द्वारा शिशु क्रमशः समाज की उन विशेषताओं को सीखता है जो समाज के मूल्यों और मान्यता प्राप्त आचरणों के अनुकूल हों। समाजीकरण की प्रक्रिया तीन आधारभूत पहलुओं पर आधारित है—जीव रचना (Organism),

1 *Gillin and Gillin* op cit, p 643
2 *Broom and Selznick* op cit, p 84
3 *A W Green*, op cit, p 127
4 *Kimbal Young* op cit p 89
5 *J H Fitcher*, op cit, p 22

व्यक्ति (Individual) एवं समाज (Society)। जीव-रचना अथवा सावयवी शरीर द्वारा वे क्षमताएँ प्राप्त होती हैं जिनकी सहायता से मनुष्य अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को सीखता है और भाषा द्वारा उन्हें अभिव्यक्त करता है। व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया का वास्तविक आधार है, क्योंकि व्यक्ति में "आत्म" का विकास होने पर ही यह प्रक्रिया आगे बढ़ सकती है। समाज वह क्षेत्र है जिसमें रहते हुए व्यक्ति विभिन्न प्रकार से अन्त क्रियाएँ करता है।

सारांश रूप में, समाजीकरण में ये विशेषताएँ सन्निहित हैं—(1) यह सामाजिक सीख की एक प्रक्रिया है, (2) यह सीख सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक मूल्यों की होती है, (3) समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा न केवल इन सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक मूल्यों को सीखा जाता है वरन् इनका पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण भी होता रहता है, (4) समाजीकरण की प्रक्रिया से ही व्यक्ति में 'आत्म' (Self) का विकास होता है एवं (5) समाजीकरण की प्रक्रिया ही एक सावयवी शरीर (Organic body) को सामाजिक प्राणी में परिणत कर देती है।

समाजीकरण के सन्दर्भ में यह ध्यान रखना चाहिए कि हम संगठनात्मक प्रक्रियाओं को ही समाजीकरण मानते हैं विघटनात्मक प्रक्रियाओं को नहीं। सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों और समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है और इन्हें सीखने वाला व्यक्ति ही समाज का क्रियाशील सदस्य (A functioning member) बन सकता है। चोरी करना, बलात्कार करना आदि विघटनात्मक प्रक्रियाओं को सीखना समाजीकरण नहीं होगा।

समाजीकरण के उद्देश्य
(Aims of Socialization)

समाजीकरण की जो व्याख्या ऊपर की गई है उससे हमें इसके उद्देश्यों का आभास हो जाता है। समाजीकरण के माध्यम से ही समाज बच्चे को सिखाता है कि समुदाय (Community) में घुलने-मिलने के लिए उसे किन बातों की आवश्यकता है, उसकी क्षमताओं का विकास करने और स्थाई तथा अर्थपूर्ण सन्तुष्टियों (Stable and Meaningful Satisfactions) को प्राप्त करने के लिए उसे किन बातों को जानना और सीखना चाहिए।[1] समाजीकरण के चार प्रमुख उद्देश्यों का *ब्रूम एवं सेजनिक (Broom and Selznick) ने उल्लेख किया है—*

(1) आधारभूत नियमबद्धता या अनुशासनों का विकास—समाजीकरण द्वारा आधारभूत अनुशासनों (Basic disciplines) का विकास किया जाता है। है। अनुशासनहीन व्यवहार को दूर कर व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध करने और अनुशासित बनाने के महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति समाजीकरण से ही होती है। समाजीकरण की प्रक्रिया इस बात पर बल नहीं देती कि व्यक्ति अपने लक्ष्यों को

1 *Broom and Selznick, op cit., p 86–87*

तत्काल ही पूरा करे वरन् इस बात की सीख देती है कि वह सामन्जस्य करना सीखे अर्थात् परिस्थितियों के अनुसार लक्ष्यों को पूरा करने के लिए आगे बढ़े, आवश्यक होने पर उन्हें स्थगित करदे या छोड़ दे या संशोधित करदे। भावी उद्देश्यों और सामाजिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति व्यवहार करना सीखे।

(2) आकांक्षाओं की पूर्ति—समाजीकरण नियमबद्धता के साथ ही आकांक्षाओं की पूर्ति (Instills aspirations) करता है। अनुशासन स्वयं ही व्यक्ति को कोई पुरस्कार नहीं देता वरन् यह तो आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक होता है और साथ ही आकांक्षाएँ जो नियमबद्धता बनाए रखने में सहायक होती हैं। समाजीकरण के माध्यम से समाज मनुष्य में न केवल आम सांस्कृतिक मूल्यों का सचारण करता है बल्कि उसमें विशेष आकांक्षाओं की प्राप्ति की प्रेरणाएँ भी पैदा करता है। उदाहरणार्थ, विकसित तकनीक पर आधारित एक अर्थव्यवस्था तभी सार्थक है जबकि वह अपने कुछ सदस्यों में वैज्ञानिक और इन्जीनियर बनाने की आकांक्षाएँ जाग्रत करे। समाजीकरण की प्रक्रिया का उद्देश्य है कि व्यक्ति में आकांक्षाओं के स्वरूपों का निर्धारण करके उनकी आदर्श-पूर्ति में सहायता दे।

(3) सामाजिक भूमिकाओं के निभाने की सीख—समाजीकरण का तीसरा उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक भूमिकाओं और उनके सहायक व्यवहारों की सीख देना (Teaches social roles and their supporting attitudes) है। समूह की सदस्यता (Group membership) की माँग है कि सामान्य योग्यता के साथ-साथ उन और भी योग्यताओं को प्राप्त किया जाय जो सामाजिक सम्बन्धों के निर्वाह के लिए आवश्यक हैं, विशिष्टिकृत भूमिकाओं (Specialized roles) निर्वाह के लिए जरूरी है। समाज में रहते हुए एक व्यक्ति को नेता, अनुयायी, छात्र, शिक्षक, वक्ता और श्रोता आदि की एक दूसरे से भिन्न किन्तु एक दूसरे की पूरक भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया मनुष्य को सिखाती है कि वह विभिन्न परिस्थितियों में दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों से किस प्रकार सामन्जस्य और अनुकूलन स्थापित करें।

(4) क्षमताओं का विकास—समाजीकरण सामाजिक क्षमताओं (Social Skills) का विकास करता है। सामाजिक क्षमताओं का अभिप्राय वे गुण हैं जो व्यक्ति को समाज से अनुकूलन करना सिखाते हैं। साधारण समाजों में, परम्परागत व्यवहार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं और आमतौर पर अनुकरण द्वारा (By Imitation) उन्हें सीखा जाता है और व्यवहार में लाया जाता है। लेकिन जो उच्च तकनीकी ज्ञान से परिपूर्ण समाज होते हैं उनमें औपचारिक शिक्षा द्वारा सामाजिक क्षमताओं का विकास करना समाजीकरण का एक केन्द्रीय कार्य होता है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक समाजों में औपचारिक शिक्षा (Formal education) प्रभावी समाजीकरण की तेजी से एक आवश्यक शर्त बनती जा रही है।

समाजीकरण के प्रक्रियात्मक पहलू
(Processual Aspect of Socialization)

समाजीकरण एक जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। इसके प्रक्रियात्मक पहलुओं का अभिप्राय है कि हम यह देखें कि कौन-कौन से पहलू इस प्रक्रिया में आते है जो व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते है। इनका आभास हमे समाजीकरण के अर्थ और उद्देश्यो से हो चुका है, तथापि संक्षेप मे हम इन्हें निम्नानुसार व्यक्त कर सकते हैं—

(1) समाजीकरण एक निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती रहती है, कभी स्थगित नही होती। जीवन-पर्यन्त व्यक्ति नई-नई प्रस्थितियो (Statuses) को प्राप्त करता है जिनके लिए वह पहले से तैयार नहीं होता। व्यक्ति को सीखना पड़ता है कि इन प्रस्थितियो मे वह किस प्रकार व्यवहार करे। दूसरे शब्दो मे, प्रस्थितियो के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वाह किए बिना व्यक्ति "सामाजिक" नही बन पाता, और इस सम्बन्ध मे आवश्यक सीख व्यक्ति को समाजीकरण द्वारा ही प्राप्त होती है। चूँकि जन्म से मृत्यु तक नई-नई प्रस्थितियाँ आती रहती है और उनसे सम्बन्धित व्यवहारो का सीखना चलता रहता है, अत समाजीकरण एक वह प्रक्रिया है जो कभी समाप्त नही होती।

(2) समाजीकरण की प्रक्रिया समय-सापेक्ष और स्थान-सापेक्ष दोनों है। समय-सापेक्ष होने का तात्पर्य है कि एक समाज मे दो भिन्न समयों मे समाजीकरण की अन्तर्वस्तु (Content) अलग-अलग हो सकती है। जहाँ प्राचीन भारत मे नव-वधू को पर्दा करने की शिक्षा दी जाती थी वहाँ आधुनिक भारत मे नए मूल्य स्थान लेते जा रहे हैं और नव-वधू से पर्दा-व्यवहार की अपेक्षा प्राय नही की जाती। मूल्यो मे परिवर्तन के साथ-साथ समाजीकरण की विधि मे भी अन्तर आता रहता है। स्थान सापेक्ष का अभिप्राय यह है कि एक स्थान पर सीखने की जो प्रक्रिया पुरस्कार योग्य है वही क्रिया दूसरे स्थान पर दण्डनीय हो सकती है। उदाहरणार्थ, अफ्रीका की मसाई जनजाति मे एक-दूसरे के प्रति सम्मान दिखाने के लिए एक-दूसरे पर थूकना सिखाया जाता है, लेकिन किसी भी सभ्य समाज मे यह तरीका अनुचित माना जाएगा और इसे हम विपथगामी व्यवहार (Deviant behaviour) की श्रेणी में लेंगे।

(3) समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा संस्कृति को आत्मसात किया जाता है। इस प्रक्रिया मे हम सामाजिक प्रतिमानो, मूल्यो तथा स्वीकृत व्यवहार के तरीको को सीखते हैं और इस प्रकार संस्कृति हमारे व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। संस्कृति के भौतिक और अभौतिक दोनो ही पक्षो को समाजीकरण द्वारा आत्मसात् करना सम्भव होता है।

(4) समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज का क्रियाशील या प्रकार्यात्मक सदस्य (Functioning Member) बन पाता है। इसका अभिप्राय

यह है कि समाजीकरण की प्रक्रिया हमें समाज की क्रियाओं में भाग लेने के लिए समर्थ बनाती है, हमें विभिन्न परिस्थितियों में समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को सिखाती है।

समाजीकरण और अनुरूपता
(Socialization and Conformity)

ब्रूम एवं सेल्जनिक (Broom and Selznick) के शब्दों में, "समाजीकरण अनिवार्य रूप से कुछ अंश तक अनुरूपता उत्पन्न करता है। समान परिस्थितियों में पाले-पोसे गए व्यक्ति अपनी आदतों, मूल्यों और व्यक्तित्व में एक दूसरे से समानता रखते हैं। किन्तु, समाजीकरण पूर्ण अनुरूपता (Complete Conformity) उत्पन्न नहीं करता। अनेक ऐसे कारक होते हैं जो व्यक्तित्व और मनोवेपन को उत्साहित करते हैं।"[1] ब्रूम ने इस प्रकार के तीन प्रमुख कारकों का उल्लेख किया है—

(1) समाजीकरण सदैव सुगम और एकसा (Smooth and Uniform) नहीं होता। व्यक्ति विभिन्न अभिकरणों अथवा संस्थाओं द्वारा समाजीकृत होता है, जैसे परिवार, स्कूल, साथियों, व्यवसाय और एक शिक्षित समाज में लिखित शब्दों द्वारा। यदि यह संस्थाएँ अपने विभिन्न मूल्यों पर बल देती हैं और इस प्रकार व्यक्ति को अपने-अपने मूल्यों की ओर आकर्षित करती हैं तो स्वाभाविक है कि कुछ समूह-मूल्यों के प्रति व्यक्ति की अनुरूपता (Conformity to some group values) कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, निम्न श्रेणी के परिवारों के कुशाग्र बच्चों को स्कूल में उन्नत अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है लेकिन पारिवारिक मूल्य (Family Values) उनमें बौद्धिक आकांक्षाओं को हतोत्साहित कर सकते हैं।

(2) गैर-अनुरूपता (Non-conformity) स्वयं में एक मूल्य हो सकती है और किसी भी अन्य मूल्य की भाँति समाजीकरण के माध्यम से इसका सचारण हो सकता है। उदाहरणार्थ, व्यक्तियों को उन लोगों की प्रशंसा करना सिखाया जा सकता है जो कि स्वतन्त्र और यहाँ तक कि विद्रोही हैं।

(3) समाजीकरण के प्रकार पर व्यक्ति की अपनी असाधारण योग्यताओं का भी प्रभाव पड़ता है। नवजात शिशु की जैवकीय क्षमताओं और एक परिपक्व वयस्क की योग्यताओं के बीच जो सम्बन्ध होता है उसके बारे में हमें कुछ ज्ञात नहीं होता। यद्यपि सभी क्षमताओं का विकास समुचित प्रशिक्षण पर बहुत कुछ निर्भर करता है, *तो भी कुछ क्षमताएँ सम्भवतः जन्मजात होती हैं,* जैसे कि होशियारी की क्षमता अथवा संगीत की प्रतिभा। स्पष्ट है कि व्यक्ति के समाजीकरण पर किसी न किसी सीमा तक इन क्षमताओं और प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। यद्यपि बच्चा वही सीखता है जो उसे सिखाया जाता है, लेकिन उसे जो कुछ सिखाया जाता है वह भी कुछ अंशों तक इस बात पर निर्भर करता है कि बच्चा क्या सीख सकता है

1. Ibid, p. 87

अर्थात् उसमे सीखने की कितनी क्षमता है। इस बात का अधिक स्पष्टीकरण उस विवरण से हो सकेगा जो हमने 'पृथक्कृत बच्चों' वाले शीर्षक के अन्तर्गत दिया है।

समाजीकरण की प्रक्रिया
(Process of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया के विभिन्न स्तरो (Stages) का उल्लेख समाजशास्त्रियो और मनोवैज्ञानिको ने किया है। फ्रॉयड (Freud) ने सात स्तर बतलाए हैं तो जॉनसन (H M Johnson) ने चार स्तरो के माध्यम से ही समाजीकरण की प्रक्रिया को समझाया है। अग्रिम पक्तियों मे हम प्रो० जॉनसन द्वारा दिए गए चार स्तरो[1]—(1) मौलिक अवस्था, (2) शौच अवस्था, (3) तादात्मीकरण अवस्था, एव (4) किशोर अवस्था का उल्लेख करेंगे और तत्पश्चात् सक्षेप मे अन्य तीन स्तरों का या सोपानो को भी सकेत रूप मे लेंगे—युवावस्था, प्रौढ अवस्था तथा वृद्धावस्था।

(1) मौलिक अवस्था (The Oral Stage)

यह बच्चे के जीवन की सबसे पहली अवस्था है। जन्म के समय शिशु प्रथम सकट का सामना करता है—उसे साँस लेनी होती है, पेट भरने के लिए श्रम करना पड़ता है, सर्दी-गीलेपन आदि असुविधाओ की पीड़ा सहनी पड़ती है और वह काफी रोता-चिल्लाता है। इस प्रकार सोपान या स्तर मे समाजीकरण की प्रक्रिया का आवश्यक लक्ष्य मौलिक रूप से बच्चे की दूसरो पर निर्भरता को स्पष्ट करना है। शिशु अपना दुल-मुल मुँह के माध्यम से, मुँह के हाव-भाव से ही अभिव्यक्त कर पाता है। इस सोपान में शिशु अपने भोजन के समय के बारे मे सकेत देने शुरू करता है।

मौलिक अवस्था के सोपान में, शिशु का पूरे परिवार के साथ सम्बन्ध नही हो पाता। वह परिवार मे अपनी माँ के अतिरिक्त और किसी को नही जानता। जॉनसन के शब्दो मे "वह केवल उस उप-प्रणाली मे बँधा होता है जो उससे और उसकी माता से मिलकर बनी है।" परिवार के अन्य सदस्यों के लिए, जैसा कि पार्सन्स ने कहा है, बच्चा केवल एक 'सम्पदा' से थोड़ा ही अधिक होता। अभिप्राय यह हुआ कि बच्चे का सम्बन्ध केवल माँ से होता है और उसमे केवल यही विचार उत्पन्न होता है कि वह और उसकी माँ एक दूसरे से बिलकुल पृथक् नहीं हैं। इस स्थिति को फ्रॉयड ने 'प्राथमिक एकरूपता' (Primary Identification) की सज्ञा दी है। मौलिक अवस्था के सोपान मे ही बच्चा अपनी भूख पर कुछ नियन्त्रण रखना सीख जाता है। उसे माँ के शारीरिक सम्पर्क से आनन्द भी अनुभव होने लगता है। समाजीकरण के इस प्रथम सोपान की अवधि शिशु के जन्म से एक-डेढ वर्ष तक की रहती है।

1. हैरी एम० जॉनसन : वही, पृष्ठ 157–167

(2) शौच अवस्था (The Anal Stage)

समाजीकरण के इस दूसरे सोपान का समय, सामाजिक वर्ग एवं परिवार-विशेष पर निर्भर करता है। हमारे समाज मे इस स्तर या सोपान का प्रारम्भ हम डेढ वर्ष की आयु से मान सकते हैं और तीन-चार वर्ष की आयु मे यह समाप्त हो जाता है। इस स्तर मे बच्चे से आशा की जाने लगती है कि वह शौच सम्बन्धी क्रियाओ को सीखकर उन्हे स्वय करे। बच्चे को नियत स्थान पर शौच करने, हाथ धोने, कपडे गन्दे न करने आदि की शिक्षा दी जाने लगती है। इस सोपान मे बच्चा दो भूमिकाएँ निभाने लगता है—वह माँ से प्यार की इच्छा ही नही रखता वरन् स्वय भी माँ को प्यार देता है। जॉनसन के शब्दो मे, "मनोवैज्ञानिको ने बताया है कि इस सोपान मे बालक के लिए मल एक प्रकार का दान है, अपनी माता के प्रति उसके प्यार का प्रतीक। दूसरी ओर टट्टी न फिरना, या गलत समय पर फिरना अवहेलना की अभिव्यक्ति है। सही व्यवहार करने पर बच्चे को माँ का प्यार मिलता है और गलत व्यवहार को रोकने के लिए उसे दण्ड भी दिया जाता है।" प्राय सभी समाजो मे बालक को सही और गलत मे भेद करना सिखाया जाता है। ऐसा पहले तो समाजीकरणकारी द्वारा कुछ सकेत देकर किया जाता है और बाद मे सही व्यवहार के लिए पुरस्कृत करके और गलत व्यवहार के लिए पुरस्कृत न करके किया जाता है।

समाजीकरण के दूसरे सोपान का इस दृष्टि से महत्त्व है कि इसमे समाजीकरणकारी (माता या परिवार के सदस्य) की दोहरी भूमिका होती है उदाहरण के लिए माँ पहले तो एक सीमित-सी सामाजिक प्रणाली (जो उसके और बालक के बीच अन्त क्रिया से बनती है) मे भाग लेती है एव दूसरे, वह सारे परिवार मे भाग लेती है। फलस्वरूप व्यक्तित्व की विविधता के आन्तरिक तत्त्व समाजीकरण के इसी सोपान मे उत्पन्न होने लगते हैं। माता और परिवार के सदस्यो द्वारा स्नेह, क्रोध, सहयोग और विरोध का जो प्रदर्शन होता है वह बच्चे मे भी प्रेम व तनाव की स्थिति उत्पन्न करता है। शौच सोपान की अवस्था मे बालक मामूली बोलने लग जाता है और चलने फिरने लग जाता है। उसके सामाजिक सम्बन्धो का कुछ विकास हो जाता है, क्योकि वह माता-पिता भाई-बहिन से अन्त क्रिया करने का प्रयास करता है। जबकि प्रथम सोपान मे यानी मौखिक अवस्था के समय उसका सम्बन्ध केवल माँ से रहता है।

(3) तादात्मीकरण अवस्था (The Identification Stage)

जॉनसन के अनुसार यह सोपान प्राय चौथे वर्ष से प्रारम्भ होकर बारह-तेरह वर्ष की आयु तक रहता है। इस स्तर के आरम्भ मे बच्चा पूरे परिवार से सम्बद्ध हो जाता है। यद्यपि यौनिक व्यवहार से वह पूर्णत परिचित नहीं होता, लेकिन अव्यक्त रूप से उसके भीतर यौन-भावना विकसित होने लगती है। बच्चे से आशा की जाने लगती है कि वह अपने लिंग के अनुरूप (अर्थात् लडके या लडकी के अनुरूप) आचरण करना शुरू करे। अनुकूल व्यवहार करने पर बच्चे को स्नेह मिलता

कि युवा बालक अथवा बालिका साधारण रूप में अपने माता-पिता के नियन्त्रण से अधिकाधिक मुक्त हो जाते हैं।" समाजीकरण की प्रक्रिया में यह सोपान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि इसमें एक ओर तो किशोर अधिकाधिक स्वतन्त्रता चाहने लगता है और दूसरी ओर परिवार के सदस्यों तथा विभिन्न समूहों द्वारा उसके सभी व्यवहारों पर कुछ न कुछ नियन्त्रण रखा जाता है। किशोरावस्था में बच्चे से यह आशा की जाने लगती है कि वह अपने बारे में महत्त्वपूर्ण निर्णय स्वयं लेने की प्रवृत्ति का विकास करे। उसे यह सीख दी जाती है कि निर्णय लेने के समय वह पारिवारिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखे। यद्यपि इस प्रकार के नियन्त्रण सामान्यतः किशोर की भावनाओं के प्रतिकूल होते हैं, लेकिन उसे इनके अनुकूल ढलना पड़ता है। यही कारण है कि इस सोपान में बच्चे में कुछ न कुछ तनाव सदैव बने रहते हैं।

किशोरावस्था के साथ बालक के शरीर में कुछ स्पष्ट शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। यदि यौन-कर्म की उन्हें पूर्ण छूट दी जाय तो कोई समस्या प्रायः खड़ी नहीं होगी पर चूँकि यह छूट नहीं दी जाती, अतः परिवर्तनों से किशोर के मन में वयस्कता के प्रति दोनों भावनाएँ गहरी होती चली जाती हैं—प्रतिबन्धों के प्रति अधीर होकर स्वतन्त्रता की कामना करना और साथ ही स्वतन्त्रता से भयभीत भी रहना।

किशोरावस्था में बालक न केवल परिवार के वरन् अन्य समूहों के सदस्यों के व्यवहारों से भी प्रभावित होता है। वह पड़ोस, विद्यालय, खेल के साथियों और नवागन्तुकों के सम्पर्क में आता है तथा इन सभी के विचारों और व्यवहारों के साथ उसे समायोजन (Adjustment) करना पड़ता है। यहाँ समाजीकरण की प्रक्रिया उन विभिन्न निषेधात्मक नियमों (Incest Taboo) से प्रभावित होती है जिनका किसी भी संस्कृति में विशेष महत्त्व होता है। किशोरावस्था समाजीकरण-प्रक्रिया का वह सोपान है जिसमें किशोर को अनेक नए अनुभवों और परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जिनका सामना उसे पहले नहीं करना पड़ता था। किशोर के अनुभव उसे विभिन्न परिस्थितियों का सामान्यीकरण (Generalization) करना सिखाते हैं। इस सोपान के अन्तिम चरण में उसमें कुछ-कुछ नैतिकता की भावना भी जाग्रत होने लगती है।

अमेरिका जैसे व्यक्तिवादी देशों में तो किशोरावस्था में ही किशोरों को व्यवसाय में भी लग जाना पड़ता है। इस प्रकार किशोर को व्यावसायिक और पारिवारिक दोनों दायित्वों को निभाना सीखना पड़ता है।

समाजीकरण के अन्य सोपान—युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था

उपर्युक्त चार समाजीकरण के मुख्य सोपान हैं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन सोपानों के पूरा हो जाने के बाद समाजीकरण होता ही नहीं है।

वास्तविकता यह है कि ये चार सोपान व्यक्तित्व के लिए विशेष रूप से रचनात्मक हैं, क्योंकि हमारा आधारभूत व्यक्तित्व (Basic Personality) इस काल तक बन चुका होता है। लेकिन इन सोपानों के उपरान्त भी समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और क्रमश तीन अन्य सोपानों से गुजरती है जिन्हे हम युवावस्था (The Youth), प्रौढ़ावस्था (The Adult age) तथा वृद्धावस्था (The Old age) कहते हैं।

युवावस्था मे, जबकि व्यक्ति युवक हो जाता है, उसे अनेक कई प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं और उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं को निभाना पड़ता है। वह एक साथी, एक अधिकारी, एक सेवक, पति और पिता, दामाद, जीजा, साढू आदि की प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है और तदनुसार नई भूमिकाएँ निभाना सीखता है। नई प्रस्थितियों के अनुकूल भूमिका-प्रत्याशाओं (Role-expectations) का उसे निर्वाह करना पड़ता है और कई बार भूमिका-संघर्ष (Role-conflict) का सामना करना पड़ता है। युवावस्था वह आयु होती है जो व्यक्ति के जीवन मे उत्तरदायित्व के महत्वपूर्ण क्षेत्रों को ला पटकती है।

प्रौढ़ावस्था मे व्यक्ति पर और अधिक उत्तरदायित्व आ जाते हैं। उदाहरणार्थ बच्चे बड़े हो जाते हैं जिनकी शिक्षा, विवाह आदि की व्यवस्था करनी होती है। व्यावसायिक समूहों मे व्यक्ति को श्रेष्ठतर प्रस्थिति प्राप्त हो सकती है और पदोन्नति के नए कर्त्तव्यों को निभाना पड़ सकता है। पर वयस्कों को समाजीकरण करने मे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती, उन्हें तो केवल नई स्थिति से समायोजन करना पड़ता है। जॉनसन के अनुसार, वयस्कों का समाजीकरण तीन मुख्य कारणों से प्राय सरल होता है—(क) वयस्क सामान्यत उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कार्य करने को प्रेरित होता है, जो वह स्वयं देख चुका है, (ख) जिस नई प्रस्थिति को वह आन्तरीकृत (Internalize) करने का प्रयास कर रहा है उसमे और उसकी पुरानी स्थितियों मे काफी साम्य होता है, एवं (ग) समाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से सीखने की सामग्री को सरलता से बोधगम्य करा सकता है।

वृद्धावस्था मे व्यक्ति मे विभिन्न शारीरिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आ जाते हैं तथा समाजीकरण की काफी आवश्यकता होती है। दादा, परदादा आदि के रूप मे उसे नई प्रस्थिति प्राप्त होती है और तदनुकूल भूमिका निभानी पड़ती है। चूँकि वह प्राय कमाऊ सदस्य नहीं रहता अत पारिवारिक स्तर पर उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल अनेक बातों से समायोजन करना पड़ता है। यदि वह अनुकूलन कर पाता है तो कई तनावकारी स्थितियों से बच जाता है। सारांश मे, वृद्ध व्यक्तियों को सामाजिक, व्यावसायिक और वैचारिक क्षेत्रों मे अनेक समायोजन करने पड़ते हैं। उन्हे नई परिस्थितियों मे व्यवहार के नए प्रतिमानों को सीखना ही नहीं पड़ता बल्कि उनके सन्दर्भ मे आचरण भी करना पड़ता है।

स्पष्ट है कि समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती रहती

है। जीवन में नई-नई प्रस्थितियाँ नए प्रकार के समाजीकरण के द्वार खोलती रहती हैं और व्यक्ति समाजीकृत होता जाता है। पर चूँकि प्रथम चार सोपानों में अर्थात् किशोरावस्था तक व्यक्ति का मूलभूत व्यक्तित्व बन चुका होता है, अत इसके बाद समाजीकरण की प्रक्रिया स्वत चालित (Automatic) मान ली जाती है।

पृथक्कृत बच्चे वे क्या प्रदर्शित करते हैं ?[1]
(Isolated Children : What they Show ?)

समाजीकरण एक जीवन-पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्ति का समाजीकरण करने में परिवार, क्रीडा-समूह, शिक्षण संस्थान, विवाह आदि विभिन्न संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योग होता है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने समाजीकरण को प्रभावी करने वाले इन विभिन्न कारकों में कुछ जैवकीय विशेषताओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। डेविस का अभिमत है कि इन्हीं की सहायता से व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन की क्षमता प्राप्त करता है। डेविस ने पूर्णत पृथक् बच्चों की साक्षियाँ प्रस्तुत की हैं और कहा है कि "ये साक्षियाँ स्पष्ट करती हैं कि समाजीकरण का स्तर जैवकीय विकास के स्तर से इतनी अधिक मात्रा में आवश्यक रूप में सह-सम्बन्धित है।"

डेविस ने दो बच्चों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। पहला एक अवैध बच्चा था जिसका नाम अन्ना था। इसके दादा इसकी माँ के व्यवहार से बड़ी घृणा करने लगे थे अत उन्होंने बच्चे को एक पृथक् कमरे में बन्द कर दिया। फलस्वरूप बच्चे का केवल इतना ही पोषण हो सका था कि वह जीवित रह सके। लगभग 6 वर्ष की अवस्था में जब उसका पता लगा तो उसे कमरे से बाहर निकाला गया। उस समय न तो अन्ना चल सकती थी, न बातें कर सकती थी न कोई ऐसे कार्य कर सकती थी जिससे उसकी बुद्धि का पता लगता। शरीर से वह अत्यन्त क्षीण थी। वह भावहीन और प्रत्येक के प्रति निरुत्साही थी। वह एक ऐसी मानव-प्राणी थी जिसे 6 वर्ष तक समाजीकरण का अवसर नहीं मिला था। डेविस के अनुसार, "उसकी दशा देखने से ज्ञात होता है कि केवल हमारे जैविक साधन, यदि उन्हें अकेले कार्य करने के लिए छोड़ दिया जाए तो वे हमें पूर्ण व्यक्ति बनाने में कितना कम अशदान दे सकते हैं। लगभग साढ़े चार वर्ष के उपरान्त जब अन्ना की पाण्डु रोग से मृत्यु हुई तो उस समय तक वह काफी प्रगति कर चुकी थी। उसने सकेत पर कार्य करना, मोतियाँ पिरोना, कुछ रगों को पहचानना मिट्टी के घरोंदे बनाना तथा सुन्दर असुन्दर चित्रों के भेद को समझना सीख लिया था। मशीन उसे अच्छा लगने लगा था और एक गुड़िया को वह प्यार करने लगी थी। वह साफ कपड़े पहनना पसन्द करती थी तथा दूसरे बच्चों को सहायता देने की कोशिश करती थी। सक्षेप में अन्ना की उन्नति यह बतला रही थी कि समाजीकरण की प्रक्रिया यदि इतने समय बाद भी आरम्भ हो, तो भी वह उसका

1. किंग्सले डेविस वही, पेज 174-178

एक मनुष्य बनाने मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्ना की बहुत शीघ्र मृत्यु हो जाने से समाजीकरण की पूरी उपयोगिता का पता नही लगाया जा सका। यह ज्ञात नही हो सका कि समाजीकरण की प्रक्रिया देर मे आरम्भ होने से उसका कितना सुधार हो सकता था। पर, इतना निश्चित रूप से सत्य है कि अन्ना न बहुत प्रगति की थी और यदि वह पृथक् रहती तो इतनी प्रगति कभी न कर पाती। यदि वह बिलकुल पृथक् कर दी गई होती तो बचपन मे ही मर जाती। पर दूसरो के साथ उसका सम्पर्क केवल शारीरिक प्रकार का ही था जिसमे उसे सवहनात्मक अन्त क्रिया (Communicative interaction) का अवसर नही मिलता। अत उसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 'सवहनात्मक सम्पर्क (Communicative contact) समाजीकरण का केन्द्र-बिन्दु है।'

डेविस ने पूर्ण पृथक्कता का दूसरा दृष्टान्त इजाबेला का दिया है। यह लड़की भी लगभग उसी समय और उसी प्रकार की परिस्थितियो मे मिली जबकि वह करीब साढे छ वर्ष की थी। वह भी एक अवैध बच्ची थी जिसे पृथक् रखा गया था। उसकी माँ गूँगी-बहरी थी और ऐसा लगता था कि वह तथा इजाबेला एक अन्धेरे कमरे मे अपना अधिकाश समय बिताती थीं। फलस्वरूप इजाबेला को बोल-सीखने का अवसर नही मिला। वह माँ से बात करती थी तो विशेष भावो को बताती थी। शरीर मे वह अत्यधिक शिथिल और क्षीण थी। किसी भी नवागन्तुक के प्रति उसका व्यवहार जगली जानवर जैसा था। जब इजाबेला के प्रशिक्षण की एक व्यवस्थित और क्षमतापूर्ण योजना बनाई गई तो आरम्भ मे तो यह कार्य निरर्थक प्रतीत हुआ, लेकिन धीरे-धीरे आशाजनक फल निकलने लगा। आरम्भ मे प्रतीत होने वाली बाधाएँ समाप्त हो गई और एक आश्चर्यजनक घटना घटी। एक से छ वर्ष तक के सामान्य बच्चे जिस प्रकार क्रम से सीखते हैं, उसी प्रकार इजाबेला ने क्रम से सीखना आरम्भ किया, लेकिन सामान्य बच्चो की अपेक्षा तेजी से। साढे आठ वर्ष की अवस्था तक वह एक सामान्य स्तर तक पहुँच गई, यद्यपि उसकी प्रशिक्षा एक और तीन वर्ष के बीच के बच्चे के समान आरम्भ हुई थी। सक्षेप मे, इजाबेला ने दो वर्षो म उतनी सीख प्राप्त कर ली जिसके लिए साधारणतः छ वर्ष की आवश्यकता होती है। कुछ समय बाद उसने विद्यालय मे प्रवेश किया जहाँ वह स्कूल के प्रत्येक कार्यक्रम म भाग लेने लगी।

डेविस का कहना है कि अन्ना और इजाबेला, दोनो का आरम्भ मे बौद्धिक स्तर शून्य बिन्दु पर था और दोनो का बौद्धिक स्तर बाद मे काफी उच्च बिन्दु तक पहुँच गया, पर इजाबेला दो वर्ष मे ही सामान्य बुद्धि की हो गई जबकि अन्ना साढे चार वर्षो के बाद भी बहुत पिछडी हुई रही। इस भिन्नता का क्या कारण है? डेविस का विचार है कि-

"सम्भवत अन्ना का जन्मजात सामर्थ्य कम था। किन्तु शायद इजाबेला का अपनी माँ का मित्रतापूर्ण सम्पर्क शिशु काल मे अधिक मिला था, उसको पाने के बाद उसकी शिक्षा के लिए नियमित ढग से बडे अध्यवसायपूर्वक प्रयत्न भी किया गया था।

बड़ा होता जाता है, विशेष रूप से एक जटिल और विभिन्नतापूर्ण समाज मे, त्यों-त्यों वह सीखता है कि सन्तोष के और भी वैकल्पिक स्रोत हैं और मूल्यो मे चुनाव (A choice among values) का अस्तित्व है।[1]

जन्म के समय बच्चे म केवल ऐसी क्षमताएँ विद्यमान होती हैं जिनका विकास करके उसे एक सामाजिक मानव बनाया जा सके। यह कार्य विभिन्न प्राथमिक समूहो और सस्थाओ द्वारा किया जाता है। व्यक्ति इनसे जितना अधिक अनुकूलन कर पाता है, समाजीकरण की प्रक्रिया उतनी ही सुगम और पूर्ण होती है। अनुकूलन न कर पाने अथवा कम होने का अभिप्राय है व्यक्तित्व का अविकसित रह जाना। बाल्यकाल से लेकर जीवन-पर्यन्त विभिन्न समूहो और सस्थाओ का व्यक्ति के समाजीकरण मे योग होता है। यहाँ हम कुछ प्रमुख समूहों और सस्थाओ को लेंगे।

(1) परिवार (The Family)

परिवार वह प्राथमिक और सबसे महत्वपूर्ण सस्था है जो बच्चे के समाजीकरण के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी है। बच्चा परिवार म जन्म लेता है और माँ तथा परिवार के अन्य सदस्यो के सम्पर्क मे आता है। वह उनके व्यवहारो स प्रभावित होने लगता है और शनै-शनै उन्ही के व्यवहारो का अनुकरण भी करने लगता है। परिवार का प्रभाव प्राथमिक, स्थाई और आन्तरिक होता है। परिवार म उसे भाषा सस्कृति और व्यवहार-प्रतिमान मिलते हैं। परिवार म ही उस प्रस्थिति व काय का ज्ञान होता है। परिवार के सदस्यो के पारस्परिक प्रम, स्नेह त्याग, अधिकार मार्ग-निर्देशन आदि का बच्चे के व्यक्तित्व पर जितना प्रभाव पडता है उतना अन्य किसी सस्था का नही। अनुकरण (Imitations) की प्रक्रिया परिवार म जितनी स्पष्ट होती है उतनी अन्यत्र कही नही। परिवार के सदस्यो के आचरणो स पारिवारिक नियमो परम्पराओ और आदर्शों स व्यक्ति मे प्रारम्भ से ही अनुशासित-जीवन की भावना का विकास होता है। यही अनुशासन उसे भविष्य मे राज्य के नियमो का पालन करने मे और सामाजिक मूल्यो का समाज के एक अनुशासित सदस्य क रूप म सम्मान करन म सहायता देता है।

बच्चा अधिकाशत अपने परिवार का प्रतिरूप होता है। समाजीकरण की दृष्टि से स्वस्थ परिवार का विशेष महत्व है। परिवार का विघटन समाजीकरण मे बाधक होता है यही कारण है कि विघटित परिवारो (Broken families) के बच्चों म प्राय अपराधी प्रवृत्तियो का विकास होता है। माता पिता की सफलता या असफलता शुभ विचार या अशुभ विचार व्यवहार क ढग चेहरे पर पडने वाली झिडकनो आदि का बालक पर गहरा प्रभाव पडता है। इनसे उसका भावी व्यक्तित्व भी प्रभावित होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया मे परिवार के महत्व को इगित करते हुए टरमन ने तो यहा तक कह दिया है कि केवल व बच्चे ही विद्व ह का मुलमय बना

1 *Broom and Selznick* op cit P 98 99

सकते हैं जिनके माता-पिता का पारिवारिक जीवन सुखी था। इसमें सन्देह नहीं कि विघटित परिवार बच्चे का समाजीकरण करने में प्राय असमर्थ रहते हैं अथवा अधिक सफल नहीं हो पाते।

(2) क्रीड़ा समूह (Play Groups)

समाजीकरण करने वाला दूसरा प्राथमिक प्रमुख समूह क्रीडा-समूह है। बच्चों का सम्पर्क अपने खेल के साथियों से होता है और उसे विभिन्न आदर्शों, रुचियों तथा स्वभाव वाले दूसरे बालकों के साथ अनुकूलन करना पड़ता है। इससे बच्चे में अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण अथवा अपनी इच्छाओं का दमन करने की शक्ति विकसित होती है। खेल में विजय और पराजय से बच्चे में दो महत्वपूर्ण सामाजिक गुण पनपते हैं—एक शासन करने या नेतृत्व करने का और दूसरे, कभी-कभी परिस्थिति के अनुसार स्वयं दूसरे का अनुसरण करने का। ये गुण बच्चे को आगे चल कर समाज की लगभग प्रत्येक स्थिति से अनुकूलन करने की क्षमता प्रदान करते हैं। प्राय देखा गया है कि क्रीडा-समूहों में लोकप्रिय और कुशल सिद्ध होने वाले बच्चे भविष्य में भी जीवन में सफल व्यक्तित्व का प्रदर्शन करते हैं।

जो नई-नई बातें बच्चे परिवार में नहीं सीख पाते वे अपने खेल-साथियों अथवा मित्रों के समूह में उन्हें जानने को मिल जाती हैं। ब्रूम तथा सेल्ज़निक ने लिखा है कि मित्रों के समूह (Peer Groups) में सामाजिकता सीखी जाती है। हम सहयोग और सहिष्णुता स्वत ही मित्रों के समूहों में सीखते चले जाते हैं। बच्चे के लिए मित्रों के समूह मिलने-जुलने की दृष्टि से तथा समाजीकरण के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं—विशेषकर आधुनिक जटिल समाज में जहाँ कि नगरीय परिवार छोटे होते हैं और बाह्य समाज से भी इनका सम्पर्क कम होता है। मित्रों के समूह में वह ज्ञान भी मिल जाता है जो परिवार में नहीं मिल पाता।

(3) पड़ोस (Neighbourhood)

पड़ोस वह तीसरा महत्वपूर्ण प्राथमिक समूह है जो व्यक्ति के समाजीकरण में सहायक है। बच्चों के लिए पड़ोस अधिकांशत मित्र-समूह के रूप में ही होता है, लेकिन वयस्कों के लिए यह समाजीकरण का महत्वपूर्ण साधन है। ग्रामीण जीवन में जहाँ जीवन की अनेक गतिविधियाँ प्राय. पड़ोस तक ही सीमित रहती हैं वहाँ उसका महत्व समाजीकरण की प्रक्रिया में निरन्तर बना रहता है। नगरीय जीवन में पड़ोस यद्यपि छोटा होता है और कई बार तो एक मकान में रहने वाले लोग भी परस्पर परिचित नहीं होते, फिर भी समाजीकरण में पड़ोस का योगदान रहता ही है। साथ ही यह सीखना होता है कि पड़ोसियों से कैसे व्यवहार किया जाय। साथ ही यह भी महत्वपूर्ण है कि बालक वेश-भूषा, पहनावे, बात-चीत के ढंग आदि की अनेक बातें अनजाने ही पड़ोसियों से सीख लेते हैं।

(4) नातेदारी-समूह (Kin-Group)

समाजीकरण करने वाली अन्य प्राथमिक संस्था नातेदारी-समूह है, जिसमें वे

लोग आते हैं जो जन्म अथवा विवाह के आधार पर हमसे सम्बन्धित हैं। इनमें से प्रत्येक के साथ हमारा एक-सा व्यवहार नहीं होता, क्योंकि हमारे सम्बन्धियों में भाई-बहिन, जीवन-साथी, साले-साली, सास-श्वसुर, उनके दूर के सम्बन्धी आदि सम्मिलित होते हैं। किसी से हँसी-मजाक के सम्बन्ध होते हैं तो किसी से परिहार्य के सम्बन्ध। इन सब के अलग-अलग सम्बन्ध-प्रतिमान होते हैं जो हमें सीखने पड़ते हैं। इस प्रकार नातेदारी समूह समाजीकरण में विशेष भूमिका अदा करता है।

(5) विवाह (Marriage)

समाजीकरण करने वाली एक अत्यन्त प्रमुख और प्राथमिक संस्था विवाह है। वैसे तो यह नातेदारी सम्बन्धों का ही एक प्रकार है, पर इसका अन्य सम्बन्धों में विशिष्ट स्थान है। वैवाहिक जीवन व्यक्ति का वस्तुतः नवीन जीवन होता है। इस जीवन का प्रारम्भ होते ही व्यक्ति को स्वयं के तथा अपनी पत्नी के व्यवहारों के बीच नवीन सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है। विवाह से पूर्व जो युवक और युवती पृथक्-पृथक् विचारधाराओं, आदर्शों रहन-सहन और प्रथाओं के मध्य रहते आए थे, वे ही विवाह के बाद पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के व्यवहारों, आदर्शों व विचारों में सन्तुलन बनाए रखने की चेष्टा करते हैं। वही वैवाहिक जीवन सर्वाधिक सफल होता है जिसमें पति-पत्नी की मनोवृत्तियों में अधिकाधिक एकरूपता आ जाती है। अनुकूलन की यह मात्रा जितनी अधिक होती है, समाजीकरण की प्रक्रिया उतनी ही अधिक सफल होती है। विवाह में व्यक्ति अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण बनता है। उसकी व्यक्तिवादी भावना अपेक्षाकृत शिथिल हो जाती है और उसके स्थान पर पारिवारिक कल्याण की भावना अधिक विकसित होती है। उसमें त्याग भावना का विकास होता है और वह कर्त्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक हो उठता है। व्यक्ति की ये सभी दशाएँ समाजीकरण में सहायक होती हैं। यदि वैवाहिक जीवन से अनुकूलन नहीं हो पाए तो समाजीकरण की प्रक्रिया में बड़ी बाधा उत्पन्न हो जाती है।

(6) शिक्षण संस्थाएँ (Educational Institutions)

इन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण द्वैतीयक संस्थाओं का वास्तविक प्रभाव तब प्रारम्भ होता है जब बालक किशोरावस्था को पार कर जाता है। यह वह अवस्था होती है जिसमें बच्चे में नवीन विचार उत्पन्न होने लगते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने में, पुस्तकों के ज्ञान और साहित्य की मीमांसा से बच्चे के सैद्धान्तिक अनुभवों में वृद्धि होती है। बच्चे में उन आदतों का निर्माण होने लगता है जो जीवन-पर्यन्त उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बनी रहती हैं। शिक्षण संस्थाओं के शिक्षक और श्रेष्ठ विद्यार्थी बच्चे के लिए आदर्श नमूना बन जाते हैं और सामाजिकता की प्रक्रिया में सहायक होते हैं। इस काल में बच्चे के शारीरिक अवयवों में विकास होता है अतः उसमें नवीन भावनाएँ जन्म लेती हैं। इन भावनाओं के अनुसार ही व्यवहार-प्रतिमानों में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। बच्चे को शिक्षण संस्था में अपने से भिन्न आयु एवं लिंग के सदस्यों में अनुकूलन करना पड़ता है। इस प्रकार उसकी अनुकूलन

क्षमता या अभियोजनशीलता (Adaptability) में विकास होता है। शिक्षण संस्थाओं में बच्चे में अनुशासन की भावना बन सकती है और अनुशासन समाजीकरण का आधार है।

(7) अन्य संस्थाएं (Other Institutions)

समाजीकरण जीवन-पर्यन्त चलने रहने वाली प्रक्रिया है और व्यक्ति को प्रत्येक स्तर पर सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करना पड़ता है, अतः केवल समूह और संस्थाएं ही नहीं बल्कि और भी अनेक प्रकार की संस्थाएँ व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व को प्रभावित करती रहती हैं। इन विभिन्न अन्य संस्थाओं को हम निम्नलिखित शीर्षकों में अभिव्यक्त कर सकते हैं—

(अ) राजनीतिक संस्थाएं (Political Institutions)—ये संस्थाएं व्यक्ति को शासन, कानून और अनुशासन से परिचित कराती हैं। इनके द्वारा हम राजनीतिक ढांचे और समाज-दर्शन को समझ पाते हैं। राजनीतिक संस्थाओं में विधान-सभा, *राजनीतिक दल, दबाव एवं हित समूह, सरकार आदि सम्मिलित हैं।* इन संस्थाओं से ही व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्तव्यों का बोध होता है। द्वैतीयक समूहों से अनुकूलन करने में राजनीतिक संस्थाओं का ज्ञान बड़ा सहायक होता है।

(ब) आर्थिक संस्थाएं (Economic Institutions)—विभिन्न आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा, व्यवस्था, सहकारिता, समायोजन आदि के सिद्धान्तों को सीखता है। इस प्रकार समाज में अनुकूलन करना उसके लिए अधिक सरल हो जाता है। आर्थिक संस्थाओं के फलस्वरूप ही व्यक्ति विभिन्न व्यावसायिक संघों से सम्बन्धित होता है। आधुनिक युग में आर्थिक जीवन की सफलता समाजीकरण को सफल बनाने में अत्यधिक सहायक है।

(स) धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institutions)—धार्मिक संस्थाओं से व्यक्ति में शान्ति, न्याय, पवित्रता, सच्चरित्रता और नैतिकता के प्रति प्रेम विकसित होता है। वह हर स्थिति में प्रसन्न रहना और अपना कर्त्तव्य पालन करना सीखता है। धार्मिक संस्थाएँ हमारे विश्वासों को दृढ़ करना सिखाती हैं। हिन्दू धर्म ने व्यक्तिगत समाजीकरण में जितना योग दिया है वह सम्भवतः विश्व के अन्य किसी भी समाज में देखने को नहीं मिलता।

(द) सांस्कृतिक संस्थाएँ (Cultural Institutions)—ये संस्थाएँ व्यक्ति को समाज की संस्कृति से परिचित कराती हैं। प्रथाओं, परम्पराओं, साहित्य, विश्वास, कला, भाषा आदि से जितना अधिक अनुकूलन कोई व्यक्ति कर सकता है उतना ही अधिक उसके व्यक्तित्व का विकास हो पाता है। सांस्कृतिक संस्थाएँ ऐसे वातावरण का निर्माण करती हैं जिसमें व्यक्ति सरलतापूर्वक अनुकूलन कर पाता है। इस तरह समाजीकरण की प्रक्रिया गतिमान होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राथमिक एवं द्वैतीयक दोनों ही संस्थाओं और समूहों का व्यक्ति के समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामाजिक सीख की प्रक्रिया

विभिन्न संस्थाओं अथवा एजेन्सियों के द्वारा क्रियाशील होती है। व्यक्ति इनसे जितना अनुकूलन कर लेता है समाजीकरण की प्रक्रिया उतनी ही अधिक पूर्ण होती है।

समाजीकरण के सिद्धान्त
(Theories of Socialization)

समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है कि समाजीकरण कैसे होता है, बालक के मस्तिष्क में समाजीकरण की प्रक्रिया में क्या प्रेरणाएँ कार्य करती हैं, आदि। कूले, मीड, फ्रॉयड दुर्खीम आदि समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के सिद्धान्त को बालक में "आत्म विकास" (Development of the Self) के आधार पर समझाया है। अतः इन समाजशास्त्रियों के सिद्धान्तों को जानने से पूर्व हमें समझ लेना चाहिए कि "आत्म" है क्या? "आत्म" (Self) से अभिप्राय बालक द्वारा अपने अस्तित्व के बोध से है। डेविस के शब्दों में, "बच्चे का दूसरे व्यक्तियों से जब संवहनात्मक सम्पर्क (Communicative Contact) होता है, तब 'आत्म" का विकास होता है। आत्म' एक मानसिक तत्त्व है शारीरिक सत्ता नहीं। जब बालक अपने आप को पहचान जाय, अपने स्वयं के सन्दर्भ में और दूसरों की दृष्टि में तो इसका अभिप्राय है कि बालक को अपना अस्तित्व-बोध हो गया है। "आत्म अथवा 'स्व समाजीकरण का केन्द्र बिन्दु है क्योंकि व्यक्ति को आत्म' ज्ञान के बाद ही व्यक्तित्व प्राप्त होता है। "आत्म' मनोवैज्ञानिक अस्तित्व का बोध कराता है। 'आत्म का अभिप्राय यहाँ घमण्ड अथवा अहंकार से नहीं बल्कि "अपने स्वयं के बारे में ज्ञान से है—ऐसा ज्ञान जो समाज में अन्त क्रिया करने के लिए व्यक्ति को समर्थ बनाता है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त तब हम क्रमश कूले मीड फ्रॉयड और दुर्खीम के सिद्धान्त को लेंगे।

कूले का सिद्धान्त
(Cooley's Theory of Socialization)

चार्ल्स कूले ने समाजीकरण के अपने सिद्धान्त को व्यक्ति तथा समाज के बीच सम्बन्धों और उनके मूल्यांकन के आधार पर स्पष्ट किया है। कूले का अभिमत है कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर जो सैद्धान्तिक व्याख्याएँ की गई हैं वे वास्तव में भ्रामक हैं। मनुष्य की प्रकृति का निर्माण पारस्परिक सम्पर्क से होता है सम्पर्क द्वारा ही व्यक्ति एक दूसरे के विचारों को समझ पाता है और उन्हीं के आधारों पर अपने बारे में एक धारणा बनाता है।

कूले के अनुसार प्रत्येक बालक निम्नलिखित तीन अवस्थाओं पर विचार करता है—[1] (अ) दूसरे लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं? (ब) दूसरे लोगों ने जो धारणा मेरे बारे में बनायी है उसके सन्दर्भ में मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ?

1 सिंघी एवं गोस्वामी 'समाजशास्त्र विवेचन से उद्धृत, पृष्ठ 128.

(स) मैं अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ, अर्थात् स्वयं को हीन समझता हूँ या श्रेष्ठ ? कूले का कहना है कि समाज रूपी दर्पण मे व्यक्ति अपना बिम्ब देखता है। जिस प्रकार हम दर्पण मे देखते हैं कि हमारे वस्त्र स्वच्छ हैं अथवा नहीं, मुँह साफ है या उस पर कुछ लगा हुआ है, उसी तरह बालक इस समाज रूपी दर्पण मे अर्थात् समूह की दृष्टि से अपने बारे में जानना चाहता है। दूसरे लोगों का उसके प्रति जो व्यवहार है, वही उसके लिए दर्पण है जिसमें वह स्वयं को देखता है। जब उसे पता चल जाता है कि समाज की उसके बारे में क्या धारणा है तो फिर वह अपने बारे में राय बनाता है और फलस्वरूप अन्ततः इस राय से या तो उसके मन मे हीनता के भाव जाग्रत होते हैं अथवा श्रेष्ठता के भाव पैदा होते हैं।

कूले ने अपने सिद्धान्त मे समाजीकरण और आत्म-विकास का सीधा सम्बन्ध माना है। "आत्म" अथवा "स्व" का विकास सामाजिक अनुभव का विषय है और यह सामाजिक अन्त क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। "व्यक्ति समाज के द्वारा अपना मूल्यांकन करता है और उसी के अनुसार हीनता या श्रेष्ठता का अनुभव कर अपने समाजीकरण की दिशा निर्धारित करता है। कूले का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति समाज का प्रतिबिम्ब है, यह प्रतिबिम्ब अन्त क्रिया और सामाजिक मानदण्डो के परिपालन के रूप मे और भी स्पष्ट झलकता है।"[1]

मीड का सिद्धान्त

(Mead's theory of Socialization)

हम कह चुके हैं कि "समाजीकरण का केन्द्र-बिन्दु 'आत्म' (Self) या 'अहम्' (Ego) का उद्भव और क्रमिक विकास है। 'आत्म' की पदावली में ही व्यक्ति का एक रूप निश्चित होता है तथा मस्तिष्क अपना कार्य आरम्भ करता है।"[2] जार्ज एच मीड का विचार था कि "आत्म' की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका सहज क्रियात्मक चरित्र है। इससे उनका अभिप्राय यह है कि 'आत्म स्वयं मे कर्त्ता भी हो सकता है और कर्म भी। वह स्वयं अपने बारे मे विचार कर सकता है, अथवा जैसा कि अक्सर हम कहते हैं, वह स्वयं के प्रति चेतनाशील हो सकता है। इसके बाद मीड कहते है कि आत्मचेतना या आत्मवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि—कोई व्यक्ति अपने से बाहर निकल कर अपने चिन्तन का विषय स्वयं किस प्रकार बन सकता है ? —वह ऐसा केवल दूसरो के माध्यम से कर सकता है, अर्थात् थोडी देर के लिए अपने को दूसरो के रूप मे मानकर वह अपनी ओर देखे, मानो वह दूसरो की आँखों से अपने को देख रहा है। इस प्रकार वह कल्पना करना सीखता है कि वह दूसरो को कैसा दिखाई पडता है दूसरे व्यक्ति उसकी आकृति के बारे मे क्या सोचते हैं और इस प्रकार वह यह भी सीख जाता है कि दूसरों के निर्णय के प्रति अपनी कल्पना के

1. सिंघी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन, पृष्ठ 129
2. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 178

अनुसार वह किस प्रकार प्रतिक्रिया करेगा।"[1] यहीं से समाजीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

मीड का सिद्धान्त पर्याप्त जटिल है, अतः उसे सरलीकृत रूप में ही साराश मे समझाया गया है। बालक दूसरो की दृष्टि को इसलिए देखता है क्योंकि वह समझता है कि दूसरो को सन्तुष्ट करके ही वह मानसिक सन्तुष्टि पा सकेगा अथवा दूसरो को पसन्द रख कर ही वह अपने आवश्यकताओ को पूरी कर सकेगा। समाज मे उसकी अन्त क्रिया प्रतीकात्मक सचार द्वारा होगी, अत वह भाषा सीखता है। वह कुछ प्रश्नो का उत्तर सीख लेता है और स्वय मे ही प्रश्नोत्तर करते रहता है। बच्चे की स्वय के बारे मे चेतना ही उसके 'आत्म' का निर्माण करती है और इस 'आत्म' का विकास हो समाजीकरण का मुख्य उद्देश्य है। मीड के अनुसार, बच्चा शुरू से ही अपने माता-पिता, भाई-बहिन तथा परिवार के अन्य सदस्यो द्वारा किए जाने वाले कार्यों से प्रभावित होने लगता है, पर उसमे 'आत्म' का विकास तब होता है जब गुडियो आदि के खेल मे वह स्वय माता-पिता या भाई-बहिन के कार्य की भूमिका निभाने लगता है। उदाहरणार्थ वह गुडिया को बाथरूम मे नहाने के लिए ले जाता है क्योंकि गुडिया का तादात्म्य उसने शायद अपनी माँ अथवा बहन से कर लिया है। मीड के अनुसार इस प्रकार की सभी क्रियाओ के दौरान बच्चा अपने बारे मे एक विशेष धारणा बना लेता है। यह धारणा उस बच्चे के प्रति दूसरे लोग अथवा परिवार के अन्य सदस्यो के विचारो से प्रभावित होती है। वस्तुत, बच्चे की यही तस्वीर उसका "आत्म" है और इस आत्म के समुचित विकास से ही उसके व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव होता है, तथा इस आत्म का विकास ही समाजीकरण की प्रक्रिया का सर्व-प्रमुख उद्देश्य है।

फ्रॉयड का सिद्धान्त
(Freud's Theory of Socialization)

फ्रॉयड ने अपने सिद्धान्त को काम-वृत्तियो (Sex instincts) के आधार पर स्पष्ट किया है। फ्रॉयड का मत है कि काम-वृत्तियाँ ही मानव के सम्पूर्ण व्यवहार को सचालित करती हैं।

फ्रॉयड ने समाजीकरण के सिद्धान्त को "इड" (Id) "अहम्" (Ego) तथा 'पराहम्" (Super-ego) शब्दो द्वारा समझाया है। "इड" व्यक्ति की मूल प्रेरणाओ से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दो मे हमारी सभी इच्छाएँ "इड' द्वारा प्रेरित होती है। "अहम्' वास्तविकता है अर्थात् समाज ने व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के लिए क्या नियम आदि बना रखे हैं—इसका ज्ञान हमे "अहम्" देता है "पराहम्' व्यक्ति की वह चेतना अथवा अन्तरात्मा है जो निश्चय करती है कि व्यक्ति को अमुक कार्य करना चाहिए अथवा नही। हम एक उदाहरण द्वारा "इड" 'अहम्" तथा "पराहम्' की

1 वही, पृष्ठ 179

भूमिकाओं को समझ सकते हैं। मान लीजिए कि व्यक्ति मे एक सुन्दर लडकी को देखकर उससे यौन सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा जाग्रत होती है। यह इच्छा व्यक्ति के "इड" द्वारा प्रेरित है। "इड" इस इच्छा को "अहम्" तक पहुँचा देगा और तब "अहम्" यह देखेगा कि समाज के नियम द्वारा क्या यह यौन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है ? "अहम्" यह भी कहेगा कि समाज के नियमों के अनुसार अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री से यौन-सम्बन्ध करना असामाजिक है। अन्त मे यह मामला "पराहम्" के पास जाएगा जो कि व्यक्ति की अन्तरात्मा है। "पराहम्" निश्चय करेगा कि व्यक्ति को लडकी से काम सम्बन्ध स्थापित करने का का कार्य करना चाहिए अथवा नही। दूसरे शब्दों में "पराहम्" इस बात का निर्णय करेगा कि व्यक्ति को क्या करना चाहिए। फ्रॉयड का कहना है कि जिन व्यक्तियो का समाजीकरण हो चुका है वे प्राय "अहम्" द्वारा भेजी गए इच्छा को "पराहम्" से स्वीकार करवा लेते हैं फलस्वरूप समाज में व्यवस्था बनी रहती है। पर जिन व्यक्तियो के "अहम्" और "पराहम्" मे सघर्ष होता है, वे गैर-सामाजिक कार्यों मे सलग्न होकर समाज के सगठन को हानि पहुँचाते हैं। फ्रॉयड का निष्कर्ष है कि "इड", "अहम्" एवम् 'पराहम्' के अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया मे ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है।[1]

"इड" बच्चे की बाल्यकाल की उन क्रियाओ मे स्पष्ट होता है जब वह अचेतन रूप से व्यवहार करता है। इसके बाद परिवार मे माता-पिता की सीख और सामाजिक परम्पराओ व मूल्यो के शिक्षण आदि से 'अहम्' का विकास होता है। तत्पश्चात् जब बच्चा किसी बाह्य दबाव के फलस्वरूप अपनी संस्कृति के अनुसार व्यवहार करने लगता है तो वह "पराहम्" या समाजीकृत स्थिति है। प्राय बच्चे को अनेक ऐसी क्रियाएँ नही करने दी जाती जिन्हें वह करना चाहता है और अनेक ऐसे कार्य करने के लिए कहा जाता है जो वह करना नही चाहता। इसी कारण बच्चे मे एक ही व्यक्ति के प्रति चाहे वह माँ बाप ही क्यों न हो प्रेम या द्वेष की भावना साथ साथ पाई जाती है। "पराहम्" (Super-ego) के कमजोर तथा अचेतन इच्छाओ के अधिक शक्तिशाली होने पर व्यक्ति प्राय अपराध करने लगता है। यही कारण है कि सभी सस्थाओ का प्रयास यही होता है कि व्यक्ति मे "पराहम्' का विकास किया जाय। इस कार्य मे परिवार का स्थान सर्वोपरि है। उल्लेखनीय' है कि वर्तमान मे फ्रॉयड का सिद्धान्त उपयुक्त नही माना जाता।

दुर्खीम का सिद्धान्त
(Durkheim's Theory of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया को दुर्खीम ने "सामूहिक प्रतिनिधान (Collective

1. सिंघी एव गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन, पेज 128

representation) की धारणा के आधार पर स्पष्ट किया है। दुर्खीम का कहना है कि समाज में कुछ भावनाएँ और विचार प्राय सभी के द्वारा मान्य होते हैं। सम्पूर्ण समूह की स्वीकृति होने के कारण ही ये भाव और विचार सम्पूर्ण समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस तरह एक सामूहिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इन्ही धारणाओ व विचारो को दुर्खीम ने "सामूहिक प्रतिनिधानो' की सज्ञा दी है। सामूहिक प्रतिनिधान का सामाजिक मूल्यों से घनिष्ट सम्बन्ध होता है, अत इनके प्रति सदस्यो के मन से सम्मान का भाव तो होता ही है, किन्तु साथ ही वे इनकी शक्ति को अपने से कहीं ऊँचा भी समझते हैं। इस प्रकार सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार ही व्यक्ति अपने व्यवहारों को नियन्त्रित रखते हैं। स्पष्ट है कि सामूहिक प्रतिनिधान समाजीकरण का साधन और उद्देश्य दोनो ही हैं।

4

समूह

GROUPS

समूह मानव समाज की अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई है और यह कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि मनुष्य का जीवन सही अर्थों मे सामूहिक जीवन है। मानव समाज मे समूहो के महत्व को देखते हुए बहुत से विद्वानो ने तो 'समूह' शब्द को सामाजिक सगठन का ही पर्याय कह दिया है। समाज-शास्त्र मे सामाजिक समूहो की अवधारणा इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे विषय की आधारशिला के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। यदि हम थोडा भी ध्यान से विचार करे तो पायेंगे कि हम समूह के बिना जीवित ही नही रह सकते। अपनी विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हर व्यक्ति कुछ समूहो का सदस्य होता है। हम मे से प्रत्येक व्यक्ति किसी परिवार, पडौस, मोहल्ले, गाँव या नगर का सदस्य है। हम व्यावसायिक आधार को लें या आयु-आधार को अथवा लिंग-आधार को, हम किसी न किसी समूह के सदस्य होते हैं। व्यावसायिक आधार पर हम श्रमिक या अध्यापक या कलाकार या इन्जीनियर या व्यापारी-समूह के सदस्य हो सकते हैं। आयु के आधार पर हम बाल या प्रौढ़ या वृद्ध समूहो के सदस्य होते हैं। इसी प्रकार लिंग के आधार पर हम स्त्री अथवा पुरुष समूह के सदस्य है। समूह किसी भी प्रकृति के हो, वे व्यक्ति का समाजीकरण करते हैं और उसे सामाजिक क्रियाओ मे भाग लेने की प्रेरणा देते हैं। वास्तव मे मानव-जीवन को सार्थक बनाने मे समूहो का कल्पनातीत योगदान है। समाजशास्त्र मे समूह के महत्व को इतनी अधिक मान्यता दी गई है कि अनेक समाजशास्त्रियो ने तो सामाजिक घटनाओ के अध्ययन के लिए केवल समूहो का अध्ययन आवश्यक माना है तथा वे 'समूह उपागम' (Group approach) का उपयोग करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय मे हमने प्राथमिक तथा द्वैतीयक सामाजिक समूहो को लिया है। हमारे अध्ययन की रूपरेखा अग्रवत् है—

1. Ibid.

1 सामाजिक समूह का अर्थ एव परिभाषा
2 सामाजिक समूहो की विशेषताएँ
3 सामाजिक समूहो का वर्गीकरण
4 प्राथमिक समूह अर्थ एव परिभाषा
5 प्राथमिक समूहो की विशेषताएँ
6 प्राथमिक समूहों का महत्त्व
7 प्राथमिक समूहो के कार्य
8 द्वैतीयक समूह अर्थ एव परिभाषा
9 द्वैतीयक समूहो की विशेषताएँ
10 द्वैतीयक समूहों का महत्व
11 प्राथमिक तथा द्वैतीयक समूहो मे अन्तर

सामाजिक समूह का अर्थ एव परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Group)

समूह समाज की इकाई है। सामाजिक समूह सामाजिक प्राणियो के उस सग्रह को कहते हैं जो आपस मे 'सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सापिर (Sapir) के अनुसार, 'कोई भी समूह इस कारण बनता है क्योकि उसमे ऐसे हित या स्वार्थ रहते हैं जो समूह के सदस्यों को परस्पर बाँधे रखते हैं'' जब व्यक्ति 'एक या सामान्य स्वार्थ अथवा हित' से आबद्ध हो जाते हैं तो समूह उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, श्रमिको का सामान्य हित इस बात में है कि पूँजीपति उनका शोषण न कर सकें। इसके लिए वे श्रमिक सघ का सगठन करते हैं। पुरुष और स्त्री के 'एक से' स्वार्थ हैं। दोनो रहने को मकान, खाने को रोटी, पहिनने को कपडा और जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति चाहते हैं। उनके ये सामान्य स्वार्थ परिवार के समूह को जन्म दे देते हैं। किसी भी सामाजिक समूह का सम्बन्ध विशेष रूप से पारस्परिक जागरूकता (Mutual awareness) और आदान-प्रदान की क्रियाओ (Reciprocity) से होता है।

सामाजिक समूह को पारिभाषिक रूप मे स्पष्ट करते हुए मेकाइवर तथा पेज (Mac Iver and Page) ने लिखा है कि 'समूह से हमारा तात्पर्य मनुष्यो के किसी ऐसे सग्रह से हैं जिनके आपस मे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।[1] स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धो का आधार पारस्परिक जागरूकता और सहयोग की भावना है।

ऑगबर्न एव निमकॉफ (Ogburn & Nimkoff) के अनुसार 'जब कभी दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होकर एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तब वे एक समूह का निर्माण करते हैं।[2] इस परिभाषा मे प्रकट है कि समूह का निर्माण

1 मेकाइवर तथा पेज समाज, पृष्ठ 197
2 *Ogburn & Nimkoff* A Handbook of Sociology, p 172.

तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि कुछ व्यक्ति अपनी क्रियाओ से एक दूसरे को प्रभावित न करें।

सैण्डरसन (Dwight Sanderson) की यह परिभाषा अधिक स्पष्ट है कि "समूह दो अथवा दो से अधिक उन व्यक्तियो का सग्रह है जिनके बीच मनोवैज्ञानिक अन्त क्रियाओं के निश्चित प्रतिमान (Established patterns) पाए जाते हो, यह अपने सदस्यो तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा एक सत्ता के रूप मे मान्य होता है क्योंकि यह सामूहिक व्यवहार का ही एक विशेष स्वरूप है।" इस परिभाषा से समूह की तीन विशेषताएँ स्पष्ट हैं—(i) समूह का निर्माण कुछ व्यक्तियो की मानसिक अन्त क्रियाओ द्वारा होता है, (ii) समूह एक इतना प्रभावशाली तत्त्व है कि इसके सदस्य और दूसरे व्यक्ति इसे एक सत्ता के रूप मे देखते हैं, एव (iii) समूह सामूहिक व्यवहार का ही एक विशेष स्वरूप है [redacted]

समूह को समझने के लिए मर्टन (Merton) द्वारा बताए गए ये तथ्य महत्वपूर्ण हैं—(अ) समूह मे दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियो का होना आवश्यक है, (ब) समूहों मे सम्बन्ध होना आवश्यक है और सम्बन्ध तभी माना जाएगा जबकि व्यक्तियो मे बार-बार अन्त क्रिया होती हो, एव (स) हम किसी भी समूह के सदस्य तभी माने जाएँगे जब हमारे मे समूह के प्रति 'हम की भावना' तथा सदस्य होने का भाव हो, अर्थात् हम स्वय अपने आपको समूह का सदस्य स्वीकार करें। साथ ही समूह के व्यक्तियों का हमे सदस्य के रूप मे स्वीकार करना और अन्य समूहो द्वारा भी हमे उस समूह के सदस्य के रूप मे मानना आवश्यक है।

स्पष्ट है कि यद्यपि समूह की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है, तथापि सभी परिभाषाएँ इस बात की ओर सकेत करती हैं कि समूह दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियो का सग्रह है जो सामाजिक अन्त क्रियाओ द्वारा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और कुछ विशेष प्रतीकों के कारण एक दूसरे के द्वारा पहिचाने जाते हैं।

सामाजिक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Group)

उपर्युक्त विवेचन से सामाजिक समूहों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट होती है, जो सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(1) समूह उन व्यक्तियो का सग्रह है जिनके बीच प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। सामाजिक अन्त क्रियाओं (Social interactions) के अभाव में केवल शारीरिक निकटता से सामाजिक समूह का निर्माण नहीं हो सकता।

(2) समूह का एक निश्चित ढांचा होता है और इसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य की एक विशेष स्थिति होती है अर्थात् सदस्यो मे एक स्तरीकरण (Stratification) पाया जाता है।

(3) समूह मे एकता और सहयोग की भावना का होना आवश्यक है जिसे "हम भावना" (We Feeling) कहा जा सकता है। इसके कारण ही समूह के सदस्य परस्पर सहयोग करते हैं और समूह को हानि पहुँचाने वाली शक्तियो का मिलकर मुकाबला करते हैं।

(4) समूह एक सत्ता है जिसके अस्तित्व [redacted] सामने व्यक्ति अपने अस्तित्व को गौण मानता है।

(5) समूह के सदस्यो मे सामान्य हित, उद्देश्य या दृष्टिकोण का होना आवश्यक है, क्योंकि इन पर ही सदस्यो की एकता आश्रित है। इसी बात की ओर सकेत करते हुए स्माल (Small) ने लिखा है कि "समूह उन थोडे या बहुत व्यक्तियों को कहते हैं जिनमे इस प्रकार के सम्बन्ध हो कि वे एक समझे जाएँ।" व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से भिन्न होने पर भी सदस्यो मे आपस में सगठन रहता है।

(6) यद्यपि व्यक्ति किसी न किसी समूह का सदस्य अवश्य होता है, लेकिन एक समूह-विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की रुचि और योग्यता पर निर्भर है कि वह किस-किस समूह की सदस्यता स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण से परिवार, क्लब, पडोस, श्रमिक सघ, जाति, विद्यालय आदि विभिन्न सामाजिक समूह कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

(7) प्रत्येक समूह मे अपनी कुछ विशेषताएँ होती हैं जो उसने स्वजातीय तथा विजातीय समूहों से अलग करती हैं। समूह की इन विशेषताओ का समूह के प्रत्येक सदस्य पर न्यूनाधिक प्रभाव पडता है।

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण
(Classification of Social Groups)

सामाजिक समूहों की सख्या इतनी अधिक है कि सभी का उल्लेख करना अत्यधिक कठिन है। अत समाजशास्त्रियो ने विभिन्न आधारो पर निर्मित कुछ प्रमुख समूहों का उल्लेख करना ही उपयुक्त माना है। अग्रिम पक्तियो म हम सर्वप्रथम वर्गीकरण के कुछ सामान्य आधारों को सक्षेप म बताएँगे और तत्पश्चात् कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों के वर्गीकरणो का उल्लेख करेंगे।

वर्गीकरण के कुछ आधार

समाजशास्त्रियों न प्राय निम्नलिखित प्रमुख आधारो पर सामाजिक समूहो का वर्गीकरण किया है—

(1) संख्या अथवा आकार के आधार पर—सिमल आदि समाजशास्त्रियो ने वर्गीकरण के इस आधार को लिया है। तदनुसार समूह बहुत छोटे-छोटे, अपेक्षाकृत

बड़े और बहुत बड़े—सब प्रकार के होते हैं। परिवार जैसा छोटा और राष्ट्र जैसा बड़ा समूह हमें दिखाई देता है।

(2) इच्छा एवं अनिवार्यता के आधार पर—वार्ड तथा गिडिंग्स जैसे अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त किया है—ऐच्छिक (Voluntary) तथा अनिवार्य (Involuntary)। श्रमिक संघ, औद्योगिक कम्पनियाँ, आर्य समाज, खेल क्लब आदि ऐच्छिक समूह में इनके सदस्य बनना या न बनना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। इसके विपरीत परिवार और राज्य अनिवार्य समूह हैं। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं हो सकता जो किसी न किसी परिवार अथवा राज्य का सदस्य न हो।

(3) अवधि के आधार पर—अवधि की दृष्टि से कुछ समूहों की सदस्यता अल्प अवधि के लिए होती है, तो कुछ समूहों की सदस्यता जीवन-पर्यन्त चलती है।

(4) स्थान, साहश्य और हितों के आधार पर—एडवर्ड रॉस के अनुसार समूह तीन प्रकार के हैं—(क) स्थानीय समूह (Local groupings) जैसे पड़ोस, ग्राम, नगर आदि। (ख) साहश्य पर आधारित समूह (Likeliness groupings) यथा, कविता, राष्ट्रीयता आदि। (ग) हितों पर आधारित समूह (Interest groupings) यथा श्रमिक संघ व्यापारिक कम्पनियाँ आदि।

(5) आत्मीय दृष्टिकोण के आधार पर—मनुष्यों का जो आत्मीय दृष्टिकोण होता है तथा दूसरे के प्रति जो दृष्टिकोण होता है, उसके आधार पर समूहों को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—अन्त समूह (In-Groups) बाह्य या बहि समूह (Out-Groups)। अन्त समूहों के सदस्यों में सामान्य उद्देश्य, हित और 'हम भावना' (We feeling) होती है। इन समूहों के सदस्य अपने समूह वालों को अपने और बाहर वालों को पराया समझते हैं, जैसे नीग्रो समूह। अन्त-समूह के बाहर या विरोधी समूह बहि या बाह्य समूह होते हैं। उदाहरणार्थ मुसलमानों के लिए गैर-मुसलमान बाह्य समूह है जिनको वे 'काफिर' कहते हैं।

(6) विभाग के आधार पर—कुछ लोग विभिन्न आधारों पर समूहों का वर्गीकरण करते हैं जैसे—(क) रक्त सम्बन्धी समूह, यथा परिवार, जाति आदि। (ख) शारीरिक विशेषता सम्बन्धी समूह, यथा लिंग, आयु, प्रजाति से सम्बन्धित समूह। (ग) क्षेत्रीय समूह यथा जनजाति, राज्य, राष्ट्र। (घ) अस्थाई समूह, यथा, भीड़, श्रोता समूह आदि।

मैकाइवर तथा पेज का वर्गीकरण

मैकाइवर एवं पेज ने अपने ग्रन्थ 'समाज' (हिन्दी अनुवाद) के पृष्ठ 199 पर समूहों के प्रमुख प्रकारों की योजना प्रस्तुत की है जिसे सरलीकृत रूप में हम यथाअनुसार रख सकते हैं—

समूह अथवा सगठन (व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध)	समूह निर्माण के आधार	उदाहरण
1	2	3
(क) प्रादेशिक या क्षेत्रीय समूह या सगठन (Territorial Unities)	(1) हितो का सर्वाधिक समावेशी विस्तार (2) एक निश्चित भू-खण्ड या क्षेत्र का व्यवसाय	कबीला (जनजाति), राष्ट्र, क्षेत्र, नगर, गाँव, पडोस आदि
(ख) हितो के प्रति चेतन समूह या एकताएँ जिनका कोई निश्चित सगठन न हो (Interest Conscious Unities without definite Organization)	(1) समूह के सदस्यो के समान हित (2) अनिश्चित सामाजिक सगठन (3) प्रस्थिति, प्रतिष्ठा, अवसर और आर्थिक पद मे अन्तर (4) एक समूह से दूसरे समूहो मे जाने की योग्यता	सामाजिक वर्ग, जाति, अभिजात्य वर्ग, प्रतियोगी वर्ग, निर्गमित वर्ग प्रजातीय समूह, रग पर आधारित समूह, राष्ट्रीयता समूह आदि
(ग) हितों के प्रति चेतन समूह या एकताएँ जिनका निश्चित सगठन हो (Interest Conscious Unities with definite Organization)	(1) हितों का सीमित विस्तार (2) निश्चित सामाजिक सगठन (3) सीमित सदस्य सख्या, सदस्यो मे व्यक्तिगत सम्पर्क, औपचारिक स्वीकृति की मात्रा अवैयक्तिक सम्बन्धो की विद्यमानता आदि	प्राथमिक समूह-परिवार, क्रीडा-समूह, गुट क्लब आदि वृहत् सघ-राज्य, धार्मिक सघ, आर्थिक निगम, श्रमिक (कर्मचारी) सघ आदि

बीरस्टीड का वर्गीकरण

बीरस्टीड ने लिखा है कि समाजशास्त्रियो ने अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किए है, किन्तु एक प्रमाणीकृत वर्गीकरण अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। इसके अलावा ऐसे वर्गीकरण यदि अधिक तर्कपूर्ण हैं तो वे कम उपयोगी हैं और यदि वे अधिक उपयोगी हैं तो कम तर्कपूर्ण हैं। अत, प्रारम्भिक विद्यार्थी को ऐसी जटिलता से

छुटकारा दिलाने के लिए तुलनात्मक सरल वर्गीकरण सारांश रूप में निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है[1]—

समूह (Groups)	जातिगत चेतना (Consciousness of Kind)	सामाजिक अन्त क्रिया (Social Interaction)	सामाजिक संगठन (Social Organization)
(अ) सांख्यिकीय (Statistical)	नहीं	नहीं	नहीं
(ब) सहयोगी (Societal)	हाँ	नहीं	नहीं
(स) सामाजिक (Social)	हाँ	हाँ	नहीं
(द) समिति-गत (Associational)	हाँ	हाँ	हाँ

गिलिन एवं गिलिन का वर्गीकरण

गिलिन एवं गिलिन ने समूहों के विभिन्न सम्भावित आधारों को ध्यान में रखते हुए उन्हें वर्गीकृत किया है[2]—

समूह	उदाहरण
1 रक्त सम्बन्धी समूह	परिवार, जाति
2 शारीरिक विशेषताओं पर आधारित समूह	समान लिंग, आयु अथवा प्रजाति पर आधारित समूह
3 क्षेत्रीय समूह	वन्य जाति, राज्य राष्ट्र
4 अस्थिर समूह	भीड़, श्रोता-समूह
5. स्थाई समूह	खाना-बदोशी जत्थे ॰ ग्रामीण-पड़ोस कस्बे, शहर तथा विशाल नगर
6 सांस्कृतिक समूह	आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोरंजनात्मक तथा शिक्षा संबंधी समूह

चार्ल्स कूले का वर्गीकरण प्राथमिक एवं द्वैतीयक

समूहों के जो भी वर्गीकरण समाजशास्त्रियों ने प्रस्तुत किए हैं उनमें अमेरिकी समाजशास्त्री चार्ल्स कूले का वर्गीकरण सर्वाधिक संक्षिप्त, वैज्ञानिक और मान्य है। सन् 1909 में अपने ग्रन्थ *"Social Organization"* में कूले ने "प्राथमिक समूह"

1 *Robert Bierstedt* . The Social Order (सामाजिक व्यवस्था, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 337.

2 के के बघवाल . समाजशास्त्र से उद्धृत, पृष्ठ 154

(Primary Groups) शब्द का प्रयोग किया और तत्पश्चात् ऐसे समूहों से भिन्न विशेषताएँ रखने वाले अन्य समूहो को "द्वैतीयक" "समूह" (Secondary Groups) कहा गया। कूले ने अपना वर्गीकरण समूहो के आकार, महत्त्व एव सदस्यो के आपसी सम्बन्धो की प्रकृति के आधार पर प्रस्तुत किया है। कूले के अनुसार, 'प्राथमिक समूह का तात्पर्य ऐसे समूहो से है जिनमे घनिष्ट (Intimate), व्यक्तिगत और आमने-सामने (Face to Face) के सम्बन्ध पाए जाते हैं। इस प्रकार के समूहो मे हमारे मित्र, साथी, परिवार के लोग और प्रतिदिन मिलने वाले लोग आते हैं। ये ऐसे लोग होते हैं जिनके साथ हमारे सामाजिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हैं।[1] द्वैतीयक समूह मे घनिष्ट, व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं पाए जाते, जैसे राजनीतिक दल। अग्रिम पृष्ठो मे हम प्राथमिक और द्वैतीयक समूहो का विस्तार से विवेचन करेंगे।

प्राथमिक समूह : अर्थ एव परिभाषा
(Primary Groups Meaning & Definition)

सामाजिक सगठन का केन्द्र-बिन्दु प्राथमिक समूहो मे ही पाया जाता है। प्राथमिक समूह द्वारा हो मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रारम्भ होता है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो सर्वप्रथम किसी प्राथमिक समूह का सदस्य बन कर ही अपने जीवन की शुरूआत करता है। परिवार एक प्राथमिक समूह ही है।

चार्ल्स कूले के अनुसार, जैसाकि कहा जा चुका है, प्राथमिक समूह का अभिप्राय ऐसे समूहो से है जिनमे घनिष्ट (Intimate), व्यक्तिगत और आमने-सामने (Face to Face) के सम्बन्ध पाए जाते हो। कूले के ही शब्दों मे प्राथमिक समूह के अर्थ और प्रकृति को समझना उपयुक्त होगा—

"प्राथमिक समूहो से मेरा तात्पर्य उन समूहो से है जिनकी विशेषता है—घनिष्ट, प्रत्यक्ष सम्बन्ध तथा सहयोग। वे अनेक दृष्टिकोणो से प्राथमिक हैं लेकिन इनमे मुख्य यह है कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति तथा आदर्शों के निर्माण मे आधारभूत हैं। घनिष्ट साहचर्य का परिणाम—एक सामान्य समग्रता मे व्यक्तियो का समन्वित हो जाना है, जिससे अनेक कारणो से एक व्यक्ति का "स्व" ही उस समूह का सामान्य-निष्ठा जीवन तथा उद्देश्य बन जाता है। इस समग्रता अथवा सम्पूर्णता (Wholeness) की व्याख्या करने की सम्भवत सबसे सरल विधि इसे 'हम" ("We") की सज्ञा देना है। इसमे एक इस प्रकार की सहानुभूति तथा पारस्परिक अनुरूपता होती है जिसके लिए 'हम" एक स्वाभाविक सज्ञा या अभिव्यक्ति है।"[2]

कूले की परिभाषा के अनुसार प्राथमिक समूहो मे हमारे मित्र, साथी, परिवार के लोग और प्रतिदिन मिलने वाले लोग आते है जिनके साथ कि हमारे सामाजिक

1 बीरस्टीड वही, पृष्ठ 321
2 किंग्सले डेविस, वही, पृष्ठ 251

सम्बन्ध बड़े घनिष्ट होते हैं। इस श्रेणी में ऐसे लोग नहीं आते जिनसे हम केवल परिचित होते हैं अथवा उन्हें केवल उनकी प्रतिष्ठा के द्वारा जानते हैं। इसमें केवल वही आते हैं जिनसे हमारे निकटतम और निरन्तर सामाजिक सम्बन्ध होते हैं।[1]

ब्रूम एवं सेल्ज़निक (Broom & Selznick) के अनुसार, "एक समूह प्राथमिक वहाँ तक है जहाँ तक यह प्राथमिक सम्बन्धो पर आधारित है और प्राथमिक सम्बन्ध रखता है। जहाँ व्यक्ति कुछ समय तक घनिष्ट रूप से साथ-साथ रहते या काम करते हैं, वहाँ साधारणत प्राथमिक सम्बन्धो पर आधारित समूहो का उदय हो जाता है। परिवार क्रीड़ा-समूह और पड़ोस प्राथमिक समूह विकास की समुचित दशाएँ प्रस्तुत करते हैं।"[2]

प्राथमिक समूहो के सन्दर्भ में "आमने-सामने" (Face to Face) शब्दो के अर्थ मे हमे सावधानी करनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियो के साथ भी हमारा आमने-सामने का सम्बन्ध हो सकता है जो हमारे प्राथमिक समूहो के सदस्य नही है। इसके विपरीत ऐसे लोगो के साथ भी हमारे 'आमने-सामने' के सम्बन्ध नही हो सकते जो कि हमारे प्राथमिक समूहों के सदस्य भी है। उदाहरणार्थ, बस ड्राइवर नाई आदि के साथ हमारे आमने-सामने के सम्बन्ध तो है पर यह जरूरी नहीं कि इनके साथ हमारे प्राथमिक समूह सम्बन्धी सम्बन्ध हों। दूसरी ओर यह भी होता है कि जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं हम वर्षों तक प्राय अपने घनिष्ट मित्रो से भी नही मिल पाते। वास्तव मे, यह शारीरिक दूरी के स्थान पर सामाजिक दूरी अथवा घनिष्टता की मात्रा है जो कि सामाजिक समूहो को निर्धारित करती है।[3] यह कहना उपयुक्त है कि प्राथमिक समूह का आधार "आमने-सामने का सम्बन्ध" न होकर वास्तव मे "दो से अधिक व्यक्तियो के बीच घनिष्ट, सहभागी एवं वैयक्तिक (Intimate, Cohesive and Personal) सम्बन्धो का होना है।"[4]

प्राथमिक समूहो के सर्वोत्तम उदाहरण परिवार (Family), क्रीड़ा-समूह (Play Group) पड़ोस (Neighbourhood) आदि हैं। ये समूह मानव जीवन पर अन्य समूहो की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालते है। व्यक्ति के समाजीकरण मे इन प्राथमिक समूहो का कितना जबरदस्त और मौलिक योगदान होता है यह हम समाजीकरण के अध्याय मे देख चुके हैं।

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Primary Groups)

प्राथमिक समूहो की विशेषताओ को दो वर्गों म विभक्त किया जा सकता है—

(क) भौतिक अथवा बाह्य विशेषताएँ एव

(ख) आन्तरिक विशेषताएँ।

1 बीरस्टीड वही पेज 321
2 बीरस्टीड वही पेज 321
3 बीरस्टीड वही पेज 321
4 बीरस्टीड वही पेज 321

(क) भौतिक अथवा बाह्य विशेषताएँ
(Physical or External Features)

इन विशेषताओ का सम्बन्ध प्राथमिक समूहो की सरचना से है, अत: कुछ समाजशास्त्रियो ने इन्हे सरचनात्मक विशेषताएँ (Structural Features) भी कहा है। यद्यपि कूले ने इनके अन्तर्गत आमने-सामने के प्रत्यक्ष सम्बन्धो को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, तथापि सदस्यो की निकटता, लघुता, निरन्तरता आदि ऐसी अन्य प्रमुख विशेषताएँ भी हैं जो प्राथमिक समूह के अस्तित्व के लिए अनिवार्य हैं। ये विशेषताएँ, जिनमे से अधिकांश को डेविस ने प्रस्तुत किया है, सक्षेप मे निम्नलिखित हैं—

(1) भौतिक निकटता (Physical Proximity)—मित्रता और घनिष्टता उत्पन्न करने के लिए भौतिक निकटता अर्थात् प्रत्यक्ष साहचर्य सबसे श्रेष्ठ होता है। एक दूसरे को देखने एव बात-चीत करने से सूक्ष्म विचारो, सम्पत्तियो एव मनोभावो के आदान-प्रदान मे अत्यधिक सुविधा होती है। जिसे मीड (Mead) ने "सकेतों का वार्तालाप" कहा है, वह प्रत्यक्ष सम्पर्क से ही सम्भव है। एक दूसरे के साथ रहना, खाना-पीना, सोना, उठना-बैठना, अध्ययन करना, आलिंगन करना, चुम्बन करना—ये सब घनिष्ट एकता के बाह्य प्रतीक माने जाते हैं।[1] प्रत्यक्ष साहचर्य अथवा भौतिक निकटता या शारीरिक समीपता के कारण प्राथमिक समूह के सदस्यो मे सम्बन्धों का स्थायित्व बना रहता है।

(2) समूह की लघुता (Smallness of the Group)—जो समूह प्रत्यक्ष होगा, उसे अवश्य ही छोटा भी होना चाहिए, क्योंकि तभी सदस्यो के सम्बन्धो मे घनिष्टता बनी रहने की सम्भावनाएँ अधिक होगी। सदस्यो की सख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही सदस्य व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे को कम जानेंगे और घनिष्टता सम्पर्क का क्षेत्र कम होगा। उदाहरणार्थ, अत्यधिक सख्या होने पर एक श्रोता-समूह न तो वक्ता को भली प्रकार देख सकता है और न उसकी आवाज को स्पष्ट सुन सकता है। वह वक्ता से आत्मीयता का अनुभव भी नहीं कर पाता।

(3) सम्बन्ध की अवधि (Duration of the Relationship)—डेविस के शब्दो मे, "अन्य बाते समान होने पर समान समूह जितना अधिक समय बना रहता है, सदस्यो के बीच के सम्बन्ध उतने ही विस्तृत तथा घनिष्ट होगे।"[2] प्राथमिक समूह अन्य समूहो की तुलना मे कही अधिक स्थायी प्रकृति के होते है और इनकी सदस्यता का परित्याग सुगम नही होता। प्राथमिक समूहो मे पारस्परिक सम्बन्धो के क्रमिक विकास से सामाजिक बन्धन दृढ होते हैं।

(4) सामान्य चरित्र (Unspecialized Character)—प्राथमिक समूहो के कार्यों की प्रकृति का निश्चय योजनाबद्ध रूप मे न होकर परिस्थिति के अनुसार

1. डेविस : वही, पेज 253
2 वही, पेज 254

होता है। सभी सदस्यों के दायित्व और कर्तव्य असीमित होते हैं तथा सभी एक दूसरे को समान दृष्टि से देखते हैं। यह इसलिए होता है कि प्राथमिक समूहों का जन्म स्वत: होता है और वे अपना अन्तिम स्वरूप विकास की एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा प्राप्त करते हैं। सामूहिकता उनका अन्तिम लक्ष्य होता है।

डेविस का यह लिखना ठीक ही है कि "भौतिक निकटता, छोटा आकार और लम्बी अवधि घनिष्ट बन्धनों के विकास के लिए अत्यधिक अनुकूल स्थितियाँ हैं। यह सम्भव है कि इनमें से कोई एक स्थिति अन्य दो की अनुपस्थिति में भी विद्यमान हो, लेकिन प्राथमिक समूह के विकास की सबसे अधिक अनुकूल अवस्था तभी प्रकट होती है, जब कि तीनों अवस्थाएँ उच्च मात्रा में विद्यमान हों।"[1]

(ख) आन्तरिक विशेषताएँ

(Internal Features)

कुछ समाजशास्त्रियों ने इन्हें मानसिक विशेषताएँ (Mental Features) भी कहा है। इसका प्राथमिक समूहों के सदस्यों के अन्तर्जगत से सम्बन्ध होता है। बाह्य अथवा भौतिक विशेषताओं के फलस्वरूप ही प्राथमिक समूहों में कुछ विशेष प्रकार की मनोवृत्तियों का विकास हो जाता है जिन्हें हम इनकी आन्तरिक अथवा मानसिक या चरित्रगत विशेषताओं की संज्ञा देते हैं। यह आन्तरिक विशेषताएँ संक्षेप में निम्नानुसार हैं—

(1) लक्ष्यों की समानता (Indentity of Ends)—प्राथमिक समूह आकार में लघु होता है और घनिष्ट सम्बन्धों द्वारा संगठित होता है। इनमें विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक आदान-प्रदान होता है। इन सब कारणों से समूह के सदस्यों में समान उद्देश्यों और हितों का विकास होता है। डेविस के अनुसार एक पूर्ण प्राथमिक सम्बन्ध के लक्ष्यों की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की जाती है—प्रथम यह है कि विभिन्न पक्षों की इच्छाएँ और अभिव्यक्तियाँ समान हैं ताकि वे समान वस्तुओं की प्राप्ति का प्रयत्न कर सकें और उनमें कभी आपस में विवादास्पद स्थिति उत्पन्न न हो, तथा द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के कल्याण के लिए अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[2] उदाहरण के लिए परिवार एक प्राथमिक समूह है जिसमें माँ अपने बच्चों की देख-रेख में अपने स्वास्थ्य की भी परवाह नहीं करती। वह स्वयं नाना कष्ट उठाकर भी बच्चों को सुखी और प्रसन्न देखना चाहती है।

(2) सम्बन्ध स्वयं साध्य होता है (The Relationship is an End Itself)—प्राथमिक समूहों का निर्माण प्राथमिक सम्बन्धों के आधार पर होता है और इन सम्बन्धों को समूह के सदस्य किसी लक्ष्य का साधन ही नहीं मानते वरन् उनको स्वयं में ही एक साध्य अथवा लक्ष्य समझते हैं।[3] किसी स्वार्थ को पूरा करने

1. वही, पेज 253
2. वही, पेज 256
3. वही, पेज 257

के खातिर सम्बन्ध स्थापित नही किए जाते बल्कि सम्बन्धो को स्थापित कर लेना ही सदस्यों का अन्तिम उद्देश्य होता है। यदि मित्रता किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु की जाय तो हम उसे मित्रता नही बल्कि स्वार्थपरता कहेंगे। इसी तरह यदि कोई विवाह केवल धन प्राप्ति के लिए किया जाय तो इसे सही मायनो मे विवाह नहीं माना जाएगा। अभिप्राय यह हुआ कि प्राथमिक समूहो मे सम्बन्धो की स्थापना जान-बूझ कर योजनाबद्ध रूप मे नही की जाती प्रत्युत ये स्वत विकसित हो जाते हैं। प्राथमिक समूहो के सदस्यो के सम्बन्धो मे किसी प्रकार की कृत्रिमता नही होती।

(3) सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है (The Relationship is Personal)—प्राथमिक समूह मे सदस्यो के सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं अर्थात् सम्बन्ध व्यक्ति के महत्व पर आधारित होते हैं न कि उसके गुणो और कार्यों पर। व्यक्तिगत सम्बन्ध हस्तांतरित नही किए जा सकते। एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे व्यक्ति को नही रखा जा सकता। परिवार मे कभी मौत होती है, कभी जन्म, किन्तु जाने वाले के अभाव की पूर्ति आने वाले से कभी नही हो पाती। एक पत्नी की मृत्यु पर दूसरा विवाह कर लिया जाय, लेकिन पहली पत्नी की याद बनी रहती है। डेविस ने ठीक ही लिखा है कि हम एक नवीन व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, एक पुराने व्यक्तिगत सम्बन्ध तोड सकते हैं, लेकिन एक ही सम्बन्ध मे एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का प्रतिस्थापन (Substitution) नही कर सकते।[1] जब सम्बन्ध बदले जा सकते हो और व्यक्ति की कोई चिन्ता न होती हो तो हम उन्हें अवैयक्तिक सम्बन्ध कहते हैं, वैयक्तिक नही।

(4) सम्बन्ध मे पूर्णता होती है (The Relationship is Inclusive)—प्राथमिक सम्बन्ध सकीर्ण नही होते औपचारिक नहीं होते, बल्कि स्वय मे पूर्ण होते हैं। समूह के सदस्यो के सम्बन्ध किसी एक पक्ष को न लेकर सर्वांगीण होते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के जीवन के प्राय सभी पहलुओ से परिचित होता है और उसके सभी प्रकार के कार्यों मे रुचि लेता है। प्राथमिक सम्बन्ध अन्य सभी सामाजिक सम्बन्धो से इसलिए भिन्न हैं क्योकि अन्य प्रकार के सम्बन्धो मे पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण नही होता।

(5) सम्बन्ध का स्वत विकास होता है (The Relationship is Spontaneous)—प्राथमिक सम्बन्धो की स्थापना किसी बाहरी प्रलोभन अथवा दबाव के कारण नही होती। इनका जन्म और विकास अपने आप स्वाभाविक रूप से होता है, न कि कृत्रिम रूप से। उदाहरणार्थ एक परिवार मे माता-पिता, भाई-बहिन आदि होते हैं और इन सबके पारस्परिक सम्बन्ध किसी बाह्य प्रभाव के कारण विकसित नही होते, बल्कि कुछ ऐसी भावनाओ से स्वय विकसित हो जाते हैं जिनके बारे मे हमे स्वय भी निश्चित रूप मे कुछ ज्ञान नहीं। विशुद्ध प्राथमिक

1. वही, पृष्ठ 257.

सम्बन्ध स्वेच्छा से स्थापित होते हैं और इसीलिए संविदात्मक सम्बन्धो मे भिन्न होते हैं। एक समझौते मे शर्तें स्पष्ट होती हैं और व्यक्ति इनसे बंधा होता है किन्तु प्राथमिक सम्बन्ध ऐसी किन्हीं शर्तों पर आधारित नहीं होते बल्कि मानसिक भावनाओ से स्वतः विकसित होते रहते है।

(6) प्राथमिक सम्बन्धों मे अत्यधिक नियन्त्रण शक्ति—प्राथमिक समूह अपने सदस्यो से अत्यधिक स्वामी-भक्ति की आशा रखते हैं। उसमे अत्यधिक *नियन्त्रण की शक्ति होती है। सदस्य प्रेम के बन्धन से बंधे होते हैं जो इतने* शक्तिशाली होते हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास उनके समक्ष विफल हो जाते हैं। एक प्रेमी के लिए उसकी प्रेमिका की आंख का सकेत उसे उन कार्यों को करने से *रोक सकता है जिन्हें राज्य के बड़े-बड़े कानून नहीं रोक सकते। प्राथमिक समूह* मे सदस्यों के आचार-विचार आदि पर पूरा अंकुश रहता है। समूह किसी सदस्य को गलत रास्ते पर जाने की अनुमति नहीं देता और उसे समूह के आदर्शों तथा परम्पराओ के विरुद्ध काम करने से रोकता है। परन्तु यह सारा नियन्त्रण उसी समय तक रहता है जब तक व्यक्ति इसका पालन करता है अर्थात् यह अन्तिम रूप से उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह समूहों की परम्पराओं और उनके आदर्शों का पालन करे या न करे। फिर भी व्यावहारिक जगत में व्यक्ति प्राथमिक समूहो मे स्वय को इतना विलीन कर देता है कि वह इन नियन्त्रणों से शायद स्वय को स्वतन्त्र न करता।

प्राथमिक समूहो का महत्व
(Importance of Primary Groups)

प्राथमिक समूह का सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे मे विशेष महत्व है। समूहो के सदस्यों को उनमे ऐसे लाभ प्राप्त होते हैं जिन्हें वे प्रायः स्वतन्त्र क्रियाओ द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए सामाजिक दिशा (Social direction) में प्राथमिक समूहो के महत्व को देखते हुए ही कूले ने इन्हें 'मानव स्वभाव की परिचारिकाएँ (Nurseries of human nature) तक कहा था।[1] प्राथमिक समूहों के महत्व का सकेत हम निम्नलिखित बिन्दुओ मे कर सकते हैं —

(1) प्राथमिक समूह समाजीकरण की प्रक्रिया मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण योग *देते हैं।* इनके समाजीकरणकारी कार्यों (Specializing functions) को हम पिछले एक अध्याय मे देख चुके हैं। यदि हम परिवार को ही लें तो देखते हैं कि बच्चा परिवार मे ही जन्म लेता है, वहीं उसका पालन-पोषण होता है उसका समाजीकरण होता है, परिवार-समूह के प्रतिमान ही उसके भावी जीवन के आधार बनते हैं। *यदि क्रीड़ा-समूह को लें तो खेल-साथियों का बच्चे के व्यक्तित्व के निर्माण के* विभिन्न पहलुओं पर भारी प्रभाव पड़ता है।

1. *Broom and Selznick op cit, p 172.*

(2) प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के बीच की सबसे महत्वपूर्ण कडी है। प्राथमिक समूहो की सहायता से व्यक्ति को भावनात्मक सुरक्षा प्राप्त होती है। इनसे उसकी वैयक्तिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, और इन्ही के माध्यम से व्यक्ति उच्चतर लक्ष्यो को प्राप्त करने की दिशा मे आगे बढ़ता है।[1] ब्रूम एव सेजनिक ने "प्राथमिक समूह सहायता कैसे करता है" (How the Primary Group Helps) शीर्षक मे प्राथमिक समूह से प्राप्त होने वाली तीन महत्वपूर्ण सेवाओ का उल्लेख किया है।[2]

(क) प्राथमिक समूह मे ही व्यक्ति यह अनुभव करता है कि वास्तव म कुछ व्यक्ति उसे 'अपना' समझते हैं, और इस प्रकार समूह मे रहते हुए उसे निरन्तर अकेला नही रहना पड़ता।

(ख) प्राथमिक समूह की सदस्यता से व्यक्ति मे अपनी 'तस्वीर' (Image) उभरती है अर्थात् उसको अपने वास्तविक व्यक्तित्व का ज्ञान होता है।

(ग) प्राथमिक समूह व्यक्ति की क्षमता और रुचि के अनुसार लक्ष्यो और नियमो की पुनर्व्याख्या करता है, उनमे सशोधन करता है और इस प्रकार व्यक्ति को अधिकतम सरक्षण प्रदान करता है। प्राथमिक समूह मे रहते हुए व्यक्ति स्वय को जितना सुरक्षित और अस्वस्थ महसूस करता है, उतना अन्यत्र कही नही करता।

(3) प्राथमिक समूह व्यक्ति की कार्य-क्षमता मे वृद्धि करता है। समूह मे व्यक्तियों को एक दूसरे की सहायता प्राप्त होती है, उन्हे एक दूसरे से प्रेरणा मिलती है। अच्छा कार्य करने पर समूह के सदस्यो की प्रशसा व्यक्ति को प्रोत्साहन देती है जिसका उसके भावी विकास मे बडा मूल्य होता है। प्राथमिक समूह मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। यह प्राथमिक समूह ही है जहां मनुष्य वास्तव मे प्रेम करता है और प्रेम का प्रतिदान प्रेम से पाता है। प्राथमिक समूह से व्यक्ति की साथीपन, सहानुभूति विचार-विमर्श सामाजिक भावना आदि नाना आवश्यकताओ की पूर्ति होती है।

(4) प्राथमिक समूहो का महत्व इसके मनोरजनात्मक कार्यों से भी है। व्यक्ति को प्राथमिक समूह मे जितना स्वस्थ मनोरजन प्राप्त होता है उतना अन्यत्र नही। इन समूहो मे अधिकांश कार्य इसलिए किए जाते हैं कि वे अपने आप म सुखदायक होते हैं।

(5) जैसाकि हम ऊपर सकेत दे चुके है, प्राथमिक समूह सवहन (Communication) के कार्य द्वारा एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण कर देते है जिनम व्यक्ति म नई-नई मनोवृत्तियां विकसित हो पाती है। प्राथमिक समूह अपने सदस्यो मे विचारो का सवहन या सचार करने की क्षमता उत्पन्न करता है। सदस्यो की सख्या

1 Ibid, p 126
2 Ibid, p 127

बहुत कम होने से वे एक दूसरे के सामने अपने विचारों को खुलकर रख पाते हैं और स्वस्थ विचार-विमर्श का पूरा लाभ उठाने में सक्षम होते हैं। प्राथमिक समूह का सवहनात्मक कार्य संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करता है।

प्राथमिक समूहों के महत्त्व को इंगित करते हुए गिलिन एवं गिलिन ने ठीक ही लिखा है कि 'प्राथमिक समूहों से व्यक्ति अपने चारों ओर की दुनियाँ, जनता एवं सामाजिक संस्थाओं के प्रति मौलिक अभिवृत्तियाँ ग्रहण करता है। इन्हीं समूहों से सहिष्णुता, दयालुता, प्रेम और उदारता की अभिवृत्तियाँ प्राप्त की जाती हैं। ध्यान और स्नेह इसके मुख्य लक्षण हैं। व्यक्ति के लिए प्रेम और महानुभूति प्रतियोगिता और स्वार्थ से ऊपर रखी जाती है। कष्ट के समय परस्पर सहायता उन्मुक्त रूप से दी जाती है। समूह के सदस्य एक दूसरे के बारे में वार्ता करते हैं और अनुपस्थित सदस्यों में रुचि तथा उनके प्रति ध्यान प्रदर्शित करते हैं। यदि द्वेष और घृणा विकसित होती है तो ये अत्यधिक और तीव्र होती हैं क्योंकि प्राथमिक समूह में विश्वासघात अक्षम्य है।"

प्राथमिक समूहों के अकार्य
(*Dysfunctions of Primary Groups*)

समाज-व्यवस्था के किन्हीं तत्त्वों के वे कार्य जो सामाजिक अव्यवस्था, असन्तुलन अथवा असामञ्जस्य की स्थिति उत्पन्न करते हैं या उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, अकार्य (Dysfunctions) कहे जाते हैं। प्राथमिक समूह जहाँ व्यक्ति और समाज के लिए अत्यधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ इनका अकार्यात्मक पहलू भी सामने आया है जिससे समाज में अनेक दोषों को प्रोत्साहन मिला है। प्राथमिक समूह प्राथमिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं और प्राथमिक सम्बन्धों के विकसित होने में कुछ अकार्य (Dysfunctions) भी उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे व्यक्ति के विकास पर अंकुश लगता है, भाई-भतीजेवाद को प्रोत्साहन मिलता है, प्रगतिशील सामाजिक परिवर्तनों के मार्ग में बाधाएँ आती हैं और इसी प्रकार के कुछ अन्य दोष प्रकट होते हैं जिनसे विघटनकारी प्रवृत्तियों को बल मिलता है। हम अधोंकित पंक्तियों में प्राथमिक समूहों के कुछ प्रमुख अकार्य अथवा दोषों को अलग-अलग स्पष्ट करेंगे—

(1) प्राथमिक समूहों में सदस्यों में समानरूपता (Conformity) स्थापित करने का प्रयत्न होता है, जो मानव प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। व्यक्तियों की क्षमताओं और योग्यताओं में तथा उनकी रुचियों में भिन्नता होना स्वाभाविक है, लेकिन जब प्राथमिक समूहों में एक दूसरे के समान बनने का प्रयत्न (Act of Conformity) होता है तो इससे व्यक्तित्व के वास्तविक विकास को ठेस पहुँचती है। भारतीय परिवारों में बड़ी संख्या में ऐसे उदाहरण देखने को प्राप्त हैं कि घर के बुजुर्ग बच्चों को नए और प्रगतिशील कार्यों की ओर से मोड़ कर परम्परागत कार्यों में ही लगाने की चेष्टा करते हैं ताकि घर के सभी बच्चे समान रहें। यह प्रवृत्ति दकियानूसी और पिछड़ेपन की प्रतीक है।

(2) प्राथमिक समूहो मे भाई-भतीजेवाद, पक्षपात आदि को प्रोत्साहन मिलता है। प्राथमिक सम्बन्धो की घनिष्टता के कारण सार्वजनिक जीवन मे व्यक्ति अपने प्राथमिक सम्बन्धियो को नियम-विरुद्ध लाभ पहुँचाने की चेष्टा करते हैं। प्राथमिक सम्बन्धो की घनिष्टता के कारण ही पुलिस अधिकारी यदि कानून की अवहेलना करने वाले अपने मित्रो अथवा सम्बन्धियो को समुचित दण्ड दिलाने से पीछे हट सकते हैं तो न्यायाधीश या प्रशासनिक अधिकारी भी उन लोगो के साथ वास्तविक न्याय करने मे हिचकिचाहट ला सकते हैं जिनसे उनके सम्बन्ध प्राथमिक है। कोजर एव रोजनवर्ग ने प्राथमिक समूहो के इस प्रकार के अकार्यात्मक पहलू को भली प्रकार स्पष्ट किया है। हम सरकारी नौकरियो और तरक्कियो मे भाई-भतीजेवाद अथवा पक्षपात के दोषारोपणो से भली प्रकार परिचित हैं। प्राथमिक सम्बन्धो के कारण पूँजी के एकत्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है जिससे समाज मे आर्थिक विषमता की खाई गहरी होती चली जाती है। ऐसे आरोप प्राय सुनने म आते रहते हैं कि पूँजीपति अथवा सक्षम अधिकारी अपने मित्रो और सम्बन्धियो को लाइसेन्स आदि देने म प्राथमिकता देते हैं, फलस्वरूप एक ही समूह के पास पूँजी का एकत्रीकरण होता रहता है।

(3) प्राथमिक समूहो मे सदस्यो के व्यवहार के सम्बन्ध मे अनेक निषेध लागू रहते हैं जिनसे व्यक्तित्व के वास्तविक विकास मे बाधा उत्पन्न होती है। भारतीय परिवारो म पिता अपनी सन्तान और पत्नी को समुचित अधिकार न देकर उनके हर कदम पर और उनके हर व्यवहार पर नियन्त्रण लगाने की चेष्टा करता है जिससे एक ओर तो सन्तान और पत्नी के व्यक्तित्व के वास्तविक विकास को गम्भीर ठेस पहुँचती है और दूसरी ओर परिवार मे अनावश्यक रूप से अप्रत्यक्ष तनाव का वातावरण बना रहता है। जब कभी तनाव के बिन्दु विस्फोटक बन जाते है तो उनकी परिणति पारिवारिक विघटन मे होती है। प्रारम्भ मे बच्चे को बडा स्नेह देना और फिर सामाजिक निषेधो को ध्यान मे रखकर बच्चे को दण्ड देना—इस प्रकार की प्रवृत्तियो से बच्चे मे निराशा और प्रतिरोध की भावनाएँ पनपती हैं।

(4) प्राथमिक समूह प्राय रूढिवादी प्रकृति के होते हैं और समयानुसार आवश्यक परिवर्तनो का स्वागत नही करते। सामाजिक परिवर्तन के प्रति उपेक्षा और उस पर अकुश रखने का प्रयत्न प्राथमिक समूहो का एक बहुत बडा अकार्य है जो हमारी सस्कृति को न केवल आगे बढने से रोकता है बल्कि उसे अन्य सस्कृतियो के मुकाबले पिछडी हुई बना देता है।

समुचित शिक्षा और प्रयासो के द्वारा प्राथमिक समूहो के विघटनकारी परिणामो को बहुत कुछ कम किया जा सकता है। फिर भी, मानव प्रकृति की कमजोरियो को देखते हुए, इन अकार्यों को निर्मूल नही किया जा सकता। लेकिन इनके कारण प्राथमिक समूहो की उपयोगिता कम नहीं होती क्योंकि समाजीकरण, व्यक्तित्व निर्माण वैयक्तिक सुरक्षा, वैयक्तिक सन्तोष नागरिक गुणो के विकास आदि की दृष्टि से ये व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनिवार्य हैं और रहेंगे।

द्वैतीयक समूह अर्थ एवं परिभाषा
(Secondary Groups : Meaning and Definition)

प्राथमिक समूह के विचार से ही द्वैतीयक समूहो की अवधारणा प्रकाश मे आई और चार्ल्स कूले ने लिखा कि "ये वे समूह हैं जिनमे घनिष्टता का पूर्णत (Wholly) और साधारणत प्राथमिक एव अर्द्ध-प्राथमिक (Primary and Quasi-primary) विशेषताओं का अधिकांशत अभाव रहता है।" प्राथमिक समूह मे प्रत्यक्ष साहचर्य अथवा आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं जबकि द्वैतीयक समूहो मे, जो आकार मे प्राथमिक समूहो से बड़े होते हैं, सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं। इनमे सम्बन्धो की उतनी घनिष्टता स्थापित नहीं हो पाती आकार और क्षेत्र मे ये प्राय इतने फैले होते हैं कि इनके सभी सदस्य एक दूसरे को परस्पर वैयक्तिक रूप से जान भी नही पाते। जो सम्बन्ध होते हैं वे स्वय मे ही लक्ष्य नही होते और न वैयक्तिक (Personal) और न ही सयुक्त (Inclusive) होते हैं। राजनीतिक दल, स्कूल, कॉलिज, क्लब, श्रमिक सघ आदि द्वैतीयक समूहो के कुछ जाने पहचाने उदाहरण हैं।

रॉबर्ट बीरस्टीड ने लिखा है कि 'द्वैतीयक समूह ऐसे समूह हैं जो कि प्राथमिक नही हैं।"[1] इसी प्रकार डेविस के अनुसार, "द्वैतीयक समूहो को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहो के विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[2] लुण्डवर्ग के अनुसार हम द्वैतीयक समूह उन्हे कहते हैं जिनमे सदस्यो के सम्बन्धित अवैयक्तिक, हित-प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।[3] द्वैतीयक समूहो मे सम्बन्ध अत्यधिक औपचारिक होते हैं जिनमे कोई घनिष्टता या उष्णता नही पाई जाती, अत लेण्डिस (Landis) ने इन्हे "शीत जगत" (Cold world) का प्रतिनिधित्व करने वाला कहा है। लेण्डिस के अनुसार, द्वैतीयक समूह वे हैं जो अपने सम्बन्धो मे अपेक्षाकृत अनिरन्तर और अवैयक्तिक होते हैं, क्योंकि ये व्यक्ति पर कुछ विशेष माँगें ही रखते हैं, उसकी निष्ठा का केवल थोड़ा-सा भाग पाते हैं और साधारणत. उसका ही कुछ सम्बन्ध और ध्यान चाहते हैं। उनमे सम्बन्ध साधारणत परस्पर सहायक होने की अपेक्षा प्रतियोगी या प्रतिस्पर्द्धात्मक अधिक होते हैं।

इन विभिन्न परिभाषाओ से स्पष्ट है कि द्वैतीयक समूह उन मानव सघो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका सगठन व्यक्तिगत हितो को पूरा करने के लिए किया जाता है और जिनके सदस्यो मे कोई प्राथमिक सम्बन्ध नही होते। समूह के सदस्य घनिष्टता न होते हुए भी और सम्बन्धो की स्थिरता न रखते हुए भी चेतन अचेतन रूप मे उन विशेष उद्देश्यो की पूर्ति मे लगे रहते हैं जिनके लिए समूह का निर्माण हुआ है। द्वैतीयक समूहो मे घनिष्टता का अभाव होने पर भी कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत होता [redacted] कि सभी सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से अपने हितो को पूरा करने मे सफल

1 बीरस्टीड : सामाजिक व्यवस्था, पेज 324
2 डविस, वही, पृष्ठ 261
3 *Lundberg and Others* Sociology, [redacted] 765

हो जाते हैं द्वैतीयक समूह मे सदस्यो के सम्बन्ध अवैयक्तिक इस अप्रत्यक्ष अर्थ मे होते है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सम्मान प्राय इस आकर्षण से करता है कि वह उसे लाभ पहुँचा सकेगा। द्वैतीयक समूहो मे एक दूसरे की उपस्थिति के अभाव मे भी सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं और कोई व्यक्ति अन्य सदस्यो से मिले बिना ही सम्पूर्ण समूह का नेता बन सकता है। वास्तव मे, वर्तमान युग द्वैतीयक समूहो और द्वैतीयक सबधों का युग है। द्वैतीयक समूहो मे कृत्रिमता होती है और व्यक्तियो के सम्बन्ध 'छुओ और जाओ' (Touch and Go) के होते हैं। व्यक्ति एक दूसरे से मिलते हैं, नमस्कार करते हैं और चले जाते हैं—यह आवश्यक नही कि उनमे निकट सम्पर्क स्थापित हो। बैंक एक द्वैतीयक समूह है जहाँ कर्मचारी अपने काम मे लगे रहते हैं और ग्राहक आते तथा चले जाते हैं। कर्मचारियो और ग्राहको मे कोई प्राथमिक सम्बन्ध नही होते।

द्वैतीयक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Secondary Groups)

द्वैतीयक समूह की प्रकृति इनकी निम्नांकित विशेषताओं मे और भी स्पष्ट हो जाती है—

(1) **जान बूझ कर निर्माण**—द्वैतीयक समूह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति हेतु जान बूझकर बनाए जाते हैं। अत इनसे सामान्य और विशेष दोनो ही प्रकार के उद्देश्य पूरे होते हैं।

(2) **व्यक्ति की स्थिति उसके कार्य पर निर्भर**—सदस्यो की समूह मे जो स्थिति होती है उसी के अनुरूप उन्हें कार्य करना पडता है। जन्म और कुल का कोई महत्त्व नही होता। व्यक्ति चाहे परिजन परिवार का हो पर समूह मे उसकी स्थिति *एक मजिस्ट्रेट या प्रिंसिपल की है तो उसको इसी रूप मे कार्य करना पडता है और* उसकी स्थिति उसके पद के अनुरूप ही होती है।

(3) **व्यक्तियों को आत्म-निर्भर होना पड़ता है**—प्राथमिक समूहो की भांति द्वैतीयक समूह में व्यक्ति पारस्परिक सुरक्षा और सहानुभूति के नैतिक बन्धनो मे नही *बन्धे होते। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के प्रति स्वय जागरूक होना है और अपनी* आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे स्वय पर निर्भर रहना पडता है। सम्बन्ध चूँकि द्वैतीयक होते है अत लोग एक दूसरे के हितो पर ध्यान देने की चिन्ता नही करते।

(4) **सविदा या समझौते पर अत्यधिक ध्यान**—द्वैतीयक समूहो मे व्यक्ति *समझौतो (Contracts) की शर्तों से बँधे रहते है। अनौपचारिक व्यवहार के स्थान* पर औपचारिक व्यवहार होते हैं। नियन्त्रण कठोर होता है। औपचारिक नियमो और विधियो को पहले से ही बना दिया जाता है और उन्ही के अनुसार विभिन्न व्यक्तियो की चिंता न करते हुए, कार्य किया जाता है।

(5) **व्यक्तित्व के केवल एक भाग को प्रभावित करते हैं**—द्वैतीयक समूह

विशेष उद्देश्य के लिए बनाए जाते हैं, अतः उनमे व्यक्तियो का सम्पूर्ण व्यक्तित्व नही बल्कि कुछ अंश ही भाग लेता है। इसी कारण द्वैतीयक समूह व्यक्तियो के व्यक्तित्व के केवल एक भाग को ही प्रभावित कर पाते हैं।

(6) सदस्यों मे व्यक्तिवाद—द्वैतीयक समूहो मे सभी सदस्यो के लिए परस्पर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने की सम्भावना बहुत कम रहती है और शारीरिक निकटता कई बार बिलकुल नही होती। फलस्वरूप व्यक्तिवादी भावनाओ पर प्राधान्य होता है। सम्बन्ध प्राथमिक न होकर द्वैतीयक होते हैं और स्वार्थ पूरा होने पर व्यक्ति का समूह से प्रायः कोई प्रयोजन नही रहता। यह स्थिति द्वैतीयक समूहो को अस्थिर बना देती है।

(7) विस्तृत आकार—द्वैतीयक समूह आकार की दृष्टि से प्रायः अत्यधिक विस्तृत होते हैं। एक राष्ट्र भी द्वैतीयक समूह ही है।

(8) सक्रिय एवं निष्क्रिय सदस्यता—द्वैतीयक समूह मे व्यक्ति सक्रिय और निष्क्रिय दोनो ही प्रकार का सदस्य होता है, क्योंकि वह दोनो प्रकार से समूह के जीवन मे भाग लेता है। उदाहरणार्थ, एक राज्य का नागरिक अपने राज्य का अधिकांश मे निष्क्रिय सदस्य होता है।

(9) सम्बन्धो की स्थापना मे संचार-साधन महत्वपूर्ण—द्वैतीयक समूह अप्रत्यक्ष सम्बन्धो पर आधारित होते हैं जिनकी स्थापना मे तार, टेलीफोन, रेडियो, प्रेस आदि संचार साधनो का विशेष महत्व होता है। ये सम्पर्क के महत्वपूर्ण माध्यम होते हैं।

(10) परिवर्तनशीलता—द्वैतीयक समूहो का निर्माण आवश्यकतानुसार होता है, अतः आवश्यकताएँ बदलने के साथ समूहो की प्रकृति मे भी परिवर्तन हो जाता है। चूँकि ये समूह कुछ विशेष स्वार्थों से ही सम्बन्धित होते है अतः ये कम स्थाई होते हैं।

द्वैतीयक समूहो का महत्व
(Importance of Secondary Groups)

आधुनिक जटिल समाज मे हमारे सामाजिक सम्बन्धो की संख्या अधिकांशतः द्वैतीयक प्रकार की है अतः द्वैतीयक समूहो का अत्यधिक महत्वपूर्ण होना स्वाभाविक है। आज के युग मे केवल प्राथमिक समूहो की चारदीवारी मे बँधे रहकर हम आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन मे कोई सफलता प्राप्त नही कर सकते। केवल प्राथमिक समूहो से चिपटे रहने पर हमारे व्यक्तित्व का विकास नही हो सकता। जीवन के उच्चतर लक्ष्यों को पाने के लिए, अपने मानसिक धरातल को उच्चतर बनाने के लिए अपनी क्षमताओ के समुचित प्रदर्शन के लिए, अपनी विविध आवश्यकताओ और हितो की पूर्ति के लिए हम जितना द्वैतीयक समूहो पर निर्भर हैं, उतना प्राथमिक समूहो पर नही। द्वैतीयक समूहो के महत्व को पृथक् बिन्दुओ मे इंगित करना अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी रहेगा—

(1) आज का युग श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का युग है विशेषीकरण की योग्यता की प्राप्ति और उसका प्रदर्शन द्वैतीयक समूहो मे ही सम्भव है, क्योंकि द्वैतीयक समूहों की स्वय की प्रकृति विशेषीकृत होती है।

(2) द्वैतीयक समूह उन दोषो का बहुत कुछ निवारण करते हैं जो प्राथमिक समूहो के प्रकार्यों से उत्पन्न होते है। प्राथमिक समूह रूढ़िवादी प्रकृति के होते हैं जबकि द्वैतीयक समूह प्रगतिशील प्रकृति के। अतः जहाँ प्राथमिक समूह सामाजिक परिवर्तनो का स्वागत नही करते या अनमने ढग से बहुत कम करते हैं, वहाँ द्वैतीयक समूह समयानुकूल परिवर्तनो को लाने मे अग्रदूत का काम करते हैं। द्वैतीयक समूहो के सदस्य के रूप मे ही व्यक्ति अपने भविष्य के प्रति आशावान बनता है। भारतीय समाज मे अस्वस्थ प्रथाओ, परम्पराओ और अन्धविश्वासों को शिथिल करने मे द्वैतीयक समूहो का सबसे अधिक योगदान रहा है। इन समूहो ने हमे उदार दृष्टिकोण दिया है, नए व्यवहारो को ग्रहण करने की प्रेरणा दी है और युग के अनुरूप परिवर्तना को लाकर सस्कृति को आगे बढाया है।

(3) द्वैतीयक समूह बौद्धिकता विवेक और तर्क पर आधारित होते हैं अत व्यक्ति और समाज मे जागरूकता पैदा करते है। इन समूहो मे रहकर व्यक्ति का दृष्टिकोण बुद्धिवादी और तार्किक बन जाता है। भारत मे प्राथमिक समूह परिवार मे स्त्रियो की जो हीन दशा शताब्दियो से चली आ रही है उसका तिरस्कार करके स्त्रियो को ऊपर उठाने मे और अपने अधिकारो के प्रति सचेत करने मे द्वैतीयक समूहो का कितना जबर्दस्त हाथ रहा है, कहने की आवश्यकता नही। द्वैतीयक समूहो का प्रभाव इतना अधिक होता है कि अनेक उपनिवेशवादी समाजो को अपनी दमन नीति का परित्याग करना पडता है।

(4) आज के युग मे व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत अधिक और विविध रूपी है जिनकी पूर्ति प्राथमिक समूहो मे नही हो सकती। शिक्षा नौकरी राजनीतिक कार्यकलाप, सांस्कृतिक अभिरुचियां आदि बातो के लिए व्यक्ति को द्वैतीयक समूहो म प्रवेश करना ही पडता है। आज तो प्राथमिक समूहो के अनेक कार्यों को द्वैतीयक समूहो ने सम्भाल लिया है अत उनका महत्त्व इतना अधिक हो गया है कि हम उनकी अवहेलना करने की सोच ही नही सकते।

(5) द्वैतीयक समूह सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन है। पुलिस, न्यायपालिका, कानून, प्रशासकीय सगठन आदि द्वैतीयक समूह व्यक्तियो पर किस रूप म और कितने अधिक नियन्त्रणकारी हैं, यह हर आम आदमी जानता है। आज के जटिल औद्योगिक और हित-प्रधान युग मे केवल धर्म और प्रथाओ द्वारा व्यक्तियो के व्यवहारो पर समुचित नियन्त्रण नही रखा जा सकता।

(6) द्वैतीयक समूहो ने श्रम को जितना अधिक प्रोत्साहन दिया है, उतना अन्य किसी ने नही। जहाँ प्राथमिक समूह अकर्मण्यता को प्रोत्साहन देते हैं, वहा द्वैतीयक समूह व्यक्ति मे काम करने की प्रेरणा भरते हैं और यह आशा जाग्रत करते

हैं कि श्रम का उसे समुचित पुरस्कार मिलेगा। द्वैतीयक समूह व्यक्ति की क्षमताओं को जगाते हैं और श्रम की दिशायें कर्म करने की दिशा में मोड़ते हैं। इनके फलस्वरूप व्यक्ति की क्षमताओं का जो लाभ उठाया जाता है वह न केवल व्यक्ति वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए बहुमूल्य है।

प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों में अन्तर

(Distinction between Primary & Secondary Groups)

(1) प्राथमिक समूहों के व्यक्तियों के सम्बन्ध प्राथमिक अर्थात् आन्तरिक और वैयक्तिक होते हैं जिनमें औपचारिकता या दिखावा नहीं होता। इसके विपरीत द्वैतीयक समूहों में सम्बन्ध द्वैतीयक होते हैं अर्थात बाह्य, अवैयक्तिक और अनौपचारिक होते हैं।

(2) प्राथमिक समूहों के सम्बन्धों में निरन्तरता पाई जाती है जबकि द्वैतीयक समूहों के सम्बन्ध में यह विशेषता नहीं होती। इन समूहों के बहुत से सदस्यों को तो एक दूसरे की जानकारी प्राप्त करने के अवसर भी नहीं मिल पाते।

(3) प्राथमिक समूह में स्थिति का निश्चय जन्म एवं कुल के आधार पर होता है द्वैतीयक समूह में कार्यों के आधार पर स्थिति निश्चित की जाती है, जन्म एवं कुल को महत्त्व नहीं दिया जाता।

(4) प्राथमिक समूह हमारे विचारों को ढालते और हमारे सम्बन्धों का मार्ग-दर्शन करते हैं तथा हमारी सभी क्रियाओं को चारों ओर से प्रभावित करते हैं। इस तरह इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है। दूसरी ओर द्वैतीयक समूह विशेषीकृत होते हैं जिनका प्रभाव क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहता है। इन समूहों की प्रकृति विभिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न होती है, अतः इन्हें सर्वव्यापी भी नहीं कहा जा सकता।

(5) प्राथमिक समूह सदस्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं जबकि द्वैतीयक समूह व्यक्तित्व के एक विशेष भाग से ही।

(6) प्राथमिक समूहों में नियन्त्रण की बाह्य शक्तियों का सहारा नहीं लिया जाता और नैतिक नियन्त्रण की प्रधानता रहती है। द्वैतीयक समूहों में पुलिस, न्यायालय आदि नियन्त्रणकारी बाह्य शक्तियों का सहारा लिया जाता है और नैतिक नियन्त्रण जैसी बात की प्रधानता नहीं होती। नियन्त्रण तोड़ने पर दण्ड की व्यवस्था भी रहती है।

(7) प्राथमिक समूहों की अपेक्षा द्वैतीयक समूह अपेक्षाकृत बहुत अधिक विस्तृत होते हैं। प्राथमिक समूह में साधारणतः सदस्यों की संख्या दो से पचास या साठ तक हो सकती है जबकि द्वैतीयक समूह में नगर और राष्ट्र तक सम्मिलित कर लिए जाते हैं।

(8) प्राथमिक समूहों का विकास स्वतः होता है जबकि द्वैतीयक समूह जानबूझ कर आवश्यकतानुसार निर्मित किए जाते हैं।

(9) प्राथमिक समूहो के सम्बन्ध सदस्यो मे एकीकरण और घनिष्टता के भाव उत्पन्न करते है जबकि द्वैतीयक समूहो मे एकीकरणकारी शक्तियाँ अधिक प्रबल नही होती और सम्बन्धो की प्रकृति अधिक स्वतन्त्र होती है।

(10) प्राथमिक समूह का सदस्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए समूह पर निर्भर रहता है और सभी सदस्यो मे पूर्ण सहयोग की भावना रहती है। द्वैतीयक समूहो मे व्यक्तियो को आत्म-निर्भर होना पड़ता है और प्राय किसी को किसी की चिन्ता नही रहती।

(11) प्राथमिक समूहों के सदस्यो के उद्देश्य समान होते हैं और अपने उद्देश्य का वे समूह के उद्देश्य से साम्य करते हैं। इसके विपरीत द्वैतीयक समूहो के सदस्यो मे उद्देश्य समान नही होते, वे तो उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए परस्पर मिलते हैं। उनके उद्देश्य मे साम्य स्थापित नही हो पाता, क्योकि स्वार्थ की भावना ही प्रधान होती है।

(12) प्राथमिक समूहो का मानवीकरण और समाजीकरण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है जबकि द्वैतीयक समूहो का समाजीकरण मे योग तुलनात्मक रूप से बहुत कम होता है क्योकि इनका प्रभाव प्राय युवावस्था के बाद ही प्रारम्भ होता है। साथ ही प्राथमिक समूहो के समान ये आदर्श को भी कोई प्रमुख स्थान नही देते।

(13) प्राथमिक समूहो मे वैयक्तिक हित समूह के हित मे विलीन हो जाते हैं जबकि द्वैतीयक समूह मे वैयक्तिक हित के समक्ष सामूहिक हितों को गौण स्थान दिया जाता है।

(14) प्राथमिक समूहो की सदस्यता अनिवार्य होती है जबकि द्वैतीयक समूह की ऐच्छिक।

(15) परिवार, पड़ोस, क्लब, छोटी-छोटी दूकानें, मन्दिर आदि प्राथमिक समूह के दृष्टान्त हैं। राष्ट्र, राजनीतिक दल, नगर के बड़े-बड़े व्यापार सघ, बड़े-बड़े सगठन, शिक्षण सस्थान आदि द्वैतीयक समूहो के दृष्टान्त हैं।

ध्यान रहे कि प्राथमिक और द्वैतीयक समूहो मे जो अन्तर है वे स्थिर प्रकृति के नही हैं। आज के जटिल औद्योगिक युग म प्राथमिक समूहो म औपचारिकता, विशेषीकरण, आदि का प्रभाव बढ़ रहा है तो दूसरी ओर द्वैतीयक समूह अधिकाधिक स्थाई बनते जा रहे ह। इसके अतिरिक्त द्वैतीयक समूह चाहे कितने ही अवैयक्तिक हो, प्राथमिक समूहो स उनका गठबन्धन अवश्य ही होता है क्योकि व्यक्ति प्राथमिक समूह का भी सदस्य होता है और द्वैतीयक का भी। डेविस के शब्दो मे, द्वैतीयक समूहो के बीच का अन्तर ऐसा है कि उसे मूल रूप म परिवर्तित करके स्पष्ट नही किया जा सकता।' डेविस ने प्राथमिक और द्वैतीयक समूहो का एक उपयुक्त मॉडल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो अग्रानुसार है—

प्राथमिक तथा द्वैतीयक सम्बन्ध[1]

	भौतिक स्थितियाँ	सामाजिक विशेषताएँ	सम्बन्धों के उदाहरण	समूहों के उदाहरण
प्राथमिक (Primary)	स्थानीय निकटता	लक्ष्यों की पहचान	मित्र–मित्र	क्रीड़ा–समूह
	कम संख्या	सम्बन्धों का आंतरिक मूल्यांकन	पति–पत्नी	कुटुम्ब
	लम्बी अवधि	अन्य व्यक्तियों का आन्तरिक मूल्यांकन	माता–पिता, बच्चा	गाँव या पड़ोस
		अन्य व्यक्तियों का अभिव्यापक ज्ञान	अध्यापक–शिष्य	एक साथ काम करने वाले
		स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छा की भावना		
		अनौपचारिक नियन्त्रण की कार्यशीलता		
द्वैतीयक (Secondary)	स्थानीय दूरी	लक्ष्यों की अनेकरूपता	क्लर्क एव ग्राहक	राष्ट्र
	अधिक संख्या	सम्बन्धों का बाह्य मूल्यांकन	भाषण देने वाला एव श्रोता	क्लर्कों का उपक्रम
	अल्प अवधि	अन्य व्यक्तियों का बाह्य मूल्यांकन	अभिनेता–दर्शक	व्यावसायिक समिति
		अन्य व्यक्तियों का सीमित तथा विशेषीकृत ज्ञान	अधिकारी-अधीन-व्यक्ति	निगम
		बाह्य नियन्त्रण की भावना	लेखक-पाठक	
		औपचारिक नियन्त्रण की कार्यशीलता		

1. किंगसले डेविस वही, पृष्ठ 266

अर्द्ध-समूह : अर्थ एवं परिभाषा
(Quasi Groups Meaning & Definition)

अर्द्ध-समूहो को आभासी समूह और अर्द्ध-प्राथमिक समूह के नाम से भी पुकारा जाता है। चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहो की व्याख्या के अतिरिक्त अर्द्ध-समूह का भी उल्लेख किया है। इन समूहो के सदर्भ मे हमारे अध्ययन के केन्द्र-बिन्दु ये होंगे—

1 अर्द्ध-समूहो का अर्थ एव परिभाषा
2. प्राथमिक समूहो और अर्द्ध-समूहो मे अन्तर
3 जाति एव वर्ग

अर्द्ध-समूह अर्थ एवम् परिभाषा
(Quasi-Groups Meaning & Definition)

अर्द्ध समूहों से हमारा तात्पर्य ऐसे समूहो से होता है जिनकी अधिकांश विशेषताएँ तो द्वैतीयक समूहों जैसी होती हैं, लेकिन सम्बन्धो मे इतनी घनिष्ठता पाई जाती है और सदस्यो की सख्या भी कभी-कभी इतनी कम होती है कि ऐसा आभास होता है मानो ये प्राथमिक समूह है। दूसरे शब्दो मे, ऐसे समूहो को "आभासी" इसलिए कहा जाता है कि ये प्राथमिक समूहो के इतने निकट होते हैं कि इनमें प्राथमिक समूहो की विशेषताओ का आभास मिलता है जबकि वस्तुत ये प्राथमिक समूह नही होते। प्राथमिक समूह और अर्द्ध अथवा आभासी समूहो मे सबसे प्रमुख अन्तर यही है कि जहां प्राथमिक समूह किसी विशेष उद्देश्य अथवा हित की पूर्ति के लिए नही बनाया जाता वहां अर्द्ध-समूह अथवा अर्द्ध-प्राथमिक समूह किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। प्राथमिक समूहो के विपरीत इनका सगठन बहुत-कुछ कृत्रिम होता है।

अर्द्ध-समूहो की इन विशेषताओ के आधार पर ही कूले ने इन्हे परिभाषित करते हुए लिखा है—"ये घनिष्ट आमने-सामने के सम्बन्धो द्वारा सगठित वे समूह

हैं जो अपने संगठन सम्बन्धी विशेषताओं और अपने विशेष उद्देश्य के कारण सीमित आकार के होते हैं।" टी० बी० बाटामोर ने अर्द्ध-समूह का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह व्यक्तियों का ऐसा योग है जिसमें संगठन अथवा संरचना का अभाव होता है और जिसके सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति कम जागरूक अथवा अनभिज्ञ हो सकते हैं। सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति समूह, आयु और लिंग समूह, भीड़ आदि अर्द्ध अथवा आभासी समूह के उदाहरण हैं।[1]

प्राथमिक समूहों और अर्द्ध-समूहों में अन्तर
(Distinction between Primary and Quasi-Groups)

अर्द्ध-समूहों को भली प्रकार समझने के लिए यह उपयुक्त होगा कि इनमें और प्राथमिक समूहों में अन्तर के प्रमुख बिन्दुओं को समझ लिया जाय—

(1) प्राथमिक समूह में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन बीत जाता है और सदस्य प्राय असीमित उत्तरदायित्व की भावना का अनुभव करते हैं। इसके विपरीत अर्द्ध-समूहों का सम्बन्ध केवल कुछ विशेष प्रकार के उद्देश्य और व्यवहारों से ही होता है।

(2) प्राथमिक समूहों के अन्तर्गत सदस्यों में एकीकरण की भावना को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। दूसरी ओर अर्द्ध-समूह अपने सदस्यों में केवल तभी तक संगठन बनाए रखने का प्रयास करते हैं जब तक कि सदस्य समूह में रहते हैं।

(3) प्राथमिक समूह आकार में बहुत छोटे होते हैं जबकि अर्द्ध-समूह प्राथमिक समूहों से कुछ बड़े किन्तु द्वैतीयक समूह से कुछ छोटे होते हैं।

(4) प्राथमिक समूह स्वतः विकसित होते हैं, बनाए नहीं जाते। अर्द्ध अथवा आभासी समूहों का आवश्यकतानुसार निर्माण किया जाता है।

(5) प्राथमिक समूह अर्द्ध-समूहों की अपेक्षा अधिक स्थाई होते हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि ये समाज के उन आदर्श नियमों पर आधारित होते हैं जिनकी अवहेलना करना सुगम नहीं होता।

प्राथमिक समूहों के प्रमुख उदाहरणों के रूप में हम परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र-समूह, पड़ोस आदि को ले सकते हैं जबकि अर्द्ध-समूह के अन्तर्गत जातीय संघ, सामाजिक वर्ग, विचार गोष्ठियाँ, स्काउट संगठन, प्रस्थिति समूह, आयु और लिंग समूह आदि लिए जाते हैं। अर्द्ध-समूह की उपर्युक्त धारणा के आधार पर हम संक्षेप में जाति एवं वर्ग का उदाहरण लेकर इन समूहों की प्रकृति और भी अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं।

1. *T. B Bottomore*, Sociology, p. 92

जाति एव वर्ग
(Caste and Class)

यहा हमारा मतव्य जाति व्यवस्था और वग व्यवस्था का विस्तृत विवेचन करना नही है। हम सक्षेप मे जाति और वग के अभिप्राय को समझते हुए दोनो में अन्तर प्रकट करना ही पर्याप्त समझगे।

जाति का अभिप्राय

जाति प्रथा का चरम रूप हमे भारत म देखने को मिलता है तथापि यह कवल भारत की ही विशेषता नही है क्योकि जाति व्यवस्था ससार के सभी स्थानो पर विद्यमान है और सभी धर्मों के लगभग सभी व्यक्तियो को प्रभावित करती है। ईसाइयो मे धम के आधार पर दो प्रमुख जातियां हैं—कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट। इन दोनों ही धर्मावलम्बियो मे जाति के समान ही नियत्रण और सामाजिक दूरी का अस्तित्व है। अमेरिका मे नीग्रो लोगो को निम्न जाति का समझा जाता है तो यूरोप निवासी यहूदियो को निम्न जाति का सदस्य मानते हुए उनसे सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं। मुसलमानो म भी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं।

जाति को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। हट्टन के अनुसार जाति वह व्यवस्था है जिसके अन्तगत सम्पूण समाज अनेक आत्म केन्द्रित तथा एक दूसरे से पृथक इकाइयो (जातियो) मे विभाजित है। इन इकाइयो के आपसी सम्बन्ध ऊँच नीच के आधार पर सास्कृतिक रूप से निश्चित होते है। केतकर ने लिखा है कि जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं–(क) सदस्यता केवल उन व्यक्तियो तक ही सीमित होती है जो उसी जाति विशेष के सदस्यो से पैदा हुए हैं और इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्तियो को वह सम्मिलित करती है एव (ख) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं। जाति व्यवस्था के लगभग सभी प्रमुख पक्षों को लेते हुए मिचेल (Mitchell) ने लिखा ह कि जाति व्यवस्था धार्मिक विश्वासो पर आधारित एक ऐसे वशानुगत सस्तरण अन्तर्विवाह और व्यावसायिक समूह की ओर सकेत करती है जिसमे विभिन्न कम काण्डो और सस्कारो द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को पूव निर्धारित करके उसम किसी भी प्रकार के परिवतनो पर नियत्रण रखा दिया जाता है।

वास्तव म कोई भी एक या दो परिभाषाए जाति व्यवस्था को स्पष्ट नहीं कर सकती। हम यही कह सकत है कि यह एक गतिशील व्यवस्था है जिसमे मुख्यत जन्म पर आधारित सामाजिक सस्तरण और खण्ड विभाजन पाया जाता है और जिसके सदस्यो पर खान पान विवाह व्यवसाय सामाजिक सहवास आदि के बारे मे न्यूनाधिक प्रतिबन्ध लगे होते हैं। य प्रतिबन्ध ऐसे नहीं होते जो तोड या भग नही किए जा सकत। धन प्रतिष्ठा अथवा सत्ता क आधार पर जाति परिवतन हो जाता है।

वर्ग का अभिप्राय

जाति की भाँति वर्ग भी सामाजिक सस्तरण अथवा स्तरीकरण (Social Stratification) का एक प्रमुख आधार है। वर्तमान औद्योगिक समाजो का सस्तरण जाति की बजाय प्रमुख रूप से विभिन्न वर्गों पर ही निर्भर है। औद्योगीकरण के आज के युग मे सामाजिक गतिशीलता ज्यो-ज्यो बढ रही है सामाजिक वर्गों (Social Classes) के महत्व मे भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। समाज के विभिन्न वर्गों की रचना पिरामिड जैसी होती है जिसमे सबसे ऊपर के वर्ग मे सबसे कम और सबसे नीचे के वर्ग मे सबसे अधिक सदस्य होते हैं।

वर्ग से हमारा आशय व्यक्तियो के उस समूह से है जिनकी सामाजिक स्थिति लगभग समान स्तर की होती है। जब समान सामाजिक पद के कारण कुछ व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करते हैं तो उनके एक वर्ग का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार वर्ग की सदस्यता जाति की भाति जन्मगत न होकर अर्जित होती है। प्रत्येक समाज मे सब लोगो की स्थिति पद और कार्य एक जैसे नही होते। यह निश्चित करने के लिए कि किसकी स्थिति ऊँची और किसकी नीची होगी, विभिन्न समाजो म प्राय विभिन्न आधार होते हैं। उदाहरण के लिए व्यवसाय, सम्पत्ति, शिक्षा, धर्म, आयु आदि के आधार पर इसका निर्धारण किया जा सकता है। व्यवसाय के आधार पर किसान, क्लर्क, शिक्षक आदि समूह बन जाते हैं तो सम्पत्ति के आधार पर पूँजीपति एव श्रमिक वर्गों का निर्माण होता है। अभिप्राय यह हुआ कि जब जन्म को छोड कर अन्य किसी आधार पर समाज विभिन्न समूहो मे बँटा होता है तो उनमे से प्रत्येक समूह को एक सामाजिक वर्ग कहा जाता है।

सामाजिक वर्ग को पारिभाषिक रूप मे समझें, तो ऑगबर्न एव निमकॉफ के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग की आधारभूत विशेषता अन्य सामाजिक वर्गों की तुलना मे उसकी उच्च अथवा निम्न स्थिति है।" जिन्सबर्ग के शब्दो मे, "एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियो का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी है जिसका समाज मे एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद ही अन्य समूहो से उसके सम्बन्ध को निर्धारित करता है।" मेकाइवर एव पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक पद अथवा प्रस्थिति के आधार पर समुदाय के शेष भाग से अलग कर दिया गया हो।"

इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि सामाजिक वर्ग के तीन अनिवार्य तत्व है—(क) प्रस्थिति-समूहों (Status Groups) का उतार चढाव अर्थात् समाज मे वर्गों की एक ऐसी श्रेणी जिसमे उच्चतम वर्ग स क्रमशः निम्नतम वर्ग हो, (ख) ऊँच-नीच की भावना अर्थात् एक वर्ग के सदस्यो द्वारा दूसरे वर्ग के सदस्यो के प्रति श्रेष्ठता या हीनता की भावना रखना और उसे प्रदर्शित करना तथा (ग) वर्ग-चेतना (Class Consciousness) अर्थात् प्रत्येक वर्ग का इस बात के प्रति जागरूक रहना कि उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा दूसरे वर्गों की अपेक्षा कम है अथवा अधिक। वास्तव मे यह

तीसरा तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वर्ग चेतना के अभाव में वर्ग-क्रिया गतिशील नहीं रह सकती।

जाति और वर्ग में अन्तर

जाति और वर्ग के अभिप्राय को समझ लेने के उपरान्त दोनों में पाए जाने वाले विभिन्न अन्तरों पर दृष्टिपात कर लेना उपयुक्त है ताकि दोनों की प्रकृति को अधिक अच्छी-तरह समझा जा सके—

(1) जाति बन्द है जबकि वर्ग में खुलापन है। जाति में सामाजिक स्तर का निर्धारण जन्म से होता है जबकि वर्ग-व्यवस्था में व्यक्ति की असमानताओं को मान्यता मिलती है—और उसको उन्नति के लिए समान अवसर दिए जाते हैं। व्यक्ति एक जाति को छोड़कर दूसरी जाति की सदस्यता ग्रहण नहीं कर सकता जबकि अपनी योग्यता के बल पर व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश कर सकता है।

(2) प्रथम अन्तर से ही प्रकट है कि जाति जन्म पर आधारित है और वर्ग कर्म पर। व्यक्ति एक बार जिस जाति में जन्म लेता है, मृत्यु तक वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है, लेकिन वर्ग की सदस्यता पर यह बात लागू नहीं होती। निम्नतम वर्ग का सदस्य भी अच्छे और योग्य कार्य करके उच्चतम वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में जाति में व्यक्तिगत क्षमता और योग्यता की प्रायः उपेक्षा की जाती है जबकि वर्ग में स्थिति इससे बिलकुल उल्टी होती है।

(3) जाति में व्यवसाय का निश्चित बहुत कुछ जन्म से हो जाता है। इसके विपरीत वर्ग-व्यवस्था में स्वेच्छानुसार व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। सदस्य अपनी रुचि और साधनों के अनुसार किसी भी पेशे को अपना सकता है, जिसकी सुविधा जाति में प्राय नहीं दी जाती।

(4) जाति की सदस्यता जन्मजात होती है और समाज की ओर से उसे अपने आप प्राप्त हो जाती है। दूसरी ओर वर्ग की सदस्यता अर्जित की जाती है तथा अपने प्रयासों से व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में प्रवेश पा सकता है।

(5) जाति में जीवन यापन के सभी कार्यों और आचरणों को प्राय कुछ निश्चित नियमों के अनुसार निभाना पड़ता है जबकि वर्ग-व्यवस्था इस प्रकार के बन्धनों से मुक्त होती है। वहाँ खान-पान, पूजा-पाठ, आदि के नियम-बन्धन नहीं होते, अपितु प्रत्येक क्षेत्र में खुलापन होता है।

(6) जाति में सामाजिक सम्बन्ध प्राय: निश्चित और स्थिर होते हैं जबकि वर्ग-व्यवस्था में ये सम्बन्ध समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं।

(7) जाति का आधार सामाजिक होता है, जिसमें आर्थिक आधार पर व्यक्ति के अस्तित्व में परिवर्तन नहीं होता। करोड़पति और साधारण चपरासी जाति की दृष्टि में समान हैं तथा एक पंक्ति में बैठने वाले हैं। दूसरी ओर वर्ग की उच्चता

का आधार आर्थिक है। आर्थिक स्थिति में परिवर्तन होने के साथ-साथ वग की सदस्यता मे अपने आप उतार-चढाव होता रहता है।

(8) जाति व्यवस्था मे प्राय. हर जाति के अपने अलग-अलग अधिकार और व्यवसाय होते हैं। छोटी जातियों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए बडी जातियो मे प्राय. होड लगती है। दूसरी ओर वर्ग व्यवस्था मे अल्प-सख्यक लोग ही शीर्ष स्थान पर होते हैं जो सम्पूर्ण वर्ग के लोगो का शोषण करने की चेष्टा करते हैं।

वास्तव मे, जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो सबसे प्रमुख आधार हैं—यद्यपि प्रकृति एव अर्थ के आधार पर इनके बीच अनेक अन्तर प्रकट किए जाते हैं, तथापि व्यवहार मे यही देखा जाता है कि वर्गों के बीच भी जाति व्यवस्था के लक्षण अपना प्रभाव जमाए हुए हैं। भारतीय समाज परिवर्तन के जिस दौर से गुजर रहा है, उसमे वर्ग व्यवस्था का महत्त्व बढता जा रहा है। विलासी वर्ग, प्रबन्धक एव शासक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, मध्यस्थ वर्ग, निम्न वर्ग आदि प्रधान वर्गों में हम भारतीय समाज को विभक्त कर सकते हैं। आज जातिगत नियमो में भी पहले की भाँति कठोरता नही रही है। उनमे इतनी तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं कि उनकी प्रकृति बहुत-कुछ वर्ग के अनुरूप बनती जा रही है। यदि विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक दूरी बनाए रखने के प्रयत्नो के कारण वर्गों मे जाति-व्यवस्था के लक्षण देखने को मिलते हैं तो जातिगत नियमो मे शिथिलता आने से जातियाँ वर्गों के निकट आ रही हैं। फिर भी, भारतीय सामाजिक सगठन मे जाति-व्यवस्था आज भी इतनी जड जमाए हुए है कि वह सम्भवतः सुदूर भविष्य मे भी वर्ग-व्यवस्था मे पूर्ण रूप मे परिवर्तित नही हो सकेगी।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय

(*Rural and Urban Communities*)

हम प्राथमिक, द्वैतीयक और आभासी समूहों का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम विशिष्ट प्रकार के प्रादेशिक समूह "समुदाय" की ओर ध्यान देंगे, जिसकी एक निश्चित स्थान पर रहने के कारण होती है।[2] स्थानीय प्रादेशिक समूह मानव-समाज में सार्वभौमिक रूप से महत्वपूर्ण है।[3] वास्तव मे "ग्रामीण समुदाय" और "नगरीय समुदाय"—ये दोनो अपने आकार मे इतने बड़े होते है और इतने व्यापक तथा विविध पक्षो को अपने मे समेटे हुए हैं कि इनके भीतर व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन सरलता और सन्तोष के साथ व्यतीत हो सकता है। यदि हम सम्पूर्ण मानव-समाज को दो ही प्रमुख समुदायो मे विभक्त करें तो ये समुदाय स्पष्ट रूप से "ग्रामीण समुदाय" और "नगरीय समुदाय" होंगे। आकार-प्रकार और अन्य दृष्टियो से एक दूसरे से काफी भिन्न होते हुए भी ये समुदाय एक दूसरे के पूरक हैं, और आधुनिक समाजो म अधिकाधिक सख्या मे ग्रामीण समुदाय नगरीय समुदायो की विशेषताओं को ग्रहण करते जा रहे हैं। विषय-सामग्री पर विस्तृत विवेचन से पूर्व उपयुक्त होगा कि हम अपने अध्ययन की रूपरेखा समझ लें—

1 समुदाय अर्थ और परिभाषा
2 ग्रामीण समुदाय अर्थ और परिभाषा
3 ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ

1. मेकाइवर तथा पेज : समाज, पेज 286
2. किंग्सले डेविस : वही, पेज 269.
3. वही, पेज 269.

4. ग्रामीण समुदाय के विकास के कारण
5. नगरीय समुदाय : अर्थ एवं परिभाषा
6. नगरीय समुदाय की विशेषताएँ
7 नगरो के विकास के कारण
8 ग्रामीण और नगरीय समुदाय की तुलना
9 ग्रामीण और नगरीय समुदाय का समाजशास्त्रीय महत्व

समुदाय : अर्थ एवं परिभाषा
(Community : Meaning and Definition)

जहाँ कहीं भी मनुष्य साथ-साथ रहते हैं, वहाँ किसी न किसी मात्रा मे समुदाय का अस्तित्व होता है ।[1] वास्तव मे, समुदाय एक ऐसा बृहत् मानव-समूह है जो किसी निश्चित क्षेत्र मे निवास करता है, अर्थात् जिसकी सदस्यता एक निश्चित स्थान पर रहने के कारण होती है ।[2] इस प्रकार समुदाय एक मूर्त (Concrete) सगठन है ।

डेविस ने लिखा है कि समस्त मानवीय समुदायो को अपने मे सम्मिलित करने वाली एक सामान्य परिभाषा प्रस्तुत करने के प्रयत्न मे तो वही कठिनाई उपस्थित होती है जो प्राथमिक एव द्वैतीयक समूहो के सन्दर्भ मे है, लेकिन इसकी दो प्रकार की कसौटियाँ रखी जा सकती हैं—एक भौतिक कसौटी अथवा प्रादेशिक निकटता (Territorial Proximity), एव दूसरी सामाजिक पूर्णता (Social Completeness) । दोनो मे से अकेले किसी एक से समुदाय की परिभाषा नही की जा सकती ।[3] प्रादेशिक निकटता से अभिप्राय है कि व्यक्ति-समूह निश्चित क्षेत्र में रहता है । निकटता सम्पर्क को सुगम बनाती है, सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है और समूह के सगठन को सुविधाजनक बनाती है । एक ही निश्चित क्षेत्र मे रहने वाले व्यक्ति-समूह मे स्थानीय विभाजन के प्रतिमान बनते जाते हैं जो समूह की सरचना के प्रतीक होते हैं । सामाजिक पूर्णता का अभिप्राय है कि समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह होता है जो सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओ को अपने मे समेटे रहता है, जो उन सभी विस्तृत सस्थाओ और पदो एव रुचियो को सम्मिलित करता है जो कि समाज का निर्माण करती हैं । समुदाय को अपने बाहर अन्य समूहो के अस्तित्व की आवश्यकता नही पड़ती, जैसी आवश्यकता गोत्र, गिरोह, सघ, व्यापार या फर्म को होती है । समुदाय के लक्ष्य अधिकांश समूहो के लक्ष्यो की अपेक्षा अधिक अन्तिम प्रकृति के होते हैं । यह सबसे छोटा स्थानीय समूह है, जो पूर्ण समाज हो सकता है और बहुधा होता भी है ।[4]

1. मेकाइवर एव पेज : वही, पृष्ठ 28[5]
2. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 269
3 वही, पृष्ठ 269
4. वही, पृष्ठ 270-71

मेकाइवर एव पेज के अनुसार, "सामाजिक जीवन के उस क्षेत्र को समुदाय कहते हैं जिसे सामाजिक सम्बद्धता अथवा सामञ्जस्य (Social Coherence) की कुछ मात्रा द्वारा पहिचाना जा सकता हो।"[1] इस परिभाषा के अनुसार समुदाय के दो मुख्य आधार हैं—स्थानीय क्षेत्र और सामुदायिक भावना। एक छोटा शहर, नगर, एक विशाल राष्ट्र या आदिवासी कबीला सभी समुदाय हैं। समुदाय की सर्वप्रमुख विशेषता उसका अपना पृथक् सामाजिक जीवन है जिसमे सदस्य लगभग समान रीतियों, व्यवहारो और सांस्कृतिक विशेषताओ के कारण परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। समुदाय की आधारभूत कसौटी यह है कि मनुष्य के समस्त सामाजिक सम्बन्ध उसके भीतर ही मिल जाएँ।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समुदाय एक ऐसा वृहत् मानव-समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे सामुदायिक भावना द्वारा सगठित रहता है और जिसमे लोग अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। वैसे, सभ्यता के विकास के साथ-साथ समुदाय की धारणा व्यापक बनती जा रही है और इसी तथ्य की ओर सकेत करते हुए बोगार्डस ने लिखा है कि समुदाय का विचार पडोस से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण विश्व तक पहुँच जाता है।[3] सयुक्त राष्ट्रसघ एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय (An International Community) ही है।[4]

ग्रामीण समुदाय : अर्थ एवं परिभाषा
(Rural Community : Meaning and Definition)

गाँवो से हम सभी परिचित हैं। गाँव अथवा ग्रामीण समुदाय एकाएक आकस्मिक रूप से उत्पन्न नही हो गए वरन् उनका शनै-शनै विकास हुआ, और इस बात को ध्यान मे रखते हुए हम कह सकते हैं कि ग्रामीण समुदाय वह व्यक्ति-समूह है जो लगभग निश्चित भौगोलिक क्षेत्र मे दीर्घकाल से निवास करता आ रहा हो और सदस्यो मे सामुदायिक भावना तथा ऐसे सांस्कृतिक, सामाजिक, एव आर्थिक सम्बन्धों का विकास हो चुका हो जो उनको अन्य समुदायो से अलग करते हो। मैरिल एव एल्रिच के अनुसार, "ग्रामीण समुदाय के अन्तर्गत सस्थाओ और ऐसे व्यक्तियो का सकलन होता है जो छोटे से केन्द्र के चारो ओर सगठित होते हैं तथा सामान्य प्राथमिक हितों मे भाग लेते हैं।" सिम्सबर्ग के अनुसार ग्रामीण समुदाय का अभिप्राय उस सामुदायिक जीवन से है जो अनौपचारिक, प्राथमिक, सरल तथा परम्परावादी सम्बन्धो द्वारा समाज की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है।

यथार्थ मे, ग्रामीण एव नगरीय भिन्नता एक समानुपातिक उतार-चढाव है। जहाँ पूर्णत एक आदिम समाज विशुद्ध रूप से एक ग्रामीण समाज होता है और

1 मेकाइवर एवं पेज . वही, पृष्ठ 8
2 वही, पृष्ठ 8.
3 E S *Bogardus* · Sociology, p 22.
4 *Ogburn and Nimkoff* A Handbook of Sociology, p 247.

नगरीय प्रभाव से मुक्त होता है, वहाँ आधुनिक सभ्य समाज सदैव आंशिक रूप से नगरीय विशेषताओं को लिए रहता है।[1] कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि *अधिक जनसंख्या के घनत्व वाले सभी स्थान नगर हैं।* बहुत से कृषि-प्रधान गाँवों में भी जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक पाया जाता है, किन्तु हम उन्हें नगर नहीं कहते। इन गाँवों की कुल जनसंख्या प्रायः बहुत कम होती है तथा आवास के योग्य क्षेत्र भी कम होता है। यह कहना उपयुक्त होगा कि गाँवों का वह सरल रूप आज नहीं रहा है जो पहले था। भौगोलिक, प्रादेशिक एवं जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं में निरन्तर परिवर्तन आते जा रहे हैं और इन परिवर्तनों के साथ-साथ ग्रामीण संगठन और विशेषताओं में भी कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। सामान्यतः, ग्रामीण समुदाय में हम आशय व्यक्तियों के ऐसे समूह से लेते हैं जो लगभग निश्चित छोटे-से भू-भाग में दीर्घकाल से साथ-साथ रह रहे हों और जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति भली-भाँति कर लेते हों और जिनमें ऐसे अनौपचारिक, *प्राथमिक, सरल तथा परम्परावादी सम्बन्धों की प्रधानता हो जिनके द्वारा समाज की* प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ
(Characteristics of Rural Community)

ग्रामीण समुदाय को हम किसी परिभाषा की तुलना में उसकी विशेषताओं के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। हम व्यक्तियों के ऐसे समूह को, जिसमें निम्नलिखित अथवा उनमें से अधिकांश विशेषताएँ आधारभूत रूप में पाई जाती हों एक ग्रामीण समुदाय की संज्ञा दे सकते हैं—

(1) अधिक स्थाई और निरन्तर जीवन—ग्रामीण जीवन में स्थायित्व और और निरन्तरता एक आधारभूत विशेषता है। अतिदीर्घकालीन प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, सांस्कृतिक आदर्शों आदि के कारण उनके जीवन का एक विशेष रूप बन जाता है जिसकी प्रकृति लगभग स्थाई होती है। यही कारण है कि हमें भारत का ग्रामीण जीवन मौलिक रूप से आज भी बहुत कुछ वैसा ही दिखाई देता है जैसा सैकड़ों वर्ष पहले था। ग्रामीण समुदाय में आज भी परम्परागत कार्यों पर बल दिया जाता है, प्राचीनता से विशेष प्रेम है सामाजिक गतिशीलता बहुत कम है और अन्धविश्वासों तथा पुराने सांस्कृतिक आदर्शों की जड़ें गहरी हैं।

(2) सीमित आकार—गाँवों का आकार सीमित होता है। जनसंख्या का घनत्व प्रायः बहुत कम होता है। यदि कुछ गाँवों में जनसंख्या का घनत्व अधिक हो तो भी उनकी जनसंख्या बहुत कम होती है और आवास के योग्य क्षेत्र भी बहुत कम होता है। कृषि-व्यवसाय की प्रधानता होने से लोग अपनी भूमि से अधिक दूर नहीं रहना चाहते, अतः गाँव की जनसंख्या यदि अधिक बढ़ जाती है तो

1 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 273

प्राय दो छोटे-छोटे गाँवो मे विभक्त हो जाता है। ग्रामीण जीवन की आवश्यकताएँ नगरीय जीवन की तुलना में बहुत सीमित होती हैं, अत गाँव के लोग प्राय गाँव को एक छोटी इकाई बनाए रखने के प्रेमी होते हैं।

(3) **कृषि-व्यवसाय की प्रधानता**—ससार के लगभग सभी देशो में कृषि ही ग्रामीण जीवन का प्रमुख आधार है। विकसित देशो मे कृषि का बहुत कुछ आधुनिकीकरण हो चुका है, लेकिन विकासशील देशो मे कृषि बहुत कुछ 'प्रकृति की दया' पर निर्भर है। कृषि के अतिरिक्त बहुत छोटे स्तर पर दूसरे पेशे भी पाए जाते हैं, जैसे, लोहार का, सोने-चाँदी का, बढईगिरी का आदि। भारतीय ग्रामीण जीवन की एक विशेषता है कि देश मे औद्योगीकरण के प्रसार के बावजूद ग्रामीण जनसख्या मे वृद्धि हुई है जब कि दूसरे बहुसख्यक देशो मे ग्रामीण जनसख्या की कृषि पर निर्भरता घटी है।

(4) **परिवार का विशेष महत्त्व**—नगरों की तुलना मे ग्रामीण जीवन में परिवार का केन्द्रीय महत्त्व है। पारिवारिक परम्पराओ और मूल्यो से ग्रामीणो का सम्पूर्ण जीवन बहुत अधिक प्रभावित होता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा का एक बहुत बडा आधार उसके परिवार की पृष्ठभूमि ही होती है। 'सम्मानित" परिवार अथवा "असम्मानित' परिवार जैसी बात गाँव मे विशेष रूप से देखने को मिलती है और तदनुसार ही धार्मिक या सामाजिक उत्सवो म व्यक्ति की स्थिति निश्चित होती है। ग्रामीण जीवन मे वैवाहिक सम्बन्धो और नियन्त्रणो की स्थापना मे परिवार का जितना अधिक महत्त्व और प्रभाव होता है, उतना अन्य किसी सस्था या समूह का नही।

(5) **प्राथमिक सम्बन्धों की प्रधानता**—ग्रामीण जीवन के सगठन म प्राथमिक सम्बन्धो की प्रधानता पाई जाती है, अर्थात् लोग परस्पर प्रत्यक्ष रूप से सम्बधित रहते हैं, एक दूसरे के हितो की चिन्ता रखते हैं या उन्हे ठेम पहुँचाने का प्रयास प्राय नही करते, एक व्यक्ति की बुराई को गाँव की बुराई समझते हैं और एक दूसरे के द्वारा किए गए कार्यों से प्राय सभी लोग परिचित होते है। गाँव वस्तुत, प्राथमिक हितो की समानता पर आधारित समुदाय होता है जिसमे लोग गाँव को एक बडा परिवार मानते हुए आचरण करते हैं।

(6) **धार्मिक परम्पराओं, रूढियों और अन्धविश्वासों की प्रधानता**—ग्रामीण जीवन मे धर्म का अत्यधिक परम्परागत और सनातनी रूप देखने को मिलता है। परम्पराओ और रूढियो से लोग प्राय जकडे रहते हैं। धार्मिक विश्वासो के प्रति परिवर्तन या नवीनता की किसी भी बात को बुरा समझा जाता है। धर्म-परायण लोगों को बडा सम्मान दिया जाता है और अपने परिवार के धर्म मे किंचित भी अविश्वास करना एक बहुत बडा पाप और अपराध माना जाता है। लोग अपने अपने धर्म का पालन करते रहते हैं, धार्मिक हस्तक्षेप की प्रवृत्ति से प्राय दूर रहते हैं और इसीलिए ग्रामीण जीवन में धार्मिक सहिष्णुता अधिक देखने को मिलती है। धर्म के आधार पर ही समानता और भाईचारे को प्रोत्साहन मिलता है।

(7) **सरल, शुद्ध और प्राकृतिक जीवन**—ग्रामीण-जीवन प्रकृति के अधिक निकट होता है और सरलता तथा सादगी लिए हुए होता है। ग्रामीण लोग, चाहे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो या विपन्न, प्रायः मोटे कपड़े पहिनते हैं और सामान्य वस्तुओं से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। नगरीय परिवारों की तड़क-भड़क ग्रामीण परिवारों में देखने को नहीं मिलती। धोखे और कपट के व्यवहार आपस में प्रायः बहुत कम अपनाये जाते हैं। अनैतिक कार्य अच्छे नहीं समझे जाते, लोग उनसे प्रायः डरते हैं। ग्रामीण जीवन की सरलता को हम नगरीय लोग प्रायः "पिछड़ापन" और "दकियानूसीपन" कह देते हैं।

(8) **श्रम के विशेषीकरण का अभाव**—ग्रामीण समुदाय में आर्थिक जीवन सरल होता है, अतः श्रम के विशेषीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। जीवन से सम्बन्धित समस्याएँ सरल होती हैं अथवा नगरीय जीवन की तरह जटिल नहीं होतीं और गाँव का लगभग हर आम आदमी गाँव के सभी कामों का थोड़ा बहुत ज्ञान रखता है और अपना काम चला लेता है। यद्यपि विकसित पाश्चात्य देशों के गाँवों में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, लेकिन भारतीय ग्रामीण जीवन अभी इस प्रवृत्ति से मुक्त है।

(9) **अशिक्षा एवं भाग्यवादिता**—ग्रामीण जीवन में शिक्षा का प्रसार, नगरीय जीवन की तुलना में, नगण्य है—विशेषकर भारतीय तथा अन्य विकासशील देशों के सन्दर्भ में। मानव-श्रम का अधिक महत्व होने से तथा कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था के कारण गाँव के लोगों में शिक्षा-प्राप्ति के लिए विशेष रुचि नहीं पाई जाती। विकसित देशों के गाँवों में भी शिक्षा का प्रतिशत नगरों की तुलना में कम है, लेकिन भारत में तो लगभग 5 प्रतिशत से भी कम प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षित हैं। फलस्वरूप गाँव का जीवन अन्धविश्वासों, कुरीतियों, घिसी-पिटी और बहुत कुछ अनुपयोगी परम्पराओं से जकड़ा हुआ पाया जाता है। पुरुषों में फिर भी थोड़ी बहुत साक्षरता है, लेकिन स्त्रियों में तो उतनी भी नहीं है। जादू टोनों, झाड़-फूँक में लोगों का बड़ा विश्वास है और भाग्य-भरोसे रहने की प्रवृत्ति प्रबल है।

उपर्युक्त विशेषताओं में, समय की गति के साथ "आधुनिक परिवर्तन" आते जा रहे हैं और नगरीय जीवन की विशेषताएँ ग्रामीण समुदायों में प्रवेश कर रही हैं। फिर भी मौलिक रूप में हम किसी भी ग्रामीण समुदाय में उपर्युक्त विशेषताओं को भली प्रकार देख सकते हैं।

ग्रामीण समुदाय के विकास के कारण
(Factors in the Growth of Rural Community)

ग्रामीण समुदाय का निर्माण नहीं, विकास हुआ है। सारभूत रूप में, मनुष्य जब तक कृषि करना नहीं सीखा था तब तक उसका जीवन घुमक्कड़ था। लेकिन शनैः-शनैः खेती करना सीखने के साथ-साथ मनुष्य के व्यर्थ घूमने की आदत छूटने

लगी। जहाँ-जहाँ उपजाऊ भूमि मिली, वहीं लोग स्थायी रूप से बसने और खेती करने लगे। इस तरह कुछ परिवारों के एक भू खण्ड पर निवास करने और सुख-दुख मे एक-दूसरे का हाथ बटाने से उनमे सामुदायिक भावना का जन्म और विकास हुआ तथा ग्रामीण समुदायों की उत्पत्ति हुई। निरन्तर एक ही स्थान पर रहने से ग्रामीण समुदायो मे स्वभावत एक आर्थिक सगठन का विकास हुआ। शनै -शनै व्यवहार एव रहन-सहन के तथा सामाजिक सम्बन्धो के कुछ नियम बने जो क्रमश रीति-रिवाजों तथा परम्पराओ के रूप मे दृढ हो गए। इस तरह ग्रामीण समुदाय एकाएक आकस्मिक रूप से उत्पन्न नही हो गए वरन् उनका शनै -शनै विकास हुआ।

ग्रामबर्न के अनुसार गाँवो के विकास की प्रक्रिया के तीन प्रमुख स्तर रहे—सबसे पहला स्तर शिकार करना और भोजन एकत्र करने का स्तर था जिसमे किसी समुदाय का अस्तित्व नही था, दूसरा स्तर पशु-पालन का स्तर आया जिसमे समूहों ने एक साथ मिलकर रहना शुरू किया और पारिवारिक जीवन को स्पष्ट रूप मिलने लगा पर गाँवो की स्थापना नही हुई,एव इसके उपरान्त तीसरा स्तर कृषि-स्तर आरम्भ हुआ जिसमे लोगो ने स्थाई रूप से निवास आरम्भ किया और फलस्वरूप गाँवो की स्थापना होने लगी तथा सामुदायिक भावना तथा सामूहिक प्रयत्नों के विस्तार के साथ-साथ ग्रामीण समुदायो का विकास होता गया।

अत स्पष्ट है कि ग्रामीण समुदायों के विकास के मूल मे कोई एक नहीं प्रत्युत अनेक कारण उत्तरदायी रहे हैं जिन्हें निम्नलिखित शीर्षकों मे विभक्त किया जा सकता है—

(1) प्रादेशिक कारक (Territorial Factors)—प्रादेशिक कारको के अन्तर्गत हम भौगोलिक स्थिति,भूमि की बनावट,पानी की सुविधाओ, उपर्युक्त जलवायु और उपजाऊ मिट्टी को लेते हैं। इस प्रकार प्रादेशिक कारकों मे वे सभी अनुकूल भौगोलिक दशाएँ आ जाती हैं जिनके कारण लोगों का एक स्थान पर स्थाई रूप से बसना सम्भव हो। भौगोलिक स्थिति अनुकूल होने से किसी प्रदेश मे लोग बसना पसन्द करते हैं और सामुदायिक जीवन अस्तित्व मे आने लगता है। पर यदि भौगोलिक स्थिति प्रतिकूल हो, वर्षा न होती हो या जमीन पथरीली हो तो प्रथम तो लोग ऐसे प्रदेश मे बसना ही नहीं चाहते और दूसरे यदि बस भी जाते हैं तो ग्रामीण समुदाय में स्थायित्व नहीं आ पाता, क्योंकि लोग वहाँ से किसी अन्य उपयुक्त स्थानो मे जाने की फिराक मे लगे रहते हैं। उपजाऊ भूमि मे ग्रामीण समुदाय अधिक विकसित होते हैं क्योकि लोगों का जीवन सुगम और समृद्ध बन पाता है। पानी की सुविधा का होना सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्यों और पशुओ को पीने के लिए तथा खेती-बाडी के लिए पानी अपरिहार्य है। पर जहाँ पानी अनियन्त्रित हो वहाँ स्थाई ग्रामीण समुदायो का विकास बडा कठिन हो जाता है। जिन नदियो के किनारे मीलो तक दल दल रहता हो वहाँ भी ग्रामीण समुदायो का विकास प्राय नही हो पाता। इसी

प्रकार अनुकूल जलवायु से ग्रामीण जीवन में स्थायित्व आता है क्योंकि इसका मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों पर स्वस्थ प्रभाव पड़ता है। समशीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों के ग्रामीण समुदाय अधिक फलते-फूलते हैं जबकि विषवत् रेखा के समीपस्थ क्षेत्रों और ध्रुवीय क्षेत्रों में ग्रामीण समुदाय अत्यन्त अविकसित और जंगली दशा में पाए जाते हैं। ग्रामीण समुदायों के विकास में उपजाऊ मिट्टी का तो इतना महत्व है कि विलकॉक्स ने मानव-सभ्यता के इतिहास को "मिट्टी का इतिहास" कह दिया है। भूमि ऐसी होनी चाहिए जो उपजाऊ अधिक हो। सिन्धु, नील और दजला की घाटियाँ तथा गंगा-यमुना के मैदानों की मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ है, इसीलिए इन स्थानों पर बड़े-बड़े समृद्ध गाँवों का विकास हुआ है।

(2) आर्थिक कारक (*Economic Factors*)—ग्रामीण समुदाय के विकास में सहायक आर्थिक कारकों में खेती की दशा, आर्थिक-व्यवस्था, कुटीर-उद्योगों आदि का बड़ा महत्व है। ग्रामीण समुदाय में स्थायित्व तभी आ सकता है जब समुदाय अपनी सीमा के अन्तर्गत लोगों की प्रमुख भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के समस्त साधन रखता हो, अर्थात् वहाँ कृषि-योग्य भूमि हो, छोटे छोटे काम-धन्धे करने की अनुकूल परिस्थितियाँ हों, कृषि-उपज की समुचित खपत हो सके ऐसे क्षेत्र निकट हों और आजीविका चलाने के इसी प्रकार के दूसरे साधन सुलभ हों। यदि आर्थिक परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल होंगी कि आजीविका के अधिकांश साधन सुलभ न हो सकें तो व्यक्ति उस भू-प्रदेश में स्थाई रूप से निवास न करके अन्य उपयुक्त स्थानों की खोज करने लगेंगे। ग्रामीण समुदाय की स्थापना के बाद उसके विकास के लिए आवश्यक है कि यातायात-सुविधाओं का प्रसार हो, गाँव की उपज के विक्रय के लिए समुचित बाज़ारों की निकटता हो और अच्छे बैलों, अच्छे हलों, अच्छे बीजों, खाद आदि की सुलभता हो।

(3) सामाजिक कारक (*Social Factors*)—सामाजिक कारकों में शान्ति, सुरक्षा, सहयोग, अध्यवसाय, सद्भावना आदि अनेक बातें आ जाती हैं। ग्रामीण विकास में इन्होंने सदैव ही सक्रिय सहयोग दिया है। यदि समुदाय में रहने वालों में परस्पर ईर्ष्या, कलह और संघर्ष बना रहेगा और वे यह अनुभव करेंगे कि समुदाय के अन्तर्गत उनके हित पूर्ण रूप से असुरक्षित हैं तो समुदाय का निश्चित रूप से विघटन प्रारम्भ हो जाएगा। गाँव में छोटे-छोटे समूह ही रहते हैं और उनमें भी यदि पारस्परिक अविश्वास तथा असुरक्षा की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो एक सुरक्षित और स्थाई जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। भारतीय ग्रामीण समुदायों का पिछला इतिहास बताता है कि गाँवों में निम्न श्रेणी के लोगों में स्थायित्व नहीं आ पाता था और वे एक गाँव से दूसरे गाँव आया जाया करते थे। स्वतन्त्रता के बाद से स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, अस्पृश्यता निवारण और पंचायत की स्थापना आदि से सामाजिक भेदभाव दूर हो रहे हैं। औद्योगीकरण और नगरीकरण के वर्तमान युग में गाँवों के विकास में सामाजिक कारकों का महत्व दिन

प्रतिदिन बढता ही जा रहा है। ग्रामीण समुदाय का विकास, अन्त मे ग्रामीणो की वृद्धि और परिश्रम पर ही निर्भर है जिसके बिना वे कृषि-क्षेत्र में और जीवन में प्राकृतिक आपदाओ का सामना नही कर सकते, उत्पादन नही बढा सकते, वैज्ञानिक खोजों का लाभ नही उठा सकते और समाज कल्याण के सिद्धान्त को नही समझ सकते। आज विश्व मे जहाँ-जहाँ ग्रामीण समुदाय उन्नत अवस्था मे हैं, वहाँ इस उन्नति का श्रेय बहुत कुछ गाँव वालो के अध्यवसाय और उनकी वृद्धि को ही है। इन दोनो गुणों के पर्याप्त रूप से विकसित होने के कारण ही पश्चिमी देशो के गाँव समृद्ध और सुखी हैं जबकि इन गुणो की अनुपस्थिति या बहुत कुछ कमी के कारण भारत के गाँव इतनी पिछडी हुई दशा मे हैं।

नगरीय समुदाय अर्थ एवं परिभाषा
(Urban Community : Meaning and Definition)

नगरो मे भी हम सभी परिचित हैं, पर समाजशास्त्रीय अर्थों मे नगरीय समुदाय को हमें समझना है। सामान्य रूप से, ग्रामीण समुदाय की भाँति ही नगरीय समुदाय के अन्तर्गत भी निवासी, सामाजिक ढाँचा, व्यवसाय एव यातायात के साधन आदि आते हैं। अन्तर यही है कि इन सब का रूप अपेक्षाकृत बहुत अधिक जटिल और बडा विशाल होता है। एक नगर मे विभिन्न सम्पन्न व्यवसाय होते हैं। आबादी की दृष्टि से भी एक नगर मे अनेको अथवा सैकडो अथवा हजारो गाँवो की आबादी समा सकती है।

नगरीय समुदाय की कोई एकदम सर्वमान्य और निश्चित परिभाषा नही दी जा सकती, क्योंकि नगर और गाँव के विभाजन की कोई स्पष्ट रेखा खींचना कठिन है। विकसित देशो के गाँव जितने उन्नत हैं और जिन नगरीय विशेषताओ को ग्रहण किए हुए हैं, यदि भारत के गाँव वैसे ही हो तो हम सम्भवत उन्हे छोटे नगर कहने लगें। किंग्सले डेविस ने लिखा भी है "हमारे समाज मे गाँव अनेक नगरीय प्रभावो का विषय रहे हैं ग्रामीण तथा नगरीय भिन्नता एक समानुपातिक उतार-चढाव है जिसमे मापदण्ड का ग्रामीण छोर कभी भी पूर्णत ग्रामीण विशेषताओ से मुक्त नही होता।"[1]

विलकॉक्स (W F Willcox) के मतानुसार, "नगर का अभिप्राय उस प्रदेश से लिया जा सकता है जहाँ प्रति वर्गमील जनसख्या का घनत्व 1,000 व्यक्तियों से अधिक हो और व्यावहारिक रूप मे वहाँ कृषि न होती हो।" लेकिन किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "अधिक जनसख्या के घनत्व वाले सभी स्थान नगर हैं यह बात सच नहीं है।"[2] डेविस के अनुसार, भारत के कुछ कृषि-प्रधान गाँवों में एक कमरे मे

1. किंग्सले डेविस वही, पेज 273
2. किंग्सले डेविस : वही, पेज 273

औसतन उतने ही व्यक्ति रहते हैं जितने की बड़े-बड़े नगरों में, लेकिन हम जनसंख्या के इस घनत्व के कारण ही गांवों को नगरीय नहीं कहेंगे। डेविस की दृष्टि में "ग्रामीण और नगरीय विवेचन के बीच जनांकिकीय (Demographic) अन्तर को केवल जनसंख्या और भूमि (घनत्व) के आधार पर ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि पूर्ण जनसंख्या और कुल क्षेत्र को दृष्टि में रखना आवश्यक है। इसके अनुसार एक स्थान जिस मात्रा में नगरीय होगा, उसे इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

$$\text{नगरीयता-गुणक} \left\{ \frac{\text{जनसंख्या}}{\text{क्षेत्र}}, \text{ जनसंख्या, क्षेत्र} \right\}$$

इन तीनों में से किसको अधिक महत्त्व दिया जाय यह मनमानी बात है और विभिन्न देश विभिन्न गुणकों को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका में कुल जनसंख्या को ही अधिक महत्त्व देने की सामान्य प्रथा है, और बहुत आवश्यक होने पर ही घनत्व अथवा क्षेत्र को मान्यता दी जाती है। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका का जनगणना ब्यूरो नगरीय और ग्रामीण की विभाजन-रेखा जनसंख्या के आधार पर मानता है। यह 2,500 या इससे अधिक जनसंख्या वाले कारपोरेशन को नगर मानता है, लेकिन इससे अधिक की जनसंख्या के सभी स्थान कॉरपोरेशन नहीं हैं, अतः जनगणना विभाग उन स्थानों को भी नगर मान लेता है जो यद्यपि कॉरपोरेशन नहीं है पर जिनकी जनसंख्या अधिक है।"[1] अब यदि अर्जेण्टाइना को लें तो वहाँ 1,000 निवासियों के क्षेत्र को नगर कहा जाता है और इटली तथा स्पेन में 10,000 निवासियों के क्षेत्र को। नगर के क्षेत्रफल के बारे में भी भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, उदाहरणार्थ, हंगरी के नगरों में बहुत सा कृषि-क्षेत्र शामिल होता है तो लेटिन अमेरिका में म्यूनिसिपैलिटी को बहुधा नगर मान लिया जाता है, यद्यपि उसमें बहुत-सा ग्रामीण-क्षेत्र भी होता है।[2]

डेविस की मान्यता है कि "सामाजिक दृष्टिकोण से नगर केवल जीवन की एक विधि है।"[3] 'नगरीय' विशेषण से जीवनयापन के इस विशेष ढंग या विधि की ओर स्पष्ट संकेत होता है। यह अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं से अधिकाधिक परिचय की ओर संकेत करता है, और इस परिचय से उत्पन्न सहनशीलता तथा शिष्ट व्यवहारों की ओर भी संकेत करता है। एक ऐसे स्थान के रूप में जहाँ जनसंख्या का केन्द्रीयकरण है, नगर अनिवार्य रूप से सामाजिक संगठन की कुछ विशेषताओं को जन्म देता है और उन्हीं पर निर्भर रहता है। नगर में लोग नवागन्तुकों के भी घनिष्ट सम्पर्क में आते हैं, समाचारों और फैशन के शीघ्र प्रसार में सुविधा होती है, बड़ी मात्रा में वैयक्तीकरण मिलता है, आविष्कार होते हैं, सामाजिक गतिशीलता आती है तथा लौकिक रीतियाँ देखी जाती हैं। साथ ही नगरीय जीवन उस जटिल अर्थ-व्यवस्था पर

1 वही, पेज 274
2 वही, पेज 275.
3 वही, पेज 275

निर्भर होता है जिसमे वस्तुओं और सेवाओं का शीघ्र हस्तान्तरण, विस्तृत श्रम विभाजन, तार्किक विनियोजन आदि पाया जाता है। एक बार जब ये वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा वास्तविक नगरों का निर्माण हो जाता है तो इनका प्रभाव नगर की सीमाओं के बाहर भी होने लगता है।[1]

अध्ययन की सरलता की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नगर सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विभिन्नताओं से परिपूर्ण एक ऐसा समुदाय होता है जहाँ प्राथमिक सम्बन्ध कम किन्तु द्वैतीयक सम्बन्ध प्रधान रूप से पाए जाते हैं, जहाँ कृत्रिमता, व्यक्तिवादिता, प्रतिस्पर्द्धा और घनी जनसंख्या का अस्तित्व होता है और इनके कारण नियन्त्रण के औपचारिक साधनों द्वारा संगठन की स्थापना की जाती है।

नगरीय समुदाय की विशेषताएँ
(Characteristics of Urban Community)

नगरीय समुदाय को हम इसकी कतिपय आधारभूत विशेषताओं द्वारा अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं—

(1) जनसंख्या की अधिकता—नगरीय समुदाय की एक प्रमुख संरचनात्मक विशेषता इसमे अधिक और घनी जनसंख्या का पाया जाना है। फलस्वरूप नगर में विभिन्न घनी बस्तियों (Slums) का निर्माण हो जाता है और अनेक सामाजिक समस्याएँ पनपती रहती हैं। जनसंख्या का घनत्व कुछ नगरों के कुछ भागों में तो 25,000 व्यक्ति प्रति वर्गमील से भी अधिक पाया जाता है। यह स्थिति अस्वस्थता, स्थानाभाव, ऊँचे किरायों, अस्थाई तथा अवैयक्तिक सम्बन्धों, संक्रामक रोगों, अस्वास्थ्यकर वातावरण आदि समस्याओं को जन्म देती है।

(2) सामाजिक विजातीयता (Social Heterogeneity)—नगरों में जनसंख्या ही अधिक नहीं होती वरन् सामाजिक विजातीयता अथवा विभिन्नता भी बहुत अधिक पाई जाती है। नगरों के सामाजिक वर्ग ग्रामीण सामाजिक वर्गों की अपेक्षा अधिक जटिल और संख्या में अधिक होते हैं। नगरों में नाना प्रजातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के लोग विभिन्न स्थानों से आकर रहते हैं। इस प्रकार नगरों में जनसंख्या 'खिचड़ी' होती है जिसमे दुनिया के हर कोने का नमूना प्राय देखने को मिलता है। नगर व्यक्तिगत भिन्नताओं को सहन नहीं करता, बल्कि उन्हें उचित पुरस्कार भी देता है। विभिन्नताओं के बावजूद श्रम-विभाजन, विशेषीकरण, आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या आदि के कारण नगर-निवासियों में पारस्परिक सहयोग और सामञ्जस्य पाया जाता है। नगर वास्तव में एक ऐसा समुदाय होता है जहाँ सभी को अपनी रुचि और आवश्यकता वाले समूह मिल जाते हैं तथा व्यक्ति अपनी इच्छानुकूल किसी भी समूह का सदस्य बनने को स्वतन्त्र होता है।

1. वही, पेज 275.

(3) **विविध आर्थिक वर्ग और आर्थिक क्रियाएँ**—उपरोक्त बिन्दु से ही प्रकट है कि नगरों में विशाल जनसंख्या आर्थिक आधार पर विभिन्न आर्थिक वर्गों में विभाजित होती है और हर वर्ग अपने सदस्यों के हितों के प्रति जागरूक रहता है। सम्पूर्ण नगर आर्थिक क्रियाओं का जीता-जागता केन्द्र होता है जहाँ व्यक्ति जल्दी सुबह से देर रात तक काम-धन्धों में लगे रहते हैं। व्यापक आर्थिक विषमता पाई जाती है। सम्पन्न उच्च वर्ग और विपन्न निम्न वर्ग स्पष्ट रूप से दिखाई देता है और दोनों के मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति प्रायः बड़ी विषम होती है। यातायात, संचार, सुरक्षा, न्याय की व्यापक सुविधाएँ रहती हैं, लेकिन साथ ही नगर संघर्ष, कलह और अनैतिक घटनाओं के भी केन्द्र होते हैं।

(4) **स्थानीय पृथक्करण**—नगरों में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के फलस्वरूप प्रायः हर समूह और हर कार्य के विशेष स्थान नियत हो जाते हैं जिनके आधार पर ही समाजशास्त्र में हम 'क्षेत्रीय सम्प्रदायों' की चर्चा करते हैं। विशाल नगरों के मध्य और घने भागों में सार्वजनिक जीवन के लिए उपयोगी कार्यालयों की भरमार होती है जिनके चारों ओर प्रमुख व्यापारिक संस्थानों, होटलों, मनोरंजन-केन्द्रों का जखीरा होता है। नगर के भीतरी भागों में ही ऐसी घनी बस्तियाँ होती हैं जिनमें विशेष रूप से श्रमिक और कम आय वाले वर्ग निवास करते हैं। नगर के बाहरी और खुले क्षेत्रों में प्रायः सम्पन्न वर्ग का निवास होता है जहाँ विलासी जीवन के खुले दर्शन होते हैं।

(5) **सामाजिक गतिशीलता**—नगरों में सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility) बहुत अधिक होती है। राजनीति, धर्म, शिक्षा, व्यापारिक क्षेत्र आदि विभिन्न कारणों से सामाजिक गतिशीलता बढ़ जाती है। नगर का विस्तृत श्रम-विभाजन, इसकी प्रतियोगी प्रकृति और अवैयक्तिकता—सभी का प्रदत्त प्रस्थितियों पर नहीं वरन् अर्जित प्रस्थितियों पर बल होता है। नगरीय व्यक्ति अपने पद या अपनी प्रस्थिति (Status) को ऊँचा करने और सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और इस प्रकार सामाजिक गतिशीलता तीव्र होती है। नगरों में कार्य-क्षमता आविष्कारक बुद्धि व्यवहारकुशलता आदि को महत्त्व दिया जाता है, अतः व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही अपने पद को उच्च अथवा निम्न कर सकता है।

(6) **सामाजिक सहिष्णुता**—नगरों में विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं तथा सम्पर्कों की अवैयक्तिक प्रकृति होती है। अतः सहनशीलता का होना नगर की विशेषता है। डेविस के शब्दों में, "व्यक्ति एक दूसरे से कन्धा रगड़ कर चलते हैं तो भी सभी प्रकार की चरम सीमाओं के प्रति उदासीन रहते हैं अर्थात् मत तथा हितों की चरम सीमा के प्रति, निर्धनता और सम्पत्ति की चरम सीमा के प्रति, शिक्षा और पृष्ठभूमि की चरम सीमा के प्रति।" जब विचित्रताएँ और असंगतियाँ रोज ही हर समय दिखाई पड़ने लगती हैं तो वे विलक्षण और असंगत नहीं प्रतीत होतीं तथा लोगों में सहनशीलता के भाव विकसित हो जाते हैं। डेविस के अनुसार, "नगर सार्वजनिक

व्यवहार को नियमित करता है तथा व्यक्तिगत व्यवहार की अवहेलना करता है। नगर का नियन्त्रण अवैयक्तिक और सामान्य होता है, जबकि ग्राम का वैयक्तिक तथा विशेष।'

(7) द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता—नगरो मे द्वैतीयक सम्बन्धो की अधिकता होती है अर्थात् अपने हितो और स्वार्थों की पूर्ति के लिए औपचारिक सम्बन्ध अधिक स्थापित किए जाते हैं। विभिन्न समितियो, समूहो, सगठनो आदि की सदस्यता का आधार द्वैतीयक सम्बन्ध ही होते हैं। डेविस के अनुसार, "मित्रो और परिचित व्यक्तियो को भी नगर के लोग केवल किसी विशिष्ट प्रसग मे ही जानते हैं, उनके जीवन के कुछ अशो से ही उनका परिचय होता है।" नगरीय सम्पर्कों को खण्डिक (Segmental) कहा गया है। व्यक्तियों के विभिन्न भागो से यह सम्बन्धित है, सम्पूर्ण परिचित व्यक्तियो की किसी सम्पूर्णता से नही। नगरो मे लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध ही द्वैतीयक नही होते बल्कि नियन्त्रण के साधन भी द्वैतीयक होते हैं।

(8) सामाजिक समस्याओं के केन्द्र—जैसाकि हम सकेत दे चुके हैं, आज की अधिकाश सामाजिक समस्याएँ नगरीय ही हैं। आधुनिक विशालकाय नगर विभिन्न अपराधो, अनैतिकताओ, मानसिक व्याधियो और कलहो के केन्द्र बने हुए हैं। नगरीय पर्यावरण व्यक्तियो मे मानसिक तनाव बनाए रखता है और व्यक्तिवादिता को अत्यधिक प्रोत्साहन देता है। फलस्वरूप अपराधी व्यवहार पनपते हैं।

(9) ऐच्छिक साहचर्य—डेविस के अनुसार, नगरीय जनसख्या का बडा आकार, इसमे घनिष्ट निकटता, विभिन्नता और सरल सम्पर्क, नगर को ऐच्छिक साहचर्य (Voluntary association) के योग्य स्थान बना देते हैं। व्यक्तियो को, चाहे उनकी व्यावहारिक रुचि और उनके व्यवसाय कुछ भी हो, वे किसी भी धर्म को मानने वाले हो, समान हितो वाले व्यक्ति सदैव मिल सकते हैं। अत लगभग प्रत्येक प्रकार के समूह का एक शक्तिशाली ऐच्छिक चरित्र हो जाता है, जिसकी सदस्यता न तो भौगोलिक परिस्थिति के सयोग पर निर्भर होती है और न ही रक्त सम्बन्ध के सयोग पर। यहाँ तक कि प्राथमिक समूह भी इस प्रवृत्ति के वशीभूत हो जाते हैं, अर्थात् वे भी अधिक ऐच्छिक और अधिक विशेषीकृत बन जाते हैं।

(10) व्यक्तियन (Individuation)—नगरीय समुदाय की एक विशेषता व्यक्तियन है। नगर म अत्यधिक जनसख्या के एकत्र होने का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व का दमन करना नही होना, बल्कि इससे तो व्यक्तित्व को और बल प्राप्त होना है। नगर मे अवसरो की बहुलता होती है, सामाजिक गतिशीलता होती है और साहचर्य की द्वैतीयक तथा ऐच्छिक प्रकृति पाई जाती है। ये सभी बातें व्यक्ति को स्वय निर्णय लेने और अपने जीवन का नियोजन करने को बाध्य करती है। नगर की प्रतियोगिता प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से ऊपर तथा विरोधी बना देती है, विशेष सम्बन्ध या विशेष स्वार्थ से बँधा रहे—यह अनिवार्य नही है। नगरीय पर्यावरण मे व्यक्ति को अवसर मिलते हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को अच्छी तरह पहचाने और

उसके बारे में अधिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाए तथा उसे अपने चारों ओर की भीड़ के व्यक्तियों से पृथक् रख सके।

(11) शिक्षित एवं तर्क-प्रधान जीवन—ग्रामीण जीवन की अपेक्षा नगरीय जीवन अत्यधिक शिक्षित और तर्क-प्रधान होता है। नगर राजनीतिक जीवन के केन्द्र होते हैं अतः उनमें शिक्षा-सुविधाएँ सबसे अधिक पाई जाती हैं। नगर के लोगों में सामाजिक जागरूकता होती है अतः वे शिक्षा को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग मानते हैं। शिक्षा और तर्क की प्रधानता के कारण नगर निवासियों में अन्ध-विश्वासों तथा रूढ़ियों के प्रति आस्था बहुत कम पाई जाती है। परम्पराओं के प्रति उदासीनता और नवीनताओं तथा परिवर्तनों के प्रति प्रेम—यह नगर की एक स्थाई विशेषता है और इसीलिए नगर निरन्तर तेजी से विकासमान हैं।

नगरों के विकास के कारण
(The Origin of Cities)

नगरों के उदय के बारे में कोई भी निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं किए जा सके हैं। प्रत्येक सभ्यता के इतिहास में उसके गाँवों का ही नहीं वरन् नगरों और उपनगरों का भी इतिहास छिपा है। ब्रीरस्टीड ने लिखा है कि "सभ्यता का अर्थ नगर है और नगर का अर्थ सभ्यता, वस्तुतः मानव ने नगरों का निर्माण किया और नगरों ने बदले में उसे सभ्य बनाया।"[1] पर इतना सब कुछ होते हुए भी नगरों का जन्म किस प्रकार और क्यों हुआ—सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों ने नगरों की उत्पत्ति आज से लगभग 8000 वर्ष पूर्व मानी है तो कुछ ने खुदाइयों में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ईसा से लगभग 4-5 हजार वर्ष पूर्व से। उदय का वास्तविक समय चाहे निर्धारित न किया जा सके, पर यह निश्चित है कि नगरों का कभी एका-एक निर्माण नहीं हुआ बल्कि स्थान विशेष पर ज्यों-ज्यों विभिन्न अतिरिक्त सुविधाएँ प्राप्त होती गईं, वह स्थान शनैः शनैः—नगर का रूप लेता गया।

नगरों की उत्पत्ति और विकास में एक नहीं वरन् अनेक कारणों का सहयोग रहा जिन्हें संक्षेप में निम्नानुसार रखा जा सकता है—

(1) अतिरिक्त साधन—मैकाइवर एवं पेज के अनुसार प्रारम्भिक नगरों की उत्पत्ति और विकास में अतिरिक्त साधनों (Surplus resources) का बड़ा हाथ रहा। जहाँ कहीं व्यक्तियों या व्यक्ति समूह ने जीवन की आवश्यकताओं के बहुत अधिक साधनों पर अधिकार कर लिया, वहाँ नगरों का विकास हो गया।[2] प्रारम्भ में एक समूह से दूसरे समूह पर विजय प्राप्त करके उपहार में हथियार, स्त्रियाँ, गुलाम तथा मूल्यवान धातुएँ आदि प्राप्त करना था। बाद में इस अतिरिक्त श्रम तथा पूँजी की सहायता से किसी भी उपयुक्त स्थान को नगरों के रूप में परिवर्तित कर

1. ब्रीरस्टीड, वही, पेज 423
2. मैकाइवर तथा पेज : वही, पेज 290

दिया जाता था। भारत मे आगरा, दिल्ली, फतेहपुर सीकरी, लखनऊ आदि नगरो का विकास इन अतिरिक्त साधनो के कारण ही सम्भव हुआ था। विगत दो शताब्दियो मे ससार मे सबसे अधिक नगरो का निर्माण और विकास होने का कारण भी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के अतिरिक्त साधनो को एकत्र कर लेना ही है। अतिरिक्त साधनो का अभिप्राय खनिज पदार्थों से भी है जिनकी सहायता से नगरीय आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव होती है।

(2) **औद्योगीकरण**—मकाइवर एव पेज के अनुसार यह नगरो के उदय और विकास का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। विशेष रूप से औद्योगिक क्रान्ति के कारण बडे बडे उद्योगो की सख्या बढ गई तथा विशाल पैमाने पर उत्पादन होने लगा। उद्योग-धन्धो के पनपने के साथ नए-नए नगर बसते गए। औद्योगिक विकास ने नवीन प्रवृत्तियो को जन्म दिया और छोटी-छोटी बस्तियां विशाल नगरो मे बदलती गई। जनसख्या बढी और नगरो के विकास मे सहायता मिली। भारत मे जमशेदपुर, मोदीनगर, दुर्गापुर राउरकेला, भिलाई आदि नगरो के विकास पर औद्योगीकरण का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

(3) **व्यापारीकरण**—यह भी हजारो वर्षों पूर्व से नगरों के विकास मे महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। व्यापारीकरण द्वारा बडे-बडे उद्योग धन्धे प्रोत्साहित होते हैं जिनसे बडे बडे कारखाने खुलते हैं, उत्पादन बढता है, नाना वस्तुओ की मण्डियाँ स्थापित होती हैं, अन्य छोटे-छोटे उद्योग धन्धे भी विकसित होते हैं और इस तरह कुछ स्थान व्यापार के केन्द्र बन जाते हैं जहां बडे-बडे नगर बस जाते हैं। प्राचीन ग्रीक और रोमन साम्राज्य मे जहाँ कही भी माल का वितरण होता था, व्यापारिक क्रियाओ का विनिमय होता था और पूंजी का एकत्रीकरण था, वही बडे-बडे नगरो का विकास हुआ। इसी तरह भारत मे तक्षशिला, नालन्दा, पाटलिपुत्र, आदि नगरो का विकास प्रारम्भ मे व्यापारिक क्रियाओ के विस्तार के कारण ही हो सका। आधुनिक युग मे भी उन्ही नगरो का विकास हो पाता है जहाँ व्यापार की प्रधानता होती है।

(4) **कृषि क्रान्ति**—प्रारम्भ मे नगरो का उदय वहां हुआ जो क्षेत्र कृषि की दृष्टि से सबसे अच्छे थे। कृषि के अनुकूल स्थितियाँ नदियो की उपजाऊ घाटियो मे बहुधा पाई जाती थी। परिणाम यह हुआ जैसाकि डेविस ने लिखा है, प्रथम नगर नील, दजला, फरात तथा सिन्ध की घाटियो मे उत्पन्न हुए। नए ससार मे (अर्थात् उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका मे) पहले नगर रेगिस्तान की घाटियो मे, एण्डीज पर्वत तथा प्रशान्त महासागर के बीच मे, ग्वाटेमाला के पठार मे, तथा मेक्सिको की घाटी मे उत्पन्न हुए। आधुनिक युग मे भी कृषि-क्रान्ति नगरो के विकास मे सहायक है। कृषि के यन्त्रीकरण से बहुत थोडे से आदमी लम्बे खेतो का काम सम्भाल सकते हैं और पहले से अधिक उत्पादन कर सकते हैं। फलस्वरूप लोगो की विशाल सख्या अन्य उद्योग-धन्धो मे लग सकी है। लोग काम की तलाश मे कारखानो के पास जा पहुँचते है और इस तरह नगर बसने लगते हैं। पाश्चात्य देशो मे कृषि-क्रान्ति नगरो के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ है।

(5) नगर का प्रार्थिक आकर्षण—नगरो का आर्थिक आकर्षण जनसख्या की वृद्धि और उच्च जीवन स्तर से सम्बन्धित है। नगरो मे आजीविका प्राप्त करने के पर्याप्त साधन होते हैं, अत अन्य स्थानो के बेकार व्यक्ति तेजी से नगरो की ओर बढने लगते हैं और इस तरह नगरो का विकास होता जाता है। नगरो मे यातायात व सन्देशवाहन के उन्नत साधनो के कारण भी लोग इन्ही स्थानो पर रहना पसन्द करते हैं क्योकि इनकी सहायता से ही आर्थिक जीवन मे समुचित उन्नति की जा सकती है। मेकाइवर के शब्दो मे, "आर्थिक सुविधाओ का आकर्षण नगरो के विकास का सदैव से एक आधारभूत कारक रहा है।"

(6) राजनीतिक सुविधाएँ—राजनीतिक सुविधाओ और राजनीतिक कारणो से भी नगरो के विकास मे बडी सहायता मिलती है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ससार के सब देशो म राजधानियो का बडे नगरो के रूप मे विकास हुआ है। शासन-व्यवस्था को चलाने के लिए प्रमुख व्यक्ति प्रमुख कार्यालय अधिकारी एव प्रमुख न्यायिक सस्थाएँ नगरों मे ही स्थित होते हैं। प्रत्यक्ष नियन्त्रण के कारण सभी व्यक्तियों को वास्तविक अधिकार प्राप्त होते हैं। इनकी सहायता से नगर निवासियो का जीवन अधिक सुरक्षित और शान्तिपूर्ण बना रहता है। जीवन की ये अवस्थाएँ लोगो के लिए आपकक होती हैं अत लोग नगरो मे रह कर अपने विकास का प्रयत्न करते हैं।

(7) नागरिक सुविधाएँ और सुखोपभोग के साधन—नगरो मे स्कूलो, कॉलिजो सगीतालयो नाट्यशालाओ, औद्योगिक शिक्षणालयो चिकित्सालयो आदि की सुविधाएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त जीवन के लिए आवश्यक और भी विभिन्न सुविधाएँ नगरो मे उपलब्ध होती हैं, अत इन सुविधाओ मे आकर्षित होकर मनुष्य नगरो मे आकर रहने लगते हैं। वे नगरो को अपनी और अपने बालको की योग्यता को बढाने का उपयुक्त साधन समझते हैं। गाँवो मे पैसा होने पर भी लोगो को सुखोपभोग करने के साधन नही मिलते। नगरो मे सिनेमाघर, क्लब, होटल आदि मनोरजन के विभिन्न साधन होते हैं जहाँ जीवन का आनन्द लिया जा सकता है। मनोरजन के ये साधन सभी गाँव के लोगो को अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित करते हैं और गाँव के लोग गाँव छोड कर नगरो मे बसने लगते हैं।

(8) सैनिक शिविरो की स्थापना—बीरस्टीड आदि समाजशास्त्रियो की दृष्टि मे सैनिक कारक भी नगरो के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण रूप से उत्तरदाई रहे हैं। जिन स्थानों पर सेना के अड्डे, हथियार आदि के कारखाने होते हैं उनके पास बडे नगर बस जाते हैं। बीरस्टीड के शब्दो मे, 'प्रारम्भिक नगर सैनिको के शिविर थे, वही आगे चलकर किले बन गए और सैनिक कारको ने अपने महत्त्वपूर्ण योगदान को बनाए रखा।" बरगैल (Bergal) के अनुसार भी प्रारम्भ मे पराजित लोगों के क्षेत्रो मे स्थानीय सैनिक छावनियो के निर्माण से ही नगरो की नीव पडी।

(9) धार्मिक विश्वास—नगरो के विकास मे धार्मिक कारण भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। प्राय यह कहा जाता है कि जहाँ अलौकिक आत्माओ ने जन्म लिया हो वहाँ रहने से और वहाँ की यात्रा करने से पापो का नाश होता है। इस प्रकार की धार्मिक धारणाओ ने नगरो के विकास मे सहायता पहुँचाई है। भारत मे इसी विश्वास के स्वरूप बनारस, मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, गया, आदि बडे बडे धार्मिक नगरो का निर्माण हुआ और लाखो यात्रियो की आवश्यकताओ को पूरा करने की दृष्टि से शनैः-शनैः इन धार्मिक नगरो मे सभी प्रकार की सुविधाएँ जुटाई गई जिनसे इन नगरो का रूप इतना विस्तृत हो गया कि आज ये प्रमुख नगर गिने जाते हैं।

(10) ग्रामीण समस्याएँ—नगरो के विकास मे ग्रामीण समस्याएँ भी सहायक सिद्ध हुई हैं। प्राय खेतो के उपविभाजन और अनार्थिक जोतो के कारण गाँवो मे भूमि पर जनसख्या का भार बढ जाता है। भूमि के थोडे से हिस्सो पर खेती करने से आजीविका का निर्वाह नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त गाँवो के कुटीर उद्योग मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओ से प्रतियोगिता नहीं कर पाते। इन समाजीकरणो से गाँव के लोगों की आर्थिक स्थिति नहीं सुधर पाती और वे अपनी समस्याओ का समाधान करने के लिए नगरों की ओर चल पडते हैं। इस कारण नगरो की जनसख्या मे वृद्धि होती है।

उपर्युक्त सभी कारक नगरों के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। वास्तव मे "प्रारम्भ से लेकर अभी तक नगरो (Cities) के इतिहास का अन्वेषण (Trace) करना अनावश्यक है। निश्चित रूप से विशुद्ध सांख्यकीय प्रमाण 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से, नगरीकरण के निरन्तर विकास के विषय मे कुछ सकेत देते हैं। 1800 ई० मे ससार मे एक भी ऐसा नगर नही था जिसकी जनसख्या 10 लाख अथवा अधिक हो। पच्चीस से भी कम ऐसे नगर थे जिनमे अधिक से अधिक एक लाख निवासी थे। 1950 मे 150 वर्ष बाद 46 महानगरीय क्षेत्र थे जिनकी सख्या 10 लाख या उससे अधिक थी और 700 की एक लाख से अधिक थी। 1962 मे ससार के 112 नगरीय क्षेत्रों में दस लाख या उससे अधिक जनसख्या थी और इनमे से 31 में 20 लाख से भी अधिक थी। 1960 मे केवल टोकियो नगर की ही लगभग एक करोड जनसख्या थी जबकि लन्दन की जनसख्या न्यूयॉर्क से कुछ अधिक थी, न्यूयॉर्क की जनसख्या 80 लाख से कुछ ही कम थी। 1962 मे न्यूयॉर्क के नगरी क्षेत्र की जनसख्या एक करोड पचास लाख थी और अनुमान लगाया जाता है कि 1985 तक यह सख्या 2 करोड 20 लाख तक पहुँच जाएगी।......... एशिया और अफ्रीका मे ससार के बडे-बडे क्षेत्रो की अपेक्षा नगरीकरण बहुत कम है। नगरीकरण और औद्योगीकरण मे स्पष्टत एक सम्बन्ध है। जैसे-जैसे औद्योगीकरण का निरन्तर प्रसार होता रहता है उसी प्रकार नगरो की सख्या और आकार मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है।"[1]

1 बीरस्टीड . वही, पृष्ठ 429-30

ग्रामीण और नगरीय समुदाय की तुलना
(Comparison between Rural and Urban Communities)

हम ग्रामीण और नगरीय समुदायों के अभिप्राय और उनकी विशेषताओं तथा प्रकृति की विस्तृत विवेचना कर चुके हैं। अतः दोनों समुदायों के बीच तुलना करना अथवा इनमें भिन्नता प्रकट करना हमारे लिए अब सुगम है। अग्रिम पंक्तियों में सर्वप्रथम हम तुलना के सम्बन्ध में आने वाली कतिपय कठिनाइयों का और तत्पश्चात् दोनों में भिन्नताओं का उल्लेख करेंगे।

तुलना में कठिनाइयाँ
(Difficulties in Comparison)

ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर यद्यपि बड़ा स्पष्ट दिखाई देता है, लेकिन यथार्थ में इस सम्बन्ध में कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनका उपयुक्त समाधान अभी नहीं खोजा जा सका है। मेकाइवर तथा पेज ने इस सम्बन्ध में तीन प्रमुख कठिनाइयों का उल्लेख किया है[1]—

(1) **नगरीय तथा ग्रामीण जीवन में अन्तर केवल मात्रा का है**—शताब्दियों से मानव-बस्ती के ये दो अत्यधिक मान्य और साधारण स्वरूप रहे हैं, लेकिन हम दोनों के बीच कोई ऐसी स्पष्ट सीमा रेखा नहीं खींच सकते कि नगरीय जीवन अमुक बिन्दु पर समाप्त होता है और ग्रामीण जीवन अमुक बिन्दु पर आरम्भ होता है। बिखरे हुए किसानों के घर धीरे-धीरे अदृश्य रूप से गाँवों में और गाँव नगरों में प्रवेश कर जाते हैं। ग्रामीण और नगरीय जीवन सामुदायिक जीवन की पद्धतियों को सूचित करते हैं, वे केवल भौगोलिक स्थिति को व्यक्त नहीं करते। जनसंख्या अथवा क्षेत्रफल की कोई भी निश्चित कसौटी दोनों के बीच नहीं है, जैसाकि हम नगर की परिभाषा के सन्दर्भ में डेविस द्वारा दिए गए उदाहरणों में देख चुके हैं।

(2) **नगर के भीतर नाना प्रकार के पर्यावरण**—नगर और ग्राम की तुलना करने में दूसरी कठिनाई यह है कि सभी नगरों का पर्यावरण एक जैसा नहीं होता। फिर एक नगर के भीतर रहने वाले विभिन्न समूहों के लिए भी अत्यन्त विभिन्न सामाजिक पर्यावरणों की शृंखला होती है। नगर में बहुत कम सामान्य कार्य या सामान्य घटनाएँ होती हैं जिनमें कि सभी लोग भाग लें। नगर जीवन में अपार विषमता है। एक दूसरे के मकानों या मकानों की मंजिलों के भीतर रहने वाले निवासी ही एक दूसरे से अपरिचित और पूर्णतः भिन्न जीवन बिताते हैं। नगर में ही कहीं श्रमिक वर्ग होता है जो अपनी विशेषताओं से बिलकुल ग्रामीण होता है तो कहीं सम्पन्न बस्तियाँ होती हैं जिनकी सम्पूर्ण विशेषताएँ नगरीय होती हैं। नगर में ही कहीं गाँवों की कच्ची झोंपड़ियाँ दिखाई देती हैं तो दूसरी ओर भव्य अट्टालिकाएँ

1. मेकाइवर तथा पेज : वही, पेज 286—88

खड़ी होती हैं। फिर, निर्धन लोगों और मध्यम वर्ग के लोगों के रहन-सहन में, उनकी मनोवृत्तियों में भारी अन्तर पाया जाता है। तब हमारे सामने कठिनाई उपस्थित होती है कि हम इनमें से किस समूह को ग्रामीण मानें और किसे नगरीय ?

(3) **नगर और ग्राम का परिवर्तनशील स्वभाव**—नगर और ग्राम की तुलना करने में तीसरी मुख्य कठिनाई यह है कि नगर और ग्राम दोनों ही स्थिर नहीं रहते। एक ओर तो औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगर की सीमाओं से लगे ग्राम नगरीय क्षेत्रों में मिलते जा रहे हैं और दूसरी ओर उन लोगों के फलस्वरूप ग्रामीण समुदाय में भी नगरीय विशेषताओं का प्रसार हो रहा है जो गाँवों से नगर में काम करने जाते हैं और लौट कर अपने साथ नगर की विशेषताओं को गाँव में ले आते हैं। इतना ही नहीं, दोनों समुदायों की विशेषता में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा एवं सामाजिक जागरूकता बढ़ने के साथ-साथ ग्रामीण समुदाय में आधुनिकता फैल रही है और अन्धविश्वासों, रूढ़िगत अस्वस्थ परम्पराओं तथा कुरीतियों में कमी आ रही है। दूसरी ओर नगरों में श्रमिक-बस्तियाँ बढ़ रही हैं तथा औसत परिवारों का जीवन-स्तर गिर रहा है। इस प्रकार नगरीय समुदायों में ग्रामीण विशेषताओं का बढ़ता हुआ प्रभाव दिखाई देता है। ये स्थितियाँ ऐसी हैं कि हम सुनिश्चित रूप से नगर और ग्राम की तुलना करने में कठिनाई अनुभव करते हैं।

मेकाइवर एवं पेज ने स्वीकार किया है कि इस क्षेत्र में बढ़ते हुए अनुसंधान आदि के कारण ग्राम और नगर की तुलना सम्बन्धी कठिनाइयों का समाधान करना सम्भव है। हम कुछ स्पष्ट आधारों को लेकर ग्रामीण और नगरीय समुदाय की तुलना कर सकते हैं।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में तुलना
(Comparison between Rural and Urban Communities)

(1) **सामाजिक स्तरीकरण सम्बन्धी अन्तर**—ग्रामीण और नगरीय समुदाय में सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) सम्बन्धी भिन्नता पाई जाती है। दोनों में जाति और वर्ग के सिद्धान्त अधिकांशतः भिन्न हैं। गाँवों में नगरों की अपेक्षा सामाजिक वर्गों की संख्या कम होती है और जातियाँ भी इनी-गिनी हैं। फिर नगरों के पारस्परिक वर्गों में जितनी दूरी है, उतनी गाँवों के वर्गों में नहीं है। यद्यपि गाँवों में जाति बन्धन बड़े कठोर हैं, लेकिन ग्रामवासियों में ऊँच-नीच की भावनाएँ उतनी नहीं पाई जाती जितनी कि शहरों में हैं। गाँवों में कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था होती है और अधिकांश लोग लगभग समान आर्थिक स्थिति के पाए जाते हैं, अतः व्यावहारिक रूप में कोई विशेष सामाजिक स्तरीकरण नहीं पाया जाता (भारतीय गाँवों के संदर्भ में जाति-व्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण को छोड़कर)। दूसरी ओर नगरों में लखपति, करोड़पति और उच्च अधिकारी अपने से निम्न वर्ग के लोगों से बहुत कम सम्पर्क बनाते हैं। यह अवश्य है कि नगरों में जाति-पाँति के बन्धन

गाँव के समान कठोर नहीं होते अत एक जाति के लोगो को दूसरी जाति के लोगों से सम्पर्क करने म सरलता होती है।

(2) सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी अन्तर—गाँवो मे सामाजिक गतिशीलता शहरो की तुलना मे बहुत कम होती है। इसका मुख्य कारण गाँवो मे व्यवसायो और आर्थिक क्रियाओ का कम होना है। ग्रामीण अपने व्यवसायो मे शीघ्रता से परिवर्तन भी नहीं करते। उनके घर भी स्थाई और निजी होते हैं जिन्हे व सरलतापूर्वक नहीं बदलते। दूसरी ओर नगरो मे व्यवसायो की भारी भिन्नता पाई जाती है। नगर आर्थिक क्रियाओ के केन्द्र हैं जहाँ व्यक्ति अपने पुश्तैनी पेशो से चिपके नहीं रहते बल्कि सुविधानुसार अपने व्यवसाय बदल लेते हैं। सैकडो-हजारो व्यवसायो मे से किसी भी व्यवसाय को चुनने की जो स्वतन्त्रता और सुविधा नगरीय व्यक्ति को होती है, उसकी ग्रामीण व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त रुचियो तथा मनोवृत्तियों मे शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते रहने से भी नगरीय लोगो की सामाजिक स्थिति मे परिवर्तन आता रहता है जबकि ग्रामीण जीवन मे एक स्थिरता सी पाई जाती है।

(3) सामाजिक सम्बन्धो के क्षेत्र सबधी अन्तर—गाँवो मे सामाजिक सबधो का क्षेत्र सीमित होता है जबकि नगरो मे एक ही व्यक्ति विभिन्न पृष्ठभूमि के हजारो लोगो से सम्पर्क स्थापित करता है जिससे न केवल सम्बन्धो का क्षेत्र बहुत व्यापक बनता है बल्कि सम्बन्धो मे विविधता भी आ जाती है। ग्रामीण समुदाय मे सामाजिक सम्बन्ध स्थाई और प्राथमिक होते है जबकि नगरो मे द्वैतीयक सम्बन्धों की संख्या अधिक होती है। बीरस्टीड के शब्दो मे एक नगर निवासी के सम्बन्ध दूसरे के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध न होकर स्थितिगत सम्बन्ध ही होते हैं। वह एक ही दिन मे सैकडो लोगो के साथ अन्त क्रिया कर सकता है उनमे से कुछ को जानता है और कुछ को नही जानता। वह उनके साथ उनकी और अपनी प्रस्थिति के साथ जुडे हुए प्रतिमानो के आधार पर अन्त क्रिया करता है। साराश म गाँवो मे प्राथमिक सम्बन्धो प्राथमिक समूहो की प्रधानता होती है जबकि नगरो मे द्वैतीयक सम्बन्धो, द्वैतीयक समूहो और प्रस्थितिगत सम्बन्धो की।

(4) सामाजिक सगठन सम्बन्धी अन्तर—ग्रामीण और नगरीय समुदायो मे सामाजिक सगठन सम्बन्धी भिन्नता भी बहुत अधिक है। बीरस्टीड के अनुसार, गाँवो मे नगर की अपेक्षा सामूहिक जीवन म बहुत कम सगठनात्मक स्थिरताएँ पाई जाती है। एक किसान के लिए सगठित और असगठित समूह एक ही जैसे हैं, क्योकि वह दोनो ही समूहो के सदस्यो को जानता है। नगरो म सामाजिक सगठन जटिल होता है जबकि गाँवो मे अनौपचारिक और सरल। पुनश्च ग्रामीण समाज के सगठन मे सयुक्त परिवार प्रणाली (भारत के सदर्भ मे) मुख्य आधारशिला है जबकि नगरो म मूल परिवार ही अधिक सख्या मे मिलते हैं और जो सयुक्त परिवार हैं वे भी तेजी से विघटित हो रहे हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ग्रामीण जीवन की तुलना मे

नागरिक जीवन का अन्य देशो की सस्कृतियो से समन्वय होता रहता है, अत व्यक्तिवादी भावना का नगरों मे अधिक प्रसार होता है। वैवाहिक क्षेत्र मे भी ग्राम्य और नागरिक समाज मे अन्तर पाया जाता है। भारत के नगरो मे, पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से, प्रेम और रोमान्स-विवाह के आधार बनते जा रहे हैं, जबकि ग्रामीण समाज अभी इससे मुक्त-सा है। ग्रामीण क्षेत्रो मे सस्थाएँ और समितियाँ अधिकाँशत जातीय आधार पर है जबकि नगरो मे आवश्यकता ही समितियो और सस्थाओ के जन्म को प्रोत्साहित करती हैं।

(5) सामुदायिक भावना सम्बन्धी अन्तर—गाँव का आकार छोटा होता है और वहा प्राथमिक सम्बन्धो की प्रमुखता होती है। दूसरी ओर नगरो का आकार बहुत बडा होता है जहाँ द्वैतीयक सम्बन्धो की प्रधानता होती है। अत गाँवो मे जहाँ सामुदायिक भावना बहुत अधिक पाई जाती है वहाँ नगरो मे इसका अभाव होता है। नगरो मे एक ही स्थान पर विभिन्न जातियो और धर्मों के लोग, शिक्षित और अशिक्षित, धनी और निर्धन सभी प्रकार के व्यक्ति पाए जा सकते हैं। इस प्रकार की सामाजिक विभिन्नताओ के बीच सामुदायिक भावना अथवा "हम की भावना" (We feeling) का विकास नही हो पाता। यह स्थिति तो गाँव मे ही देखने को मिलती है।

(6) मानसिक शान्ति की दृष्टि से अन्तर—रॉबर्ट बीरस्टीड ने लिखा है कि बहुत से लोगो के मतानुसार नगर की गति तीव्र है जहाँ मानसिक शान्ति नहीं मिल पाती। मानसिक शान्ति तो गाँव मे ही मिल सकती है। नगर मे अशान्ति, मानसिक रोग, शारीरिक रोग आदि दिखाई देते हैं जिनसे छुटकारा पाने के लिए मनुष्य प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार की सारी कठिनाई ग्रामीण जीवन मे नही दिखाई देती। बीरस्टीड का कहना है कि "फिर भी नगर मे कुछ ऐसे कवि हैं जो इस बात का उत्तर देते है कि नगरो मे भी मौन के क्षेत्र (Areas of Silence) और शान्ति के घटे (Hours of Peace) कहाँ पर और कब होते है।"

(7) सामाजिक नियत्रण सम्बन्धी अन्तर—ग्रामीण और नगरीय समुदाय मे सामाजिक नियत्रण भी गहरा विभेद प्रस्तुत करते है। नगरो मे इसका स्वरूप द्वैतीयक और औपचारिक होता है जबकि गावो मे यह प्राथमिक और अनौपचारिक होता है। ग्रामीण समुदाय मे किसी वृद्ध या सम्मानित व्यक्ति की आज्ञा या पचायत के फैसले का महत्त्व अत्यधिक नियत्रणकारी प्रभाव रखता है जबकि नगरीय समुदाय मे ऐसे निर्णयो का महत्त्व नगण्य है। नगरो मे पारिवारिक नियम तक व्यक्ति के आचरण को नियत्रित नहीं कर पाते। गाँवो मे नैतिकता को महत्त्व दिया जाता है और यह सामाजिक नियत्रण का एक प्रमुख साधन है। लोग धर्म, प्रथाओ, परम्पराओ और लोकाचारो की अवहेलना प्राय नहीं करते। दूसरी ओर नगरो में नैतिकता कोरे दिखावे की होती है, अन्यथा व्यावहारिक जीवन मे उसे नियत्रणकारी साधन के रूप मे मान्यता बहुत कम मिल पाती है। नगरीय औपचारिक जीवन को

नियन्त्रित करने के लिए पुलिस, गुप्तचर विभाग, कानून, न्यायालय, आदि नियन्त्रण के द्वैतीयक साधनों का विशेष महत्त्व होता है।

(8) विशेषीकरण और स्थानीयकरण—ग्रामीण जीवन में किसी भी क्षेत्र में विशेषीकरण नहीं पाया जाता। वहाँ प्राय सम्पूर्ण क्रियाएँ एक ही प्रधान कार्य कृषि से सम्बन्धित होती हैं। यह एकरूपता नगरों में दिखाई नहीं देती। विभिन्नता ही वहाँ विशेषीकरण को उत्पन्न करती है। बीरस्टीड के अनुसार, प्रथम तो नगरों में विशेषीकरण की प्रवृत्ति का अस्तित्व है, अत. विभिन्न नगर विभिन्न कार्यों और क्रियाओं पर विशेष बल देते हैं (विशेषकर पाश्चात्य देशों के सदर्भ में) एवं द्वितीय, नगर में कुछ क्षेत्र विशेषीकरण-क्षेत्र बन जाते हैं और फलस्वरूप ऐसे स्थानों पर कुछ निश्चित समूह और क्रियाएँ भी स्थानीय विशेषता रखती हैं। ग्रामीण समुदायों में ऐसी बात देखने को नहीं मिलती। ग्रामीण कार्य सरल होते हैं जिन्हें करने के लिए किसी विशेष ज्ञान की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। ग्रामीण जीवन को हम 'सामान्य जीवन' (Common Life) कह सकते हैं। नगरों में जो निवासीय (Residential) स्थानीयकरण होता है, वह गाँवों में नहीं पाया जाता। नगरों में स्थानीयकरण कई भागों में बट जाता है—विशेषकर प्रजातीय समूह, राष्ट्रीयता और सामाजिक वर्ग में। ऐसा कोई विभाजन गाँवों में नहीं होता।

(9) आर्थिक आधारों पर अन्तर—ग्रामीण और नगरीय समुदायों में आर्थिक आधार पर भारी अन्तर पाया जाता है। जहाँ गाँवों में कृषि और कुटीर उद्योग-धन्धों की ही प्रधानता होती है और आर्थिक क्रियाएँ बहुत कम होती हैं वहाँ नगरों में सैकड़ों-हजारों व्यवसाय होते हैं तथा असख्य आर्थिक क्रियाएँ नगरों के जीवन को अनवरत रूप से चलने वाली मशीन की तरह बनाए रखती हैं। जहाँ गाँवों में व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा नहीं पाई जाती वहाँ नगरीय जीवन में हर कदम पर व्यावसायिक प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है। जहाँ ग्रामीण जीवन-स्तर सादा और सरल होता है तथा आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं वहाँ नगरीय जीवन अधिकांशतः दिखावटी और तड़क-भड़क का होता है तथा लोगों की आवश्यकताएँ भी बहुत अधिक होती हैं। गाँवों में आर्थिक साधन बहुत सीमित होते हैं अत आर्थिक विषमता भी बहुत कम पाई जाती है। दूसरी ओर नगरों में आर्थिक साधन प्रचुर सख्या में होते हैं जिनका लाभ उठाने के लिए घोर प्रतिस्पर्द्धा होती है और फलस्वरूप भारी आर्थिक विषमताएँ दिखाई देती हैं। इन्हीं कारणों से जहाँ ग्रामीण जीवन में वर्ग-सघर्ष जैसी समस्या नहीं पाई जाती वहाँ नगर वर्ग सघर्षों के केन्द्र बन गए हैं। गाँवों में मानवता का जो मूल्य है वह नगरों में नहीं पाया जाता। नगरीय जीवन आर्थिक जीवन है और आर्थिक जीवन की सफलता ही सबसे बड़ी सफलता है। ग्रामीण जीवन इतना अर्थ-प्रधान नहीं है। औद्योगीकरण का जो महान स्वरूप नगरों में दिखाई देता है उससे ग्रामीण जीवन अछूता है।

(10) सांस्कृतिक आधार पर अन्तर—सांस्कृतिक विशेषताओं की दृष्टि से

ग्रामीण और नगरीय जीवन मे विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। वास्तव मे सांस्कृतिक विशेषताएँ ही वे कड़ियाँ हैं जो गाँव और नगरो को एक दूसरे से मिलाती हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योकि गाँव ही तो विकसित होकर आखिर नगर बने हैं। प्रतीत की महान सस्कृतियाँ ग्रामीण जीवन मे ही फलीफूली थीं और तब उनका प्रवेश नगरों में हुआ। पर फिर भी दोनों समुदायो मे सांस्कृतिक भेद हैं अवश्य। जहाँ ग्रामीण सस्कृति मे स्थिरता और मौलिकता आज भी विशेष तत्व हैं वहाँ नगरो मे ऐसा नहीं है। नगरीय सस्कृति ग्रामीण सस्कृति का ही परिवर्तित रूप है और विदेशी सम्पर्क का उस पर निरन्तर व्यापक प्रभाव पड़ता रहता है। फलस्वरूप नगरीय सस्कृति मे 'अपनापन' अस्पष्ट हो गया है, अपनपन और विदेशीपन दोनो के तत्त्व घुल मिल से गए हैं। गाँवो मे सस्कृति का जो मौलिक स्वरूप दिखाई देता है वह नगरो मे नहीं, क्योंकि नगर तेजी से आधुनिकीकरण कर चुके हैं और करते जा रहे हैं। ग्रामीण सस्कृति मे प्राचीनता से अब भी पूरा लगाव है जबकि नगरो मे नवीनता के प्रति आकर्षण। नवीनता और आधुनिकीकरण के चक्कर ने नगरीय लोगो के आचरणों, पोशाकों, व्यवहारों–सभी मे ग्रामीण जीवन से भिन्न भारी अन्तर ला दिया है।

(11) स्त्री-पुरुषो के बीच सम्बन्ध विषयक अन्तर—ग्रामीण जीवन की तुलना मे नगरीय जीवन मे स्त्री-पुरुषो के बीच के सम्बन्धों पर औद्योगीकरण, व्यापारीकरण, विशेषीकरण, राजनीतिक चेतना, शैक्षणिक जागरूकता आदि का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। नगरो में स्त्रियो को उपलब्ध होने वाले अवसर निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं जबकि गाँवो में स्त्रियो के लिए अवसरो के द्वार अब भी बन्द से हैं। इसके अतिरिक्त शहरी जनसख्या मे अविवाहित स्त्रियों और पुरुषो का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। नगरीय जीवन से स्त्रियो का व्यक्तीकरण (Individualization) हुआ है और उसके फलस्वरूप स्त्रियो तथा पुरुषो के बीच सम्बन्धों मे अधिक स्वतन्त्र पारस्परिकता आई है। अब स्त्रियाँ पुरुषो के साथ रमणियो के नाते नही बल्कि व्यक्तियो के नाते व्यवहार करती हैं।[1] गाँवो मे स्त्री-पुरुषो के बीच सम्बन्धों की स्थिति आज भी बहुत कुछ वही परम्परागत है।

ग्रामीण और नगरीय जीवन मे जो महत्वपूर्ण भिन्नतायें दिखाई देती हैं उनका हमने उल्लेख किया है। बीरस्टीड ने अपना निष्कर्ष देते हुए लिखा है कि "यद्यपि दोनो के मध्य कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती फिर भी सम्पूर्ण इतिहास मे दो विभिन्न सस्कृतियो के वर्णन हैं, जिसके अनुसार सदैव से ही इनके अपने-अपने विचार, अपने-अपने प्रतिमान और अपने अपने साधन (Materials) होते हैं। यद्यपि सचार और यातायात के साधनो मे होने वाले विशाल परिवर्तनो ने इन दोनों के बीच असमानताओ को बहुत कम कर दिया है। यह भी सम्भव है कि नगरीकरण के साथ ही साथ इन अन्तरो के महत्त्व भी कम होते चले जाएँगे, परन्तु

1. मेकाइवर तथा पेज वही, पेज 299

मुख्य भेद बने रहेगे जिनमे एक ग्रामीण समुदाय और दूसरा नगरीय समुदाय रहेगा। इस सदर्भ मे हमे गाव और शहर को भौगोलिक आधार पर दो विभिन्न स्थानो के रूप मे लेकर नही अपितु सामाजिक आधार पर अर्थात् समूहो के दो विभिन्न प्रकार और जीवन की दो विभिन्न रीतियो (Modes) के आधार पर समझना चाहिए।"[1]

ग्रामीण और नगरीय समुदाय का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Rural and Urban Communities)

ग्रामीण और नगरीय समुदाय भिन्नताओ के बावजूद एक दूसरे के पूरक हैं और विभिन्न दृष्टियो से समाजशास्त्रीय महत्त्व का विषय है। समाजशास्त्र जिस मानव-समाज का अध्ययन करता है वह सम्पूर्ण समाज यदि दो प्रमुख समुदायो मे विभाजित किया जाए तो एक का नाम "गाँव" और दूसरे का "नगर" होगा। इन दोनो समुदायो मे सभी प्रकार के प्राथमिक और द्वैतीयक सम्बन्धो का समावेश है जो कि समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु हैं।

ग्रामीण समुदाय का महत्त्व

यदि हम ग्रामीण समुदाय को लें तो महत्त्व की दृष्टि से इसे हम लगभग सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधि मान सकते हैं, क्योकि विश्व के अधिकतर देशो मे जनसख्या का एक बडा भाग गाँवो मे ही निवास करता है। इस प्रकार गाँवो का जीवन-स्तर वास्तव मे देश के जीवन स्तर का दर्पण है और गाँवो की प्रगति सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रगति है। हमारे देश मे ही लगभग 80 प्रतिशत से भी अधिक जनसख्या गाँवो मे निवास करती है और यदि गाँव पिछडे हुए और विपन्न हैं तो भारत भी पिछडा हुआ और विपन्न है।

ग्रामीण समुदाय देश के आर्थिक जीवन का आधार है। गाँव कच्चे माल के उत्पादक हैं जिसके अभाव मे देश की—नगरो की आर्थिक सरचना ही टूट जाएगी। विशालकाय नगरो का अस्तित्व ग्रामीण समुदायो द्वारा उत्पादित कच्चे माल और श्रम पर जितना निर्भर है, उतना अन्य किसी बात पर नही।

ग्रामीण जीवन सामाजिक सगठन का प्रतीक है, प्राथमिक सम्बन्धो के मूल्यो का सस्थापक है। प्राथमिक सम्बन्धो मे कितना बल है, इसका सही आभास हमे ग्रामीण जीवन देता है। व्यक्तिवादिता और सामाजिक कलहो से उत्पन्न अशान्ति गाँवो मे प्राय देखने को नही मिलती। मानसिक शान्ति जितनी गाँवो मे मिलती है, उतनी द्वैतीयक सम्बन्धो से परिपूर्ण नगरो मे नही। देश की जनसख्या का तीन-चौथाई से भी अधिक भाग गाँवो मे आबाद है, अत हम ग्रामीण सगठन को ही समाज सगठन की सज्ञा दे सकते हैं। यदि हमारे गाँवों में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं तो सम्पूर्ण समाज का विघटन कोई टाल नही सकता।

1. बीरस्टीड वही, पेज 440

ग्रामीण समुदाय किसी भी देश की अपनी मौलिक संस्कृति के वाहक हैं। अतीत से संजोए गए सांस्कृतिक मूल्यों के दर्शन किसी भी समाज के ग्रामीण जीवन में ही स्पष्ट रूप से होते हैं। ग्रामीण समुदायों में परम्पराओं, प्रथाओं, लोकाचारों आदि के माध्यम से मौलिक सांस्कृतिक विशेषताएँ विशुद्ध रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं। गांवों से ही संस्कृति का प्रसार नगरों में हुआ है, पर जहाँ नगर मौलिक सांस्कृतिक विशेषताओं की उपेक्षा कर देता है और विदेशी संस्कृतियों को ही प्राथमिकता देने लगता है वहाँ ग्रामीण समाज अपनी ही संस्कृति को प्राथमिकता देता है अर्थात् अपने 'बीज' की रक्षा करता है। जब हम कहते हैं कि भारत गांवों में बसता है तो इसका गूढ़ अर्थ यही है कि यदि भारत की महान् संस्कृति के दर्शन करने हैं तो जाओ और गांवों को पढ़ो।

ग्रामीण समुदाय प्राचीनता का प्रेमी होता है और नित नए परिवर्तनों के प्रति उदासीन रहता है। अतः ग्रामीण समाज में इस बात की आशंका नहीं रहती कि यदि परिवर्तनों से अनुकूलन न किया जा सका तो समाज विघटन की दिशा में अग्रसर होगा। विश्व का लगभग प्रत्येक समाज अनावश्यक परिवर्तनों से बचने की चेष्टा करता है, अपनी परम्परागतता को बनाए रखना चाहता है और उन बातों को नहीं खोना चाहता है जो उसकी 'अपनी' हैं। ग्रामीण समाज इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। गांव 'जो कुछ पुराना है वह सोना है' की कहावत में विश्वास करता है और यथाशक्ति नवीन परिवर्तनों के प्रति उदासीन रहते हुए सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में स्थायित्वकारी शक्तियों को प्रोत्साहन देता है।

किसी भी समाज की विभिन्न आवश्यकताओं और उपलब्ध साधनों के बीच सन्तुलन बनाए रखने की दृष्टि से भी ग्रामीण समुदायों का विशेष महत्त्व है। जनसंख्या और उसकी आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि होती जाती है तथा उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधनों को भी बढ़ाया जाता है, लेकिन यदि आवश्यकताएँ अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी हो जायें और साधन उपलब्ध न हों या बहुत कम हों तो इसका अनिवार्य परिणाम समाज का विघटन होगा। ग्रामीण जीवन अपने त्याग और अपने श्रम द्वारा आवश्यकताओं और साधनों के बीच सन्तुलन का आधार बनता है। गांव के लोग परिश्रम करते हैं, उत्पादन करते हैं, लेकिन तुलनात्मक रूप से उपभोग बहुत कम करते हैं। इस प्रकार नगरीय जनसंख्या की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में गांव सहयोगी बनते हैं। यदि गांव भी नगरों की भांति ही उपभोग पर उतर आएँ तो नगरीय जीवन और भी कितना कष्टकर हो जाएगा इसकी सरलता से कल्पना की जा सकती है।

नगरीय समुदाय का महत्त्व

नगरीय समुदाय गांवों के उत्पादन को खपाता है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था के पहिए को गतिमान रखता है। गांवों में जो उत्पादन होता है यदि वह नगरों में न खपे तो ग्रामीणों में उत्पादन के प्रति निरुत्साह फैल जाएगा, जब उत्पादन बहुत

कम होगा या कच्चे माल की उपलब्धि नहीं होगी तो वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था ही ढह जाएगी। गांव कच्चा माल उत्पादित करते हैं और नगर उसे खपाता है और इस प्रकार आधुनिक अर्थव्यवस्था गतिमान है।

नगरीय समुदाय में नवीनता की जोखिम उठाकर समाज को समृद्ध बनाने की चाह होती है। नगरीय समुदाय बदलती हुई परिस्थितियों से अनुकूलन करना सिखाता है। नगरीय जीवन सहिष्णुता के भाव विकसित करता है और यह शिक्षा देता है कि दूसरी संस्कृतियों के जो गुण हों उनसे प्रेरणा ली जाय, अच्छी बातों को अपनाया जाए तथा 'कूप मण्डूकता' की स्थिति से बाहर निकला जाय। नगरीय समुदाय शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र होते हैं। विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं, विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क आदि के फलस्वरूप नगरीय जीवन का बौद्धिक स्तर निरन्तर ऊँचा उठता रहता है। यदि गांव संस्कृति के वाहक और पोषक हैं तो नगर संस्कृति के प्रसारक हैं। वे न केवल विदेशी संस्कृतियों के गुणों को अपनी संस्कृति में आत्मसात् करते हैं बल्कि अपनी संस्कृति के अच्छे तत्वों से दूसरी संस्कृतियों को प्रभावित भी करते हैं। नगर 'ले-दे' भावना के प्रतीक हैं।

बीरस्टीड ने लिखा है कि "प्रत्येक सभ्यता के इतिहास में केवल उसके गांवों का ही नहीं बल्कि उसके नगरों और उपनगरों का भी इतिहास सम्मिलित है। सभ्यता का अर्थ नगर है और नगर का अर्थ सभ्यता। वस्तुतः मानव ने नगरों का निर्माण किया और नगरों ने बदले में उसे सभ्य बनाया। विश्व में नगरों के उत्थान के साथ जब मानव नगर-राज्य का एक सदस्य बना तभी वह नागरिक कहलाया। इसमें सन्देह नहीं कि नगर सभ्यता के केन्द्र रहे हैं और हैं।

नगरीय समुदाय व्यक्तित्व के विकास के स्रोत हैं, क्योंकि यहां वे सभी सुविधाएँ मिलती हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक हैं। सामाजिक सीख, शिक्षा, समुचित पर्यावरण सांस्कृतिक नियम आदि सभी तत्व नगरों में विकसित अवस्था में पाए जाते हैं जिनसे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इनसे अनुकूलन करके व्यक्ति सफलता की सीढ़ियां चढ़ते हैं और जो अनुकूलन नहीं कर पाते वे जीवन में असफल रहते हैं। इस प्रकार नगरीय समुदाय ऐसा वातावरण प्रदान करते हैं जिसमें व्यक्ति महान् से महान् भी बन सकता है और निम्न से निम्न स्थिति में भी पहुँच सकता है।

नगर आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र हैं जहाँ रोजगार और अवसरों की प्रचुरता पाई जाती है। गांवों की बढ़ती हुई जनसंख्या को रोजगार देने में नगरों का प्रमुख स्थान है। नगर आर्थिक उत्पादन के आधार हैं। गांव आर्थिक क्रियाओं के मौलिक केन्द्र हैं तो नगर उन मौलिक केन्द्रों को बनाए रखने या जीवित रखने वाली शक्तिशाली मशीन हैं। नगरों में ही नए-नए आविष्कार होते हैं। नगर ही आन्तरिक और विदेशी व्यापार के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं। नगरों के औद्योगिक संस्थान विपुल मात्रा में निर्मित वस्तुओं का

उत्पादन करते हैं जिससे सम्पूर्ण समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। नगरों के उत्पादन द्वारा ही ग्रामीण जीवन आधुनिक उन्नत स्तर तक पहुँच सका है।

नगरीय समुदाय राजनीतिक जीवन के केन्द्र हैं। समाज के विकास में जिन स्वस्थ बौद्धिक नीतियों, प्रशासन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों आदि का भारी महत्त्व है, उनकी विद्यमानता नगरों में ही केन्द्रित है। नगरीय पर्यावरण लोगों को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक बनाता है। नगर मनोरंजन और स्वास्थ्य-सुविधाओं के भी केन्द्र हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य विज्ञान के विकास में नगरों का अभूतपूर्व योगदान है। नगर शान्ति और सुरक्षा की शक्तियों का विकास करते हैं, क्योंकि वे प्रशासनिक सुविधाओं के केन्द्र हैं। नगर व्यक्तियों को अपनी सुरक्षा की बहुत कम चिन्ता करते हुए जीवन के अन्य क्षेत्रों में आगे बढ़ने और कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। समाजशास्त्र में हम जिन द्वैतीयक समूहों और द्वैतीयक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं, नगर उनके साकार रूप हैं।

अन्त में, किसी भी समाज की वास्तविक सुख-समृद्धि ग्रामीण और नगरीय दोनों ही समुदायों के सन्तुलित विकास पर निर्भर है, क्योंकि जीवन के हर क्षेत्र में दोनों समुदाय एक दूसरे के पूरक हैं। गाँव नगरों को और नगर गाँवों को जीवन प्रदान करते हैं।



भीड़ तथा जनता

समाज में स्थायी और संगठित समूह भी होते हैं और अस्थायी तथा असंगठित समूह भी। असंगठित समूहों के अनेक भेद होते हैं, तथापि इन्हें दो सामान्य श्रेणियों में रखा जा सकता है—भीड़ और जनता, जो एक दूसरे से पूर्णत विपरीत ध्रुवों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[1] प्रस्तुत अध्याय में हम भीड़ और जनता का अध्ययन क्रमश निम्नलिखित रूपरेखा के अनुसार करेंगे—

1 भीड़ अर्थ एव परिभाषा
2 भीड़ की विशेषताएँ अथवा उसके लक्षण
3 भीड़ के प्रकार
4 क्रियाशील भीड़ की मानसिक विशेषताएं
5 भीड़ व्यवहार की व्याख्याएँ
6 जनता अर्थ एव परिभाषा
7 जनता की प्रमुख विशेषताएँ
8 जनमत का प्रभाव
9. आधुनिक समाज में जनता का बढ़ता हुआ महत्त्व
10 भीड़ और जनता में अन्तर

भीड़ : अर्थ एवं परिभाषा
(Crowd Meaning and Definition)

साधारण बोल-चाल के शब्दों में हम किसी स्थान पर एकत्रित होने वाले लोगों के जमघट को भीड़ कह देते हैं, लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टि से भीड़ का आशय उन ऐसे जन समूह से है जो अचानक ही उत्पन्न होता है और भावात्मक तथा असंगठित होता है। पर इसके सदस्यों में भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध अवश्य रहता है।

1 किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 301.

सामान्य मूल्यों द्वारा अपने को एक समझता है और जिसके सदस्य समान संवेगों को अभिव्यक्त करते हैं।"

इन विभिन्न परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि भीड लोगों का ऐसा प्रत्यक्ष और अस्थायी समूह होता है जिसका निर्माण अस्थायी तौर पर सामान्य जिज्ञासा, रुचि अथवा उत्तेजना आदि के कारण हो जाता है। हम इसे ऐसे लोगों का असगठित समूह कह सकते है जिनका ध्यान किसी वस्तु, या व्यक्ति पर केन्द्रित रहता है और जिसमे लोग तर्क की अपेक्षा आवेश से अधिक प्रभावित होते हैं। भीड मे व्यक्तिगत चेतना सामूहिक चेतना मे बदल जाती हैं। स्प्रीट ने लिखा है कि कोई भी जन समूह, जो अनुभूति के कारण क्रियाशील हो जाता है, भीड बन जाता है।

भीड़ की विशेषताएँ अथवा उसके लक्षण
(Characteristics or Features of Crowd)

भीड के अर्थ और स्वरूप को हम उसके निम्नलिखित विशेषताओं अथवा लक्षणों के आधार पर अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं—

(1) शारीरिक विद्यमानता या निकटता—किंग्सले डेविस के अनुसार भीड की पहली कसौटी उसकी 'शारीरिक विद्यमानता' है। भीड के आकार की सीमा वही तक सीमित है जिसको आँखें देख सकती हैं और कान सुन सकते है। ऐसी शारीरिक विद्यमानता के अभाव में भीड दिखाई नही दे सकती। ज्यो ही व्यक्ति तितर-बितर हो जाते हैं, भीड का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि भीड एक अस्थायी तथा क्षणभगुर सामाजिक समूह है।[1]

(2) अस्थाई प्रकृति—भीड कभी भी स्थायी नही होती। यह एक अस्थायी जनसमूह है जिसका सहसा जन्म होता है और सहसा ही अन्त भी हो जाता है। किसी भी घटना से आकर्षित होते ही चारो ओर लोग इकट्ठे हो जाते हैं और उस आकर्षण के समाप्त होते ही वापिस तितर-बितर हो जाते हैं। इस प्रकार भीड के विकास के मूल मे किसी न किसी घटना या तथ्य का समावेश रहता है और उस घटना या तथ्य के अन्त के साथ ही भीड भी मिट जाती है।

(3) असंगठित—भीड ऐसा जनसमूह है जो असगठित या अस्त-व्यस्त होता है। इसका न कोई समय होता है, न कोई निश्चित स्थान। कोई भी जोशीला व्यक्ति सहसा ही लोगो का नेतृत्व करने लगता है। भीड के सदस्यो मे श्रम विभाजन की कोई योजना भी नही होती और पदो की कोई व्यवस्था नही पाई जाती। फिर भी भीड सामान्यत नियन्त्रित रूप मे कार्य करती है। पर यह भी कोई नही कह सकता कि वह कब अनियन्त्रित हो जाएगी।

1. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 302

(4) ध्यान का सामान्य केन्द्र—भीड मे लोगो की रुचि और लक्ष्य एक दूसरे के समरूप हो जाते हैं। किसी घटना, वस्तु या तथ्य की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित होता है और उनका जमघट बन जाता है। दूसरे शब्दो मे ध्यान का कोई सामान्य केन्द्र होने से लोगो मे चुम्बक की तरह खिचने (Polarisation) जैसी प्रवृत्ति पैदा होती है जो भीड़ के लिए आवश्यक दशा है।

(5) अत्यधिक सकेतग्राही—किम्बल डेविस के शब्दो मे "चूँकि भीड के सभी सदस्य एक स्तर के होते हैं, चूँकि उनका ध्यान एक वस्तु पर केन्द्रित होता है, चूँकि उनको अनियन्त्रित प्रेरणाओ को सुगमता से स्वाभाविक कार्य करने की स्वतन्त्रता मिल जाती है, अत भीड बहुत अधिक सकेतग्राही होती है। इसके सदस्य एक दूसरे के हाव-भावो और एक दूसरे की आवाजो के अनुसार एक स्वत चालित पशुतापूर्ण प्रतिक्रिया करते हैं।"[1] भीड के सदस्य 'यह नही जानते कि वे क्या कर रहे हैं?" सनक, भक, मार पीट, आकस्मिक भगदड, हडबडी तथा आन्दोलन समूह की अपेक्षा भीड की अधिक प्रमुख विशेषताएँ हैं।[2]

(6) समानता—भीड के सदस्यो मे ऊँच-नीच की स्थिति नही पाई जाती। उसमे सम्मिलित सभी व्यक्तियो की स्थिति समान होती है। सामान्य सामाजिक जीवन मे व्यक्ति का चाहे कितना भी उच्च अथवा निम्न पद हो, लेकिन भीड के रूप मे सभी लोग समान हैं।

(7) अनामिकता—उपरोक्त परिस्थिति भीड के लोगो को 'अनामिकता' (Anonymity) प्रदान करती है क्योकि भीड म कोई भी व्यक्ति उनके सामाजिक नाम या पद को नही जान पाता।[3]

इस प्रकार क प्रमुख लक्षणो स युक्त असगठित जनसमूह भीड कहलाता है। मनोवैज्ञानिक रूप म भीड के सदस्य प्राय विवेक की कमी उत्तरदायित्व के अभाव, सकल्प शक्ति की कमी विचार की अस्थिरता उत्तेजना आदि से ग्रस्त रहते हैं। पर साथ ही भीड के सदस्य जब तक जमघट के रूप म एकत्रित रहते हैं तब तक वे अपने मे अधिक शक्ति का अनुभव करते हैं।

भीड़ के प्रकार
(Types of Crowds)

भीड की विशेषताओ मे मात्रा रूप आदि का भेद होता है, अत इसे समाज शास्त्रियो ने अनेक भागो म वर्गीकृत किया है। अग्रिम पक्तियो म सर्वप्रथम हम उद्देश्य और सक्रियता की दृष्टि से भीड को दो प्रधान वर्गों—सक्रिय भीड एव निष्क्रिय भीड मे विभाजित करेंगे और तत्पश्चात् मेकाइवर एव पेज तथा किम्बल डेविस के वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे।

1 वही, पेज 303
2 वही पेज 303
3 वही, पेज 302

सक्रिय एवं निष्क्रिय भीड

(1) *सक्रिय भीड*—इस भीड का आशय उस असंगठित जनसमूह से है जिसके सदस्य खाली दर्शक के रूप में इकट्ठे नही होते बल्कि वास्तव मे क्रियाशील रहते है। इसकी मुख्य विशेषता पारस्परिक उत्तेजना का होना है। किसी आकस्मिक घटना या परिस्थितिवश भीड का उदय हो जाता है और इसके सदस्य अपनी अचेतन भावनाओ को अभिव्यक्त करते हैं। किम्बाल यंग ने लिखा है कि "सक्रिय भीड ऐसे लोगो का समूह है जो ध्यान के सामान्य केन्द्र के साथ कुछ अन्तर्निहित अभिवृत्तियो, उद्देश्यो और क्रियाओ को अभिव्यक्त करते हैं।"

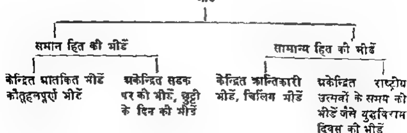
क्रियाशीलता की दृष्टि से सक्रिय भीड को चार श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—(i) आक्रामक भीड, (ii) भयग्रस्त भीड, (iii) अर्जनशील भीड, एव (iv) प्रदर्शनकारी भीड। आक्रामक भीड का प्रधान लक्षण क्रोध और घृणा है। इसके सदस्य प्राय पशुओ जैसा व्यवहार करने लगते हैं। भयग्रस्त भीड किसी भयानक परिस्थिति या घटना के घटित होने पर उत्पन्न होती है। प्रदर्शनकारी भीड कभी कभी अचानक ही आक्रामक भीड का रूप ले लेती है।

(2) *निष्क्रिय भीड*—इस भीड के सदस्यो मे क्रियाशीलता नहीं पाई जाती। उनमे आवेगो की कमी होती है। वे सक्रिय भीड के सदस्यो की भाँति अपने विवेक को पूरी तरह नहीं खो बैठते।

निष्क्रिय भीड को भी दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(i) दर्शको की भीड एव (ii) श्रोताओ की भीड। प्रदर्शनी, मेले आदि को देखने के लिए लोगो का जो जमघट बनता है वह दर्शको की भीड का उदाहरण है। किसी भाषण, कविता आदि को सुनने के लिए श्रोताओं का जो जमघट बनता है वह श्रोताओ की भीड का उदाहरण है।

मेकाइवर तथा पेज का वर्गीकरण[1]

मेकाइवर तथा पेज ने भीड के प्रकारो को तालिका रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—



1. मेकाइवर तथा पेज : वही, पृष्ठ 375

तालिका से स्पष्ट है कि मेकाइवर ने भीड के दो मुख्य प्रकार माने हैं—प्रथम, समान हित की भीड (Like-interest crowd) और द्वितीय, सामान्य हित की भीड (Common-interest crowd)। इनमे से प्रत्येक को पुन दो वर्गों मे बाँटा गया है। समान हित की भीडें केन्द्रित और अकेन्द्रित दोनो हो सकती हैं। आतंकित आश्चर्य से एकत्रित भीड केन्द्रित एव समान हित की भीड (Focussed and like-interest crowd) का उदाहरण है तो सडको पर एकत्रित भीड या छुट्टी के दिन की भीड अकेन्द्रित एव समान हित की भीड (Unfocussed and like-interest crowd) का उदाहरण है। सामान्य हित की भीड को भी इसी प्रकार केन्द्रित और अकेन्द्रित दो वर्गों मे विभक्त किया गया है। क्रान्तिकारी अथवा आक्रमणकारी भीड केन्द्रित एव सामान्य हित वाली भीड (Focussed and common-interest crowd) का उदाहरण है तो राष्ट्रीय उत्सव के समय की भीड अकेन्द्रित एव सामान्य हित वाली भीड (Unfocussed and common-interest crowd) का उदाहरण है।

किंग्सले डेविस का वर्गीकरण[1]

डेविस ने भीडो को तीन मुख्य प्रकारो और उनके सात उपभेदो मे विभक्त किया है जिन्हे तालिका रूप मे हम इस प्रकार रख सकते हैं—

भीडें

सामाजिक सरचना से सम्बद्ध भीड	आकस्मिक भीड	नियमरहित भीड
(अ) औपचारिक श्रोता समूह	(अ) असुविधाजनक जमघट	(अ) क्रियाशील भीड
(ब) सुनियोजित अभि-व्यजना शील समूह	(ब) आतंकित भीड	(ब) अनैतिक भीड
	(स) दर्शक भीड	

(1) सामाजिक सरचना से सम्बद्ध भीडें (Crowds articulated with the Social Structure)—ये भीड वे है जिनका गठबन्धन सामाजिक सरचना मे होता है। डेविस के अनुसार इनके दो उप-भेद हैं—

(अ) औपचारिक श्रोता समूह (Formal audience)—थियेटर देखने वाले, क्रीडा देखने वाले अथवा धार्मिक उत्सवो मे भाग लेने वाले समूह इस प्रकार की भीड के उदाहरण है। इनमे आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु एक होता है और उद्देश्य भी समान होते हैं, लेकिन अपनी प्रकृति से ये निष्क्रिय होते है, अर्थात् एक व्यक्ति की उपस्थिति दूसरे को बहुत कम प्रभावित करती है।

1. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 308-309

(ब) नियोजित अभिव्यंजनाशील समूह (Planned expressive groups)—नृत्य करती हुई भीड़, धर्मोन्मत्त भीड़ इसके उदाहरण हैं। ऐसी भीड़ों में ध्यान का केन्द्र-बिन्दु बहुत कम होता है, लेकिन ये उन समान उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं जो स्वयं में ही एक क्रिया होती है और कर्त्ता को आनन्द देती हैं। ऐसी भीड़ें दिन-प्रतिदिन के कार्यों की थकान और तनाव से छुटकारा दिलाती हैं। इन भीड़ों के अन्तर्गत एक दूसरे की उपस्थिति और उनकी पारस्परिक अन्त प्रेरणाओं से व्यक्ति ताजगी अनुभव करता है।

(2) आकस्मिक भीड़ (Casual Crowds)—इनके तीन उपभेद केनिस ने किये हैं—

(अ) असुविधाजनक जमघट (Inconvenient aggregatio

भीड़ उन व्यक्तियों से बनती है जो सामान्य सुविधा से लाभ उठाना चाहते हैं, जैसे टिकट खरीदने के लिए जमा भीड़ या चौराहे पर ट्रैफिक रुक जाने के कारण एकत्रित भीड़। ऐसी भीड़ों में किसी प्रतियोगी लक्ष्य तक पहुँचने में दूसरे की उपस्थिति एक बाधा होती है, और पारस्परिक प्रोत्साहन पारस्परिक संघर्ष का रूप ले सकता है।

(ब) आतंकित भीड़ें (Panic Crowds)—मकान में आग लग जाने से भागती हुई भीड़, बाढ़, युद्ध या दंगों आदि के डर से भागती हुई भीड़ आतंकित भीड़ें हैं। इन भीड़ों में लोगों में पारस्परिक उत्तेजना अंगोद्वेग की भावना को प्रोत्साहन देती है अविवेक बढ़ता है और भय से छुटकारा पाने में बाधा डालता है।

(स) दर्शक भीड़ (Spectator Crowds)—ये भीड़ें वे हैं जो किसी घटना या उत्तेजनात्मक दृश्य को खाली तमाशा देखने के लिए इकट्ठी हो जाती है। सामूहिक उत्तेजना या उद्दीपन से ये भीड़ें बहुत कम प्रभावित होती हैं। ऐसी भीड़ों की स्थिति श्रोता एवं समूह से मिलती जुलती होती है, लेकिन अन्तर यह है कि ये न तो नियोजित होती हैं और न ही इन पर सरलता से नियन्त्रण पाया जा सकता है

(3) नियमविहीन भीड़ें (Lawless Crowds)—इनके दो उपभेद हैं—

(अ) क्रियाशील भीड़ें (Acting Crowds)—भागती हुई या आग लगाती हुई अथवा लूट-मार करती हुई भीड़ें क्रियाशील भीड़ों में गिनी जाती हैं। इन भीड़ों का उद्देश्य अवैधानिक रूप से शारीरिक शक्ति द्वारा किसी ऐसे लक्ष्य को पाना होता है जो कानून अथवा व्यवस्था के साधारण नियमों के विपरीत हो। इसमें अधिक संख्या में व्यक्तियों की उपस्थिति के कारण अनामिकता (Anonymity) की भावना उत्पन्न होती है, उद्वेगों में वृद्धि होती है और ऐसे कार्यों के प्रति प्रोत्साहन मिलता है जिन्हें अकेला व्यक्ति कठिनता से ही कर सकता है। सामान्यतः क्रियाशील भीड़ में ऐसी भावना होती है कि अन्याय को दूर किया जा रहा है और मौलिक अधिकारों की रक्षा की जा रही है।

(ब) अनैतिक भीड़ें (Immoral Crowds)—इस प्रकार की भीड़ों में डेविस ने आवेगपूर्ण, शराब पी हुई या तोड़-फोड़ की कारवाई करती हुई भीड़ों को लिया है। ऐसी भीड़ों को नियमों को तोड़ने से ही मानसिक तनावों से छुटकारा मिलता है। समूह के सदस्यों में पारस्परिक उद्दीपन चरम सीमा पर होता है और अनामिकता (Anonymity) की भावना से लोगों को दण्ड की आशंका नहीं रहती। सामान्य जीवन की निराशा, विशेषकर यौनिक निराशा ऐसी भीड़ों का निर्माण करती है। इन निराशाओं से शान्ति पाने के लिए ही लोग जमघटों में एकत्रित हो जाते हैं और इनकी अनैतिक क्रियाएँ तभी रुक पाती हैं जब मानसिक रूप से तुष्टि हो जाती है।

किंग्सले डेविस ने लिखा है कि कोई भी वास्तविक भीड़ एक रूप से अधिक का भी प्रतिनिधित्व कर सकती है। उदाहरणार्थ, मार-पीट करने वाली भीड़ भी कभी-कभी एक निश्चित व्यभिचारी प्रकृति की होती है, जिसमें अनैतिक भीड़ और क्रियाशील भीड़ दोनों के ही गुण प्रतीत होते हैं। किन्तु भीड़ के वर्गीकरण का प्रयत्न कम से कम उन अनेक मार्गों को अवश्य प्रस्तुत करता है जिनमें भीड़ के प्राथमिक लक्षण—घनिष्ट शारीरिक सम्पर्क, पारस्परिक उत्तेजना, अस्थाई प्रवधि, असंगठित अन्त क्रिया तथा अनामिकता—मानव-समाज के अन्तर्गत क्रियाशील होते हैं।

क्रियाशील भीड़ की मानसिक विशेषताएँ

(Mental Characteristics of Action Crowd or Mob)

आन्तरिक उद्वेगों को शारीरिक क्रियाओं के रूप में अभिव्यक्त करने वाली भीड़ को समाजशास्त्रीय भाषा में 'क्रियाशील भीड़' कहा जाता है। व्यक्तियों का एकत्रीकरण किसी बम फटने, घूँसे की लड़ाई आरम्भ हो जाने या कोई अनैतिक कार्य के होने से एक निष्क्रिय और असावधान समूह से एक सक्रिय तथा एक दिशा में बढ़ती हुई भीड़ के रूप में परिवर्तित हो सकता है। किम्बाल यंग ने क्रियाशील भीड़ों को दो भागों में विभक्त किया है—(क) आक्रमणकारी भीड़, एवं (ख) आतंकित होकर भागती हुई भीड़। इस प्रकार की भीड़ों में व्यक्ति की मानसिक स्थिति सामान्य नहीं रहती। विचार, अनुभव और कार्य करने के उसके ढंग प्राय अबौद्धिक हो जाते हैं और उत्तरदायित्वहीनता अपना प्रभाव जमा लेती है। विवेक खोकर भीड़ का सदस्य दूसरे की देखा-देखी एक सम्मोहित व्यक्ति के समान कार्य करने लगता है। क्रियाशील भीड़ विशेष कर अत्यधिक उद्वेगात्मक, प्रमथत्, अस्थिर, अनिश्चित, अविवेकपूर्ण, अनुत्तरदायित्वपूर्ण, निरकुश प्रकृति की, लापरवाह और अनावश्यक रूप से उत्साही होती है। समाजशास्त्रियों ने क्रियाशील भीड़ की मानसिक विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

(1) विवेक और बुद्धि का निम्न स्तर—भीड़-व्यवहार में विवेक की कमी होती है। एक तो प्राय निम्न-स्तरीय बुद्धि के कारण ही लोग भीड़ में एकत्रित हो जाते हैं और दूसरे भीड़ का सदस्य बन जाने के बाद उनकी बुद्धि का स्तर और भी

गिर जाता है। भीड के सदस्यो मे तर्क का उतना महत्त्व नही होता जितना आवेश और सवेगो का। एक क्रियाशील भीड के प्रत्येक व्यक्ति मे इतना आवेश आ जाता है कि उसे समाज विरोधी व्यवहार की ओर सुगमता से प्रेरित किया जा सकता है।

(2) **उत्तरदायित्व की कमी**—भीड मे उत्तरदायित्व की भावना का अभाव पाया जाता है। भीड असगठित होती है और इसके सभी सदस्य अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समझते हुए कार्य करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि उसके द्वारा किए गए किसी कार्य के लिए अकेला वही उत्तरदायी नही ठहराया जाएगा। फलस्वरूप वह अनियन्त्रित और उच्छृखल ढग से कार्य करने को प्रेरित होता है। मैकडूगल की मान्यता है कि चूँकि भीड मे व्यक्ति को अपने आत्म सम्मान का ध्यान नही रहता, अत उसमे उत्तरदायित्व की भावना बने रहने का भी प्रश्न नही उठता। लोग अपनी आन्तरिक भावनाओ को खुली छूट देने में लगे रहते हैं।

(3) **सकल्प शक्ति का अभाव**—भीड मे सकल्प शक्ति नही पाई जाती। किसी घटना विशेष के कारण वह एकत्र होती है और उस घटना के समाप्त होते ही तितर बितर हो जाती है। भीड के सदस्यो के विचार अस्थाई होते हैं, फलत उनमे सकल्प शक्ति का अभाव रहता है।

(4) **सामूहिक शक्ति का आभास**—भीड मे व्यक्ति अपनी शक्ति के बल पर नही कूदता बल्कि सभी लोगो के जमघट की शक्ति के बल पर कार्य करता है। इस सामूहिक शक्ति के आभास के कारण ही वह ऐसे कार्य कर बैठता है जिन्हे करने का सामान्य जीवन मे उसे कभी साहस नही होता। मूर्ख और कायर व्यक्ति भीड मे मिल कर अपने को बुद्धिमान तथा शक्तिशाली समझने लगता है।

(5) **तीव्र सवेगात्मक और अचेत प्रेरणाएँ**—भीड व्यवहार मे व्यक्तियो के सवेग बडे तीव्र हो जाते हैं। इस उत्तेजना की हालत मे भीड के नेता से जो निर्देश मिलते हैं, उनके उचित अनुचित का ध्यान रखे बिना व्यक्ति उन्हे ग्रहण करने अधिक जोशीला बन जाता है। उत्तरदायित्व के अभाव और सामूहिक शक्ति के आभास द्वारा वह निरन्तर उत्तेजित होता रहता है। फ्रायड ने इसी को अचेतन प्रेरणाओ का नाम दिया है जिनके कारण व्यक्ति की पाशविक भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं।

(6) **सहज विश्वास**—भीड-व्यवहार सवेग और निर्देश द्वारा सचालित होता है अत इसमे तार्किक विवेचना-शक्ति नही पाई जाती। भीड के सदस्य अपनी उत्तेजनात्मक स्थिति मे, बिना तर्क-वितर्क के प्रत्येक बात पर विश्वास करने लगते हैं। एक व्यक्ति के मुँह से निकली बात भीड के सभी लोगो मे बिजली की तरह फैल जाती है और लोग उसका प्रमाण जानने का प्रयत्न नही करते।

(7) **अचेतन इच्छाओं की अभिव्यक्ति**—भीड मे व्यक्ति अपनी अपूर्ण और दमन की हुई इच्छाओ को अभिव्यक्त करने का अवसर पाता है। सामान्य जीवन मे इन इच्छाओ की पूर्ति कठिन होती है। पर भीड-व्यवहार मे बाधाओ के न होने से

लोगों को मनमाना व्यवहार करने की छूट मिल जाती है। उनका उन्मुक्त आचरण नैतिकता व अनैतिकता का विचार नहीं करता।

(8) **तीव्र संकेत ग्राह्यता**—भीड के सदस्यों में निर्देश और संकेत ग्रहण करने की भारी क्षमता पैदा हो जाती है। अपनी बुद्धि का प्रयोग किए बिना लोग दूसरे के विचारों को ग्रहण कर लेते हैं। वे अपने चरित्र और आदर्श की ओर झांकने का प्रयत्न नहीं करते। भीड में कन्धे से कन्धे टकराते हैं और चारों तरफ उत्तेजना का वातावरण व्याप्त रहता है। अत संकेत-ग्राह्यता बढ़ जाती है।

(9) **पारस्परिक उत्तेजना**—भीड-व्यवहार सदस्यों की पारस्परिक उत्तेजना पर आधारित होता है। इसमें एक व्यक्ति दूसरे को और दूसरा तीसरे को उत्तेजित करता है। मेकाइवर के शब्दों में "भीड में प्रत्येक व्यक्ति किसी भावना या अभिव्यक्ति के लिए एक ध्वनि-विस्तार यन्त्र का काम करता है।"

(10) **असम्भावना के विचार की समाप्ति**—भीड के सदस्य अपनी उत्तेजना में सम्भावना-असम्भावना पर विचार करने की कोशिश नहीं करते। किसी भी काम को करने के लिए, चाहे उसे पूरा करना सम्भव न हो, वे कमर कस लेते हैं। अपने सामान्य जीवन में अनुशासित और सामाजिक व्यवस्था के प्रति जागरूक व्यक्ति भी भीड का सदस्य बनने पर असम्भव कार्य करने को तत्पर हो जाता है तथा अपना हानि लाभ प्राय नहीं देखता। उदाहरण के लिए सामान्य जीवन में हम पुलिस से टकराने की बात नहीं सोचते, पर भीड के सदस्य के रूप में पुलिस से लोहा बजाने से पीछे नहीं हटते।

(11) **अस्थिरता**—भीड चाहे किसी भी प्रकार की हो, अस्थिर होती है। इसमें उद्वेगों की प्रकृति सदा समान नहीं रहती। उद्वेगों के बदलने के साथ-साथ भीड के कार्य भी बदलते जाते हैं। भीड-व्यवहार में इतनी अस्थिरता पाई जाती है कि इस क्षण जो उसका नेता है वही दूसरे क्षण उसके क्रोध का शिकार बन सकता है। कभी भीड भयानक रूप से क्रूर बन जाती है तो कभी बडे से बडा बलिदान देने को तैयार हो जाती है और कभी अत्यधिक आक्रमणकारी होने पर भी एकाएक कायर बन कर भाग खडी होती है।

(12) **नेता का प्रभाव**—भीड-व्यवहार में नेता का बहुत अधिक प्रभाव होता है और वह सुगमता से लोगों के संवेगों और उनकी भावनाओं को उत्तेजित कर देता है।

भीड़ व्यवहार की व्याख्याएँ
(Explanations of Crowd-behaviour)

हम भीड के अभिप्राय, उसके सामान्य लक्षणों, उसकी मानसिक विशेषताओं आदि का अध्ययन कर चुके हैं। हम देख चुके हैं कि भीड में सम्मिलित लोगों का व्यवहार सामान्य जीवन के व्यवहारों से बिलकुल भिन्न होता है। प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है? जो लोग सामान्य जीवन में चीखने-चिल्लाते नहीं हैं, नारे नहीं लगाते

हैं, वे ये सारे कार्य भीड़ में क्यों कर लेते हैं ? जो लोग सामान्य जीवन में अपने काम सोच-विचार कर और बुद्धिमत्तापूर्वक करते हैं वे भीड़ में अबौद्धिक क्यों बन जाते हैं, हर सुझाव को कैसे स्वीकार कर लेते है ? जो लोग अपने दैनिक जीवन मे सयत और अनुशासनप्रिय होते हैं, वे ही भीड़ में आगजनी, हिंसा, पथराव आदि पर क्यों उतारू हो जाते हैं ? इन जिज्ञासाओ के समाधान के लिए मनोवैज्ञानिको ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके भीड़-व्यवहार (Crowd-behaviour) का विश्लेषण किया है। इन सिद्धान्तोंके आधार पर उन्होंने बताया है कि व्यक्ति भीड़ मे सामान्य से असामान्य क्यों बन जाता है। सक्षेप मे ये सिद्धान्त, जो भीड़-व्यवहार को स्पष्ट करते हैं, निम्नलिखित है—

(1) "समूह मन" का सिद्धान्त (The Group Mind Thesis)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मैकडूगल तथा ली बोन (Le Bon) ने किया है। इनकी मान्यता है कि भीड़ मे व्यक्ति अपना मानसिक अस्तित्व खो बैठता है और समूह का अनुसरण करने लगता है। भीड़ मे सम्मिलित लोगो के भीतर 'समूह चेतना' विकसित हो जाती है, अत सारे समूह का मस्तिष्क जो भी करता है वह सही मान लिया जाता है। भीड़ मे व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता बल्कि उसका अवैयक्तीकरण (De-individualization) हो जाता है। वह समूह की इच्छाओं और आदर्शों के सामने नतमस्तक हो कर काम करने लगता है। व्यक्ति की मानसिक स्थिति जब दूसरों के अनुरूप हो जाती है तो सब के सब लोग एक से हाव-भाव करने लगते हैं। ली बोन (Le Bon) के अनुसार, "भीड़ के सभी लोगो के उद्वेग और विचार एक ही दिशा मे क्रियाशील हो जाते हैं और उन लोगो का चेतन-व्यक्तित्व (Conscious personality) गायब हो जाता है। इससे एक समूह-मस्तिष्क (A collective mind) का निर्माण होता है।"[1] व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत चेतना को भूल कर अपने विचारो को समूह की धारा मे बहने के लिए छोड़ देता है। समूह-मस्तिष्क के निर्माण मे सवेगों का सबसे अधिक योगदान होता है और इसीलिए भीड़ मे व्यक्ति सामान्य जीवन के व्यवहार से भिन्न प्रकार के उद्वेगात्मक व्यवहार करने लगता है। पर ज्योंही व्यक्ति भीड़ से बाहर आता है, उस पर से समूह-मन या सामूहिक मस्तिष्क का नियन्त्रण हट जाता है और वह पुन: अपनी सामान्य स्थिति मे आ जाता है।

समूह मन अथवा समूह-मस्तिष्क के सिद्धान्त को वर्तमान समाजशास्त्रियो ने अप्रामाणिक माना है। मेकाइवर एव पेज के अनुसार, "यह सिद्धान्त आधुनिक समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के अनुकूल नहीं है। ऐसे समूह-मन का प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो भीड़ (या जनता या जन-समूह) के सदस्यो के मनो से स्वतन्त्र हो तथा उन पर नियन्त्रण कर सकता हो।"[2] मेकाइवर ने इसे केवल एक 'साहित्यिक युक्ति' मान लिया है। पर फिर भी उन्होने इस सिद्धान्त की लोकप्रियता को स्वीकार किया है।

1 *Le Bon* · The Crowd, P. 1
2. मेकाइवर तथा पेज : वही, पेज 378.

(2) **दमित प्रेरणाओं का सिद्धान्त (Repressed Drive Thesis)**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रायड और उसके अनुयायियों ने किया है। फ्रॉयड के अनुसार चेतन और अचेतन दो प्रकार के मन होते हैं। हमारी कुछ इच्छाएँ ऐसी होती है जिन्हें हम पूरी कर लेते हैं क्योंकि उन पर समाज की सहमति होती है जबकि कुछ इच्छाएँ हम पूरी नहीं कर पाते क्योंकि वे समाज के आदर्शों के प्रतिकूल होती है जिन इच्छाओं अथवा प्रेरणाओं का हम बाह्य रूप से दमन कर देते हैं वे समाप्त नहीं हो जाती बल्कि हमारे अचेतन मन अथवा मस्तिष्क के अचेतन भाग मे स्थान ग्रहण कर लेती है। अचेतन मन मे पड़ी हुई इन दमित इच्छाओं को ही भीड़ मे फूट पड़ने का अवसर मिलता है। जब व्यक्ति भीड़ का अंग बन जाता है तो उसका अचेतन मन चेतन पर हावी हो जाता है और दबी हुई आन्तरिक प्रेरणाओं पर से सेन्सर (Censor) कुछ समय के लिए हट जाता है और व्यक्ति ऐसा व्यवहार करने लगता है जो उसके सामान्य व्यवहार से भिन्न होता है। यही दमित प्रेरणाओं का अथवा निरुद्ध-प्रेरणाओं की मुक्ति का सिद्धान्त है।

फ्रॉयड के सिद्धान्त से भीड़ व्यवहार के एक प्रमुख कारण पर प्रकाश अवश्य पड़ता है लेकिन इस सिद्धान्त से यह स्पष्टीकरण नहीं होता कि यदि मूल अथवा नैसर्गिक प्रेरणाओं के कारण ही भीड़ मे हमारा व्यवहार भिन्न होता है तो फिर क्या कारण हैं कि पशु, जिनकी कोई भी प्रेरणा दमित नहीं होती, झुंड मे एकदम भिन्न प्रकार का व्यवहार करते है। इससे यह सन्देह होता है कि दमित प्रेरणाओं और भीड़ व्यवहार के मध्य उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है जितना फ्रॉयड ने बताया है। मेकाइवर एव पेज का विचार है कि दमित इच्छाओं के अलावा मानव प्रकृति की स्वाभाविक चेष्टाएँ भी भीड़-व्यवहार के लिए उत्तरदाई हैं।[1] मेकाइवर के अनुसार, "समूह-मन के सिद्धान्त की ही भाँति यह सिद्धान्त भी बहुधा विश्वसनीय लगता है, पर उसका समर्थन वास्तविक अनुसन्धानों से नहीं किया गया है।"[2]

(3) **सामाजिक दशाओं तथा भीड़-व्यवहार का सिद्धान्त (Social Conditions and Crowd-behaviour Thesis)**—इस सिद्धान्त के अनुसार भीड़ व्यवहार का कारण सामाजिक दशाएँ तथा सामाजिक व्यवहार है। मेकाइवर एव पेज के अनुसार, विशिष्ट सामाजिक एव सांस्कृतिक स्थितियों तथा भीड़ के विशिष्ट प्रकारों के बीच सम्बन्ध अवश्य होता है। हम होली के अवसर पर रंग और गुलाल खेलती भीड़ को ही लें जिसमे कि लोगो का विचित्र व्यवहार सामान्य जीवन के व्यवहार से भिन्न होता है फिर भी समाज द्वारा समर्थित या अपेक्षित होना है। मेकाइवर ने आदिम जनजातियों के कुछ विशेष त्यौहारों का उल्लेख किया है जिनमे व्यक्तियों की भीड़ को समाज मे असामान्य व्यवहार करने की छूट दी जाती है। इन त्योहारों और उत्सवों पर लोग भीड़-व्यवहार के समान ही क्रियाएँ करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्तियों

1. मेकाइवर एव पेज वही, पेज 379.
2 वही, पेज 379

को मानसिक तनावों से छुटकारा दिलाने की व्यवस्था समाज में प्राय की जाती है। कुछ ऐसे अवसर दिए जाते है जब व्यक्ति कुछ समय के लिए मुक्त रूप से अपनी प्रेरणाओं के अनुसार काम करते हैं जिसमें उनका मन हल्का हो जाता है, उनके मानसिक तनाव को शान्ति मिलती है। यदि इन प्रेरणाओं को निकलने का या मुक्त होने का मौका नहीं दिया जाए तो वे कभी न कभी विस्फोट कर बैठेंगी जिनसे समाज में विकट स्थिति पैदा हो जाएगी। अत: समाज अपनी ही ओर से लोगों को अपनी प्रेरणाओं का मुक्त उपयोग करने का अवसर दे देता है। आगबर्न एवं निम्कॉफ ने भी भीड़ व्यवहार में सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि "भीड़-व्यवहार का विश्लेषण करते समय हमें समूह और संस्कृति के महत्व पर विचार करना आवश्यक है। स्थान सम्बन्धी विशेषताएँ भी भीड़-व्यवहार को प्रभावित करती हैं। जहाँ नगरों के ढंलीयक पर्यावरण में भीड़-व्यवहार अधिक देखने को मिलता है वहाँ ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक सम्बन्धों के फलस्वरूप और जनसंख्या के कम होने से भीड़-व्यवहार बहुत कम पाया जाता है। फिर, किस समस्या पर भीड़ एकत्र होगी यह भी समाज विशेष के मूल्यों पर निर्भर हो सकता है। उदाहरणार्थ हमारे समाज में कोई नर-हत्या होने पर भीड़ उमड़ पड़ेगी जबकि कुछ आदिम समाजों में नर-हत्या एक सामान्य बात है अतः वहाँ भीड़ एकत्र नहीं होगी।'

(4) पारस्परिक उद्दीपन या उत्तेजना का सिद्धान्त (Theory of Inter-stimulation)—भीड़ व्यवहार को समझने के लिए आलपोर्ट ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसे संक्षेप में आलपोर्ट का सिद्धान्त (Thesis of Allport) भी कह दिया जाता है। आलपोर्ट के अनुसार भीड़ की दो विशेषताएँ हैं—सामाजिक सरलीकरण और परस्पर उत्तेजना (Social facilitation and Stimulation)। व्यक्ति भीड़ में भी उन्हीं कार्यों को करता है जिन्हें सामान्य रूप से वह सामाजिक जीवन में करता है लेकिन भीड़ में इन कार्यों की प्रकृति भिन्न इसलिए हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य को दूसरा व्यक्ति अपना लेता है। भीड़ में व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे के कार्यों को इस प्रकार ग्रहण कर लेने से पारस्परिक उत्तेजना होती है अर्थात् एक व्यक्ति की भावनाएँ दूसरे व्यक्ति की हो जाती हैं और फलस्वरूप व्यक्ति का व्यवहार असामान्य हो जाता है। भीड़ का सदस्य यह अनुभव करता है कि जिस विधि को वह अपना रहा है वह सबसे सरल है और इसी के द्वारा सफलता प्राप्त की जा सकती है। आलपोर्ट ने भीड़ में समूह-मन के सिद्धान्त को न मानकर व्यक्ति-मस्तिष्क को ही महत्त्व दिया है। व्यक्ति के मस्तिष्क का प्रसार भावनाओं द्वारा दूसरों में होता है और वहीं मनोदशा भीड़-व्यवहार में प्रकट होती है।

भीड़-व्यवहार को समझने के लिए और भी कुछ सिद्धान्त हैं, पर उनकी विषय-वस्तु भी कुल मिलाकर उपर्युक्त सिद्धान्तों के ही इर्द-गिर्द घूमती है। वर्तमान समय में भीड़-व्यवहार को समझने में सामाजिक दशाओं को अधिक महत्त्व दिया

जाता है। हम इस बात की उपेक्षा नही कर सकते कि व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले कारक भीड-व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं क्योंकि भीड़-व्यवहार का सम्बन्ध व्यक्तित्व के सगठन तथा सामाजिक व्यवस्था दोनो से है।

जनता : अर्थ एव परिभाषा
(Public : Meaning and Definition)

भीड की विवेचना के प्रसग मे 'जनता' की भावना को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि दोनो मे आधारभूत अन्तर है। प्राय लोग जनता और भीड का मतभेद करने का प्रयत्न नही करते, लेकिन यह गलत है। हम किसी एक स्थान पर एकत्रित होने वाले लोगो या उनके जमघट को 'जनता' नहीं कह सकते। यही नही, किसी देश मे रहने वाले सभी व्यक्तियो के समुच्चय को भी 'जनता' की सज्ञा नही दी जा सकती। वास्तव मे जनता की धारणा आधारभूत रूप मे एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। इसीलिए जनता शब्द का प्रयोग हम उन लोगों के लिए करते हैं जिनके बीच किसी भी विषय के कारण एक मानसिक सम्बन्ध पाया जाता है, फिर चाहे वे लोग कितनी ही दूर क्यों न हो। उदाहरण के लिए शिक्षा सम्बन्धी किसी भाषण को रेडियो पर दूर-दूर तक फैले हुए जितने भी व्यक्ति सुनते हैं, वे सब मानसिक रूप से उस विषय के प्रति जागरूक होते हैं, अत उन सभी के सयुक्त रूप को हम 'जनता' के नाम से सम्बोधित करेंगे। अभिप्राय यह हुआ कि समाजशास्त्रीय अर्थ मे जनता को हम एक "मनोवैज्ञानिक समूह" कह सकते हैं जिसका निर्माण सामान्य रुचि, सामान्य चेतना, सामान्य परिस्थितियो अथवा सामान्य हितो के द्वारा होता है।

जनता की धारणा को समाजशास्त्रियो ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। किंग्सले डेविस के शब्दो मे, "यह (जनता) एक विचारशील तथा भावात्मक समूह है, अत जनता का 'मत' से सम्बन्ध हो जाता है। जनता का कोई भी कार्य प्रतिनिधित्व या व्यक्तिगत कार्य जैसे वोट देना आदि के माध्यम द्वारा होता है।"[1] अधिक स्पष्ट रूप से, डेविस के अनुसार ही, "भीड के प्रतिकूल, जनता तितर-बितर व्यक्तियों का एक समूह है। छोटे तथा एकाकी समुदायो के अतिरिक्त यह कभी भी एक साथ नहीं मिलती। इसकी पारस्परिक क्रिया अप्रत्यक्ष माध्यम से घटित होती है—जैसे लम्बे व्यक्तिगत वार्तालाप से, कानाफूसी से, समाचारो से, रेडियो से, या टैलीविजन आदि से। अप्रत्यक्ष माध्यम के कारण जनता की सख्या भीड की अपेक्षा बहुत अधिक हो सकती है।"[2]

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "उन व्यक्तियो के असगठित एव आकारहीन एकत्रीकरण को जनता की सज्ञा दी जा सकती है जो समान विचारो और समान इच्छाओ (Common opinion & desires) द्वारा एक-दूसरे से बँधे होते है, लेकिन जो सख्या में इतने अधिक होते हैं कि उनके लिए परस्पर व्यक्तिगत सम्बन्ध

1 किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 310
2 वही, पृष्ठ 310

बनाए रखना सम्भव नहीं होता।'[1] स्पष्ट है कि जनता व्यक्तियों का कोई मूत समूह नहीं होता। परस्पर बहुत दूर रहकर भी व्यक्ति यदि समान भावनाओं और विचारों से प्रभावित होते हैं तो ऐसे आकार-रहित समूह या एकत्रीकरण को हम जनता कहेंगे। जनता की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट करते हुए किम्बाल यंग (Kimball Young) ने लिखा है कि 'जनता का अभिप्राय प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित लोगों से नहीं होता बल्कि ये व्यक्ति अनेक स्थानों पर फैले हुए होने पर भी सम्पर्क के अप्रत्यक्ष और यान्त्रिक साधनों द्वारा समान प्रेरणाएँ प्रदर्शित करते हैं।'[2] रेडियो पर किसी कार्यक्रम को सुनने वाले व्यक्ति जब समान प्रतिक्रिया करते हैं तो वे जनता का निर्माण करते हैं।

जनता की प्रमुख विशेषताएँ
(Chief Characteristics of the Public)

उपर्युक्त अर्थ एवं परिभाषाओं के आधार पर हम जनता की प्रमुख विशेषताओं का इस प्रकार संकेत कर सकते हैं—

(1) जनता तितर-बितर अथवा बिखरे हुए बहुत से व्यक्तियों का एक मनोवैज्ञानिक समूह है। ब्रूम एवं सेलजनिक के अनुसार "जनता छितरी हुई या बिखरी हुई (Scattered) हो सकती है। इसके लिए किसी निश्चित सदस्यता (A definite membership) अथवा भूमिकाओं के किसी औपचारिक संगठन (A formal organization of roles) की आवश्यकता नहीं होती।[3]

(2) चूँकि जनता में वे व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जो किसी घटना के परिणामों से सम्बन्धित हैं (Concerned with the consequences of an event), अतः जनता का संगठन समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदल जाता है।[4] इस प्रकार जनता भी एक अस्थाई समूह है।

(3) भीड़ के समान ही जनता का व्यवहार भी एक ही दिशा से सम्बन्धित होता है, अन्तर केवल यही है कि जनता विभिन्न प्रकार से विचार विमर्श करके या मतों (Opinions) का संग्रह करके सामूहिक निर्णय के अनुसार कार्य करती है।

(4) जिन लोगों से जनता का निर्माण होता है उनमें समान मतों और समान इच्छाओं का होना आवश्यक है।

(5) जनता व्यक्तियों की एक आकारहीन समग्रता है जिसमें सम्मिलित लोगों में आमने सामने के सम्बन्ध नहीं पाए जाते क्योंकि उनकी संख्या इतनी अधिक होती है और प्रायः वे इतनी दूर-दूर तक फैले होते हैं कि एक दूसरे में व्यक्तिगत सम्बन्धों को बनाए रखना सम्भव नहीं होता।

1 *Morris Ginsberg* Psychology of Society, p 137
2 *Kimbal Young* op cit p 429
3 *Broom & Selznick* op cit, p 236
4 Ibid p 236

(6) जनता का निर्माण सदैव उद्देश्यपूर्ण रूप से होता है, यह स्वयं कभी विकसित नहीं होती। जब कभी किसी विशेष विचार, घटना आदि में जब बहुत-से व्यक्ति रुचि लेते हैं या उसके प्रति चेतन हो जाते है, तभी एक जनता का निर्माण हो जाता है।

(7) जनता के स्वरूप अनेक हो सकते हैं। हम इन्हें सामान्य रूप से चार भागों में बाँट सकते है—अल्पकालीन, दीर्घकालीन, सामान्य और विशिष्ट। यदि रेडियो पर किसी आकस्मिक आग या बाढ़ का समाचार प्रसारित हो रहा हो तो इस समस्या का स्वरूप अल्पकालीन होने से इसे सुनने वाली जनता को भी हम 'अल्पकालीन जनता' के नाम से सम्बोधित करेंगे।

(8) यद्यपि जनता भीड़ के समान अबौद्धिक नहीं होती, लेकिन प्रचार के प्रभाव से कोई भी जनता उद्वगपूर्ण होकर भीड़ का रूप ले सकती है।[1] जब जनता भीड़ का रूप ले लेती है तो दंगे फसाद हो जाते हैं।

जनमत का प्रभाव
(The Effect of Public Opinion)

किंग्सले डेविस ने जनता (The public) के सन्दर्भ में जनमत के प्रभाव का उल्लेख किया है।[2] डेविस के अनुसार, जब हजारों-लाखों लोग व्यक्तिगत रूप से विचार करके ही समान निर्णय पर पहुँचते हैं तो ऐसे निर्णय का सार्वजनिक प्रभाव बड़ा गम्भीर हो सकता है। जनता की रुचि में परिवर्तन आने से कोई एक उद्योग पनप सकता है तो दूसरा उद्योग समाप्त हो सकता है। जनता की सशक्त प्रतिक्रिया से किसी युद्ध का आरम्भ हो सकता है या कोई क्रान्ति पैदा हो सकती है। इसीलिए प्रत्येक सरकार जनमत (Public opinion) को आवश्यक रूप से अपने पक्ष में रखने का प्रयास करती है ताकि उसके उखड़ जाने का भय न रहे।

जनमत का प्रभाव बड़ा व्यापक और शक्तिशाली होता है, पर जनमत की कोई विशुद्ध भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। जनमत का परिणाम भी, बहुत-सी अवस्थाओं में प्रायः बिलकुल अनिश्चित होता है। जो भी भविष्यवाणियाँ निरन्तर की जाती रहती हैं वे एक वैज्ञानिक उक्ति के रूप में नहीं बल्कि अन्तिम परिणाम को प्रभावित करने के प्रयत्न में प्रचार के एक साधन के रूप में की जाती हैं।

आधुनिक समाज में जनता का बढ़ता हुआ महत्त्व
(Growing Importance of the Public in Modern Society)

किंग्सले डेविस के इस निष्कर्ष के बारे में दो राय नहीं हो सकती कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप जनता का महत्व बहुत बढ़ गया है। इसने व्यक्तियों की संख्या को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि किसी भी समस्या पर

1 *Ogburn and Nimkoff* op cit, p 169
2 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 310

लाखो व्यक्ति एकत्र हो जाते हैं। कभी-कभी तो यह सम्पूर्ण विश्व को बाँधे हुए प्रतीत होती है। अनेक समस्याओ पर इतनी विस्तृत जनता के अस्तित्व का अर्थ है कि कोई भी समाचार प्रत्येक स्थान पर जाता है और किसी भी समस्या पर विचार-विमर्श या तर्क-वितर्क के लिए सभी के मस्तिष्क मिलते रहते हैं। बडे-बडे प्रजातान्त्रिक राज्य, बडे-बडे नगर, विस्तृत धार्मिक उपक्रम, औद्योगिक केन्द्र—सभी कुछ विस्तृत जनता की उपस्थिति के बिना असम्भव हो जाते हैं। आधुनिक समाज प्रधान रूप से जनमत और जनता के व्यवहार पर आधारित है। अपने विभिन्न रूपो मे जनमत आधुनिक समाज का एक बौद्धिक अखाडा है जो हमारे समाज को गत्यात्मक गुण प्रदान करता है। आधुनिक समाज वस्तुत विभिन्न प्रकार की जनता का एक पुञ्ज है।

भीड और जनता में अन्तर

(Distinction between the Crowd and the Public)

हम भीड और जनता दोनो का विवेचन कर चुके हैं। भीड के समान ही जनता भी असगठित होती है और भीड-व्यवहार के समान ही कोई निश्चित रूप से यह नही कह सकता कि जनता का आगामी व्यवहार क्या होगा। इसी प्रकार जनता मे कोई निर्णय लेते समय तनावपूर्ण विचार, उत्तेजना आदि का उतना ही महत्त्व होता है जितना कि भीड मे। साथ ही भीड के समान ही जनता की प्रकृति भी अस्थिर होती है। एक पुरानी समस्या मिटते ही जनता का पुराना रूप मिट जाता है और नई समस्या मे रुचि लेने वाली नई जनता का निर्माण होने लगता है। पर दोनों मे इन समानताओ के बावजूद आधारभूत अन्तर है, अर्थात् भीड और जनता दो भिन्न बातें हैं, दोनो को समान मान लेना सर्वथा भ्रामक है। दोनो मे प्रमुख अन्तरो का उल्लेख समाजशास्त्रियो ने निम्नवत् किया है—

(1) भीड मे शारीरिक निकटता का होना अनिवार्य है, क्योंकि इसी से उसके सदस्यो को परस्पर शक्ति मिलती है। जनता के लिए शारीरिक निकटता अनिवार्य नही है। जनता के सदस्य दूर-दूर तक फैले हो सकते हैं। उनमें केवल मानसिक सम्बन्ध ही पाया जाता है। सचार-साधनो के माध्यम से भी यह सम्बन्ध बना रहता है। भीड में ऐसा होना सम्भव नही होता।

(2) शारीरिक निकटता के होने पर भी भीड के सदस्य पूर्णत असगठित रहते हैं। इसके विपरीत जनता के सदस्य दूर-दूर फैले रहने पर भी सगठित होते हैं और सचार-साधनो के माध्यम से परस्पर मतैक्य बनाए रखने को प्रयत्नशील रहते है।

(3) भीड मे विवेक का अभाव रहता है। भीड के सदस्यो पर उत्तेजना तथा अनियन्त्रित जोश या भय आदि का साम्राज्य छाया रहता है। जनता मे बुद्धि और विवेक सबसे प्रबल होता है। हर व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से किसी भी बात पर सोचने-विचारने और सब अपना मत प्रकट करने का मौका मिलता है। जहाँ भीड

मे नेता प्रायः उसी प्रकार लोगो को हाँकने मे सफल होता है जैसे ग्वाला गायों के झुण्ड को हाँकता है, वहाँ जनता मे ऐसा होना सम्भव नहीं है।

(4) भीड का क्षेत्र सीमित है, जनता का क्षेत्र असीमित है। भीड के आकार को पाया जा सकता है, जनता आकारहीन समग्रता होती है। भीड एक स्थान-विशेष तक सीमित होती है, जनता के लिए इस प्रकार का बन्धन नहीं होता।

(5) एक समय मे एक व्यक्ति एक ही भीड का सदस्य हो सकता है। इसके विपरीत एक व्यक्ति अपनी विभिन्न रुचियो के कारण अनेक 'जनताओं' का एक साथ सदस्य हो सकता है। इस प्रकार जहाँ भीड की सदस्यता सीमित है वहाँ जनता की असीमित।

(6) भीड-व्यवहार मे उद्वेग और अचेतन प्रेरणाओ की प्रधानता होती है तथा उत्तरदायित्व की भावना का अभाव पाया जाता है। जनता भीड के समान उद्वेगो और उत्तेजनाओ मे नही बहती। किसी भी समस्या या विषय पर जनता के सदस्य ठण्डे दिल और दिमाग से विचार करते हैं तथा अपने उत्तरदायित्वो के प्रति सजग रह कर यथासम्भव निर्णय लेने की चेष्टा करते हैं।

(7) जहाँ भीड मे नैतिकता का स्तर गिर जाता है वहाँ जनता मे नैतिक भावना को महत्व प्राप्त रहता है।

प्रकट है कि भीड और जनता परस्पर एक दूसरे से आधारभूत रूप मे भिन्न है। यह सम्भव है कि कुछ विशेष क्षणो मे जनता भी उत्तेजित और उद्विग्न हो जाय, लेकिन फिर भी वह भीड के समान अनैतिक और आक्रामक नही बनती। जहाँ भीड के सदस्य के रूप मे व्यक्ति को अपने हित-अनहित और मान-सम्मान की विशेष चिन्ता नहीं रहती, वहाँ जनता के सदस्य के रूप मे वह समूह की अपेक्षा अपने हितो के प्रति अधिक जागरूक होता है।

5 सामाजिक स्तरीकरण

(Social Stratification)

"समाज का वर्गों अथवा स्तरों में विभाजन, जिससे प्रतिष्ठा और शक्ति का पदसोपान बनता है, सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक तत्त्व है जिसने सम्पूर्ण इतिहास में दार्शनिकों और सामाजिक सिद्धान्तकारों का ध्यान आकर्षित किया है।"[1]

—टी बी बाटोमोर

सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप मे सभी समाजो मे सार्वभौमिक रूप से पाया जाता है, चाहे प्रक्रियात्मक दृष्टिकोण से इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न समाजो मे भिन्न-भिन्न हो और इसके अलग-अलग आधार प्रस्तुत किए जा सकें। हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि किसी भी समाज मे प्रत्येक सदस्य की स्थिति एक ही समान होगी। चाहे कोई भी समाज हो, उसके कुछ सदस्यो की ऊँची स्थिति होगी या वे ऊँचे पद पर होंगे तो कुछ दूसरे सदस्य उनसे नीची स्थिति या पद पर होंगे। समाज के सदस्यो को इस प्रकार ऊँच-नीच की स्थिति म विभक्त करने की व्यवस्था को ही समाजशास्त्रीय भाषा मे हम सामाजिक स्तरीकरण के नाम से सम्बोधित करते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या
(The Explanation of Stratification)

जैसा कि हम कह चुके हैं, सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप मे सभी समाजो मे पाया जाता है। बाटोमोर के शब्दो मे, "समाज का वर्गों अथवा स्तरो मे विभाजन जिससे प्रतिष्ठा और शक्ति का पदसोपान बनता है, सामाजिक संरचना का एक सार्वभौमिक तत्त्व है।"[2] डेविस ने लिखा है कि 'यदि हम विश्व की संस्कृति पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि कोई भी समाज वर्गहीन या स्तरहीन नहीं है। कुछ पुरातन समुदाय इतने छोटे हैं कि उनमे कोई वर्ग स्तर दिखाई नहीं पडते, उनमें सामाजिक सगठन का आधार अधिकतर अवस्था यौनि एव रक्त-सम्बन्ध है। किन्तु ऐसी समुदाय म भी समुदाय का नेतृत्व, व्यक्तिगत योग्यता तथा कौटुम्बिक अथवा

1. टी बी बाटोमोर : समाजशास्त्र (हिन्दी), पेज 193.
2. वही, पेज 193.

गोत्रीय सम्पत्ति प्रारम्भिक स्तरीकरण का निर्माण करते हैं। ज्योंही समुदाय का आकार बड़ा हो जाता है तथा उसकी प्रकृति जटिल हो जाती है, त्योंही समाज में स्तरीकरण का निर्माण स्पष्ट होने लगता है।'[1]

सामाजिक स्तरीकरण, सरल शब्दों में, समाज की वह व्यवस्था है जिसके आधार पर समाज के समूहों और सदस्यों को उच्च और निम्न वर्गों, उच्च और निम्न स्थिति में विभाजित किया जाता है। किंग्सले डेविस ने लिखा है कि जब सामान्यतः जाति, वर्ग और स्तरीकरण की बात सोचते हैं तो हम उन समूहों को ध्यान में रखते हैं जिनकी सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न स्थितियां हैं तथा जिनकी पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठा है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि स्थितियों की सभी भिन्नताओं को स्तरीकरण के अन्तर्गत नहीं लिया जाता। उदाहरणार्थ, कोई भी यह नहीं सोचता कि समस्त पति एक समान सामाजिक वर्ग का निर्माण करते हैं अथवा सभी किशोर या वृद्ध व्यक्ति एक वर्ग के हैं। लेकिन एक व्यक्ति यह मानता है कि समस्त कृषक एक वर्ग का निर्माण करते हैं।[2] स्पष्ट है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों अथवा स्तरों के बनने की प्रक्रिया है जिनमें परस्पर सामाजिक स्थितियों और तदनुसार भूमिकाओं या कार्यों एवं सम्मान या आदर की मात्राओं में अन्तर पाया जाता हो। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण एक प्रक्रिया ही नहीं है वरन् एक दशा भी है जिसमें समाज के विभिन्न स्तर पाए जाते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की परिभाषा देते हुए रेमण्ड मुरे ने लिखा है कि स्तरीकरण समाज का उच्च और निम्न सामाजिक इकाइयों में किया गया क्षैतिज विभाजन है।" गिस्बर्ट के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का आशय समाज का विभिन्न ऐसी स्थाई श्रेणियों और समूहों में विभाजन है जो उच्चता और अधीनता (Superiority & Subordination) के सम्बन्धों से परस्पर सम्बद्ध होते हैं।" टालकट पारसन्स के शब्दों में, "सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय किसी सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे के क्रम विन्यास का विभाजन है।' स्पष्ट है कि पारसन्स ने स्तरीकरण के अन्तर्गत समाज-व्यवस्था में प्रस्थितियों के क्रम-विन्यास को महत्वपूर्ण माना है। व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण में पारसन्स ने 6 कारकों का योगदान बताया है[3]— (1) नातेदारी समूह की सदस्यता (Membership in a kinship-group), (2) व्यक्तिगत विशेषताएँ या गुण (Personal Qualities), (3) अर्जित उपलब्धियाँ (Achievements), (4) द्रव्यगत (Possessions), (5) सत्ता (Authority), एवं (6) शक्ति (Power)। ये 6 कारक विभिन्न समाजों में व्यक्तियों की प्रस्थितियों के क्रम विन्यास का निर्माण करते हैं। विभिन्न समाजों में अलग-अलग कारक व्यक्ति की प्रस्थिति-निर्धारण करते हैं।[4] इन 6 कारकों

1 किंग्सले डेविस : मानव समाज (हिन्दी), पेज 318
2 किंग्सले डेविस : वही, पेज 316
3 सिंधी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन, पेज 143 से उद्धृत
4. वही, पेज 143.

मे से कोई एक कारक भी विशेष प्रभावी हो सकता है और एक से अधिक कारक भी मिलकर व्यक्ति की प्रस्थिति बनाने मे सहयोगी हो सकते हैं।

साराशत स्तरीकरण का आशय समाज का विभिन्न इकाइयो मे विभक्तीकरण से है जिसमे सभी इकाइयाँ उच्चता और अधीनस्थता अथवा निम्नता के क्रम म सज जाती हैं। इस प्रकार स्तरीकरण के लिए विभिन्न सामाजिक इकाइयों और उनक ऊँच-नीच के एक व्यवस्थित क्रम का होना आवश्यक है। साथ ही इन इकाइयो मे कुछ स्थिरता होना भी जरूरी है, क्योंकि यदि उनमे निरन्तर परिवर्तन होता रहा तो कोई सामाजिक व्यवस्था कायम नही रह सकती। सामाजिक स्तरीकरण से समाज मे स्थिति और कार्यों के विभाजन मे सरलता होती है और इसी दृष्टिकोण से डेविस एव मूर ने सामाजिक स्तरीकरण को समाज के हित मे हुई संस्थागत असमानता कहा है।

सामाजिक स्तरीकरण की आधारभूत विशेषताएँ
(The Basic Characteristics of Social Stratification)

सामान्य रूप से सामाजिक स्तरीकरण की उपरोक्त व्याख्या से उसके ये मुख्य लक्षण प्रकट होते है कि—(1) इसमे समाज की प्रत्येक इकाई की स्थिति एक-सा नही होती वरन् उनमे से किसी कि स्थिति सबमे ऊँची किसी की उसमे नीची तो किसी की सबसे नीची होती है अर्थात् सामाजिक स्थिति म उतार-चढाव का क्रम पाया जाता है। (2) सामाजिक स्तरीकरण मे ऊँच-नीच की भावना पाई जाती है। इसी आधार पर उच्च स्थिति वाले व्यक्ति या समूह अपने को निम्न स्थिति वाले व्यक्ति या समूह से श्रेष्ठतर मानने लगते हैं और निम्न स्थिति वाले लोगो मे प्राय हेयता की भावना पनपती है। (3) सामाजिक स्तरीकरण मे ऊँच-नीच की भावना के फलस्वरूप समाज की विभिन्न इकाइयो मे सामाजिक सम्बन्धो का विशेष स्वरूप पनप जाता है। उदाहरणार्थ विभिन्न इकाइयो मे उच्चता और अधीनता का सम्बन्ध विकसित हो जाता है और ऐसे ही सम्बन्धो के आधार पर य इकाइयाँ परस्पर जुडी रहती हैं। (4) सामाजिक स्तरीकरण मे विभिन्न इकाइयो या समूहो की स्थिति मे कुछ न कुछ स्थिरता अवश्य रहती है। (5) स्तरीकरण म समाज म एकदम शुद्ध वर्गों का अभाव रहत है अर्थात कोई भी सामाजिक वर्ग या समूह पूर्ण रूप मे खुला या बन्द नही होता।

सामाजिक स्तरीकरण की आधारभूत विशेषताओ को मेलविन एम. ट्यूमिन ने बड़े वैज्ञानिक रूप से निम्नानुसार प्रस्तुत किया है[1]—

(1) यह अपनी प्रकृति मे सामाजिक है (It is social in character),
(2) यह पुरातन है, अर्थात् यह सभी अतीतकालीन समाजो म पाया जाता है (It is ancient, i.e., it has been found in all past societies),
(3) यह सर्वव्यापी है, हर जगह मौजूद है (It is ubiquitous),

1 Melvin M Tumin, Social Stratification, p 13-18

(4) यह अपने स्वरूप में विभिन्न या अलग अलग है (It is diverse in its forms),

(5) यह परिणामिक है अर्थात् मानव-जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अभिवाछित बातें, जिनका कि असमान रूप से वितरण होता है, इसकी आधारभूत सामग्री का निर्माण करती है (It is consequential, i.e, the most important most desired, and often scarcest things in human like constitute the basic materials which are distributed unequally)

(1) यह अपनी प्रकृति मे सामाजिक है

ट्यूमिन के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है। स्तरीकरण को सामाजिक कहने का अभिप्राय यह नही है कि हम जैवकीय कारको से उत्पन्न असमानताओ की चर्चा कर रहे हैं। आयु यौन-भेद, शक्ति आदि कारको म जो अन्तर पाए जाते हैं वे इस बात की भली भाँति व्याख्या नही कर पाते कि समाज मे कुछ पदो अथवा प्रस्थितियो (Statuses) को दूसरो की अपेक्षा अधिक सम्मान, सत्ता आदि क्यों प्राप्त होती है। वास्तव में समाज द्वारा पदो और प्रस्थितियो के वितरण का स्वीकृत तरीका ही स्तरीकरण का आधार बनता है। व्यक्तिगत भिन्नताओ को सामाजिक प्रतिमानो से परिभाषित करने मे ही सामाजिक स्तरीकरण का सामाजिक पहलू स्पष्ट होता है। सामाजिक स्तरीकरण को हमे समूचे समाज की भूमिका मे देखना चाहिए, क्योकि व्यक्ति तो मात्र इकाई है। जब बहुत से व्यक्ति समान सामाजिक मूल्यो और परस्पर एक सामाजिक व्यवहार के प्रतिमान को स्वीकार करते हैं तभी सामाजिक स्तरीकरण सम्भव होता है।

स्तरीकरण के सामाजिक पहलू का अभिप्राय उस तरीके से भी है जिसके अनुसार समाज के प्रतिमान पीढी-दर-पीढी चलते रहते हैं। समाजीकरण के माध्यम से ही हर पीढी के व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानो को सीखते हैं। इस प्रकार हम अनजाने ही स्वाभाविक रूप से स्तरीकरण को स्वीकार करते चलते हैं।

ट्यूमिन के अनुसार स्तरीकरण का सम्बन्ध अन्य सामाजिक सस्थाओ से भी है। जब हम स्तरीकरण को "सामाजिक" कहते हैं तो इसमे यह अर्थ भी निहित है कि स्तरीकरण की व्यवस्था समाज के अन्य पहलुओ से भी सदैव सम्बन्धित है। इन सम्बन्धों को हम 'सस्थात्मक अन्तर्निर्भरता' (Institutional interdependence) अथवा 'सस्थात्मक अन्तर्सम्बन्ध" (Institutional interrelationships) कहते है और इससे हमारा अभिप्राय होता है कि स्तरीकरण की वर्तमान व्यवस्था राजनीति, विवाह, परिवार, अर्थशास्त्र, शिक्षा, धर्म आदि अन्य मामलो से प्रभावित होता है और इन पर प्रभाव डालती भी है। राजनीति से स्तरीकरण के सम्बन्ध को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं कि सामन्तवादी राजनीतिक व्यवस्था मे शासक वर्ग (Ruling Elite) के पुत्रो को भी उपयुक्त समय पर उत्तराधिकार मे सत्ता प्राप्त हो जाती है। अर्थशास्त्र और स्तरीकरण के सम्बन्ध को लें तो हम देखते हैं कि सामान

द्वारा राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार और अन्य विशेषताओं के अस्तित्व की ओर संकेत करते है जो कुल मिलाकर सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के बराबर है। बहुत-सा सैद्धान्तिक वाद विवाद वर्ग सरचना और राजनीतिक शक्ति के बीच सम्बन्धो पर आधारित है।" इस वादविवाद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मार्क्सवादी व गैर-मार्क्सवादी रचनाओ मे सामाजिक वर्ग का चिरप्रतिष्ठित विचार राजनीतिक शक्ति के विचार और विशेष रूप से शासक वर्ग की अवधारणा मे घनिष्टत सम्बन्धित है।

सरकार और सामाजिक स्तरीकरण
(Government and Social Stratification)

यहाँ सरकार और सामाजिक स्तरीकरण के सम्बन्ध को भी देख लेना चाहिए जिसे किंग्सले डेविस ने 'प्रमुख सामाजिक कार्य तथा स्तरीकरण' (Major Societal Functions and Social Stratification) के अन्तर्गत एक उप शीर्षक मे समझाया है।[1] डेविस ने लिखा है कि धर्म की तरह सरकार भी समाज मे *अपरिहार्य और अनुपम कार्य करती है। सरकार कानून और प्राधिकार के माध्यम* से समाज का सगठन करती है और समाज को वास्तविकता का सस्कार दिलाती है। समाज के अधिकारी हम आज्ञा द सकते है क्योकि उन पर प्राधिकार होता है और नागरिको को उनकी आज्ञा का पालन करना होता है, क्योकि वे उस प्राधिकार के अधीन होते है। इसलिए राजनीतिक सम्बन्धो मे सामाजिक स्तरीकरण प्रारम्भ मे ही पाया जाता है। राजनीतिक स्थितियो का सत्ताधिकार इतना स्पष्ट होता है कि समाज की सभी समानता का उत्तरदायी राजनीतिक असमानता को समझा जाता है। लेकिन किंग्सले डेविस न बताया है कि स्तरीकरण के दूसरे आधार भी होते हैं जिनके द्वारा राजनीतिक सत्ता को पूर्ण करने के लिए निम्नलिखित नियन्त्रण व्यावहारिक रूप मे क्रियान्वित होते हैं—

(अ) राजनैतिक स्थितियो पर बैठने वाले व्यक्तियों की सख्या तथा दल की राजनीति का सचालन करने वाले व्यक्तियों की सख्या अनिवार्य रूप से सम्पूर्ण जनसख्या के अनुपात म बहुत कम होनी चाहिए।

(ब) दल के शासक सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वे केवल अपने लिए कोई कार्य नही करते इसलिए उनके व्यवहारो पर समाज के नियमो एव लोकाचारो का नियन्त्रण होता है।

(स) राजनैतिक पद पर बैठे हुए व्यक्तियो को उनका अधिकार उनको पद प्रदान करते है इसलिए उनका विशेष ज्ञान बुद्धि या योग्यता केवल सयोग मात्र होती है, जिसके कारण प्राविधिक सहायता के लिए उन्हे दूसरो पर निर्भर रहना पडता है।'

1 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 324-25

वर्गों की भूमिका में भी रुचि रखना था। उसके स्वयं के प्रानुभाविक अध्ययन बुर्जुआ वर्ग की उत्पत्ति और पूँजीवाद की स्थापना से सम्बन्धित थे तथा इससे भी अधिक वे पूँजीवाद के भीतर सर्वहारा वर्ग के निर्माण एवं विकास से सम्बन्धित थे। *मार्क्स पहले सर्वहारा वर्ग को 'स्वयं के लिए एक वर्ग' मानता है जो ऐसे व्यक्तियों का* समूह है जिनकी आर्थिक स्थिति समान है। फिर मार्क्स यह बताने का प्रयत्न करता है कि सर्वहारा वर्ग इस प्रकार 'स्वयं के लिए एक वर्ग' बन जाता है अर्थात् इसके सदस्य किस प्रकार सामान्य हितों के प्रति जागरूक हो जाते हैं। मार्क्स ने वर्ग-चेतना के विकास में *सहायक परिस्थितियों को भी गिनाया है जो हैं—उद्योगों का सकेन्द्रण,* संचार-साधनों का विकास, बुर्जुआ वर्ग और श्रमिक वर्ग के बीच बढ़ती हुई आर्थिक तथा सामाजिक दूरी एवं कुशल व्यापारों के पतन के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग की एकता (सजातीयत्व) में वृद्धि।[1]

मार्क्स के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है। मार्क्स ने केवल आर्थिक कारक को ही सम्पूर्ण समाज में परिवर्तन का एकमात्र कारण माना है जब कि *हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि धर्म, कला, प्रौद्योगिकी आदि भी* अपनी भूमिका निभाते हैं। दूसरे, मार्क्स ने यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया है कि समूचे समाज में स्तरीकरण का स्वरूप क्या होगा। मार्क्स ने एक वर्गविहीन समाज की कल्पना की है जो अयथार्थ है क्योंकि स्तरीकरण तो किसी न किसी रूप और मात्रा में प्रत्येक समाज में होता है। तीसरे, *मार्क्स की कुछ भविष्यवाणियाँ गलत* सिद्ध हुई हैं और उन्नत प्रौद्योगिक समाजों में श्रमिक वर्ग का विकास उस ढंग से नहीं हुआ है जैसे मार्क्स की अपेक्षा थी। चौथे, भारतीय जाति व्यवस्था जैसे सामाजिक स्तरीकरण के विशिष्ट रूपों पर मार्क्स के सिद्धान्त को लागू करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। भारतीय जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त स्तरीकरण को नहीं समझा पाता। पाँचवें, बहुत-से अन्य मामलों में भी इस सिद्धान्त की व्याख्यात्मक शक्ति कम हो जाती है क्योंकि यह राजनीतिक क्रिया का एकमात्र आधार सामाजिक वर्ग मानने पर जिद् करता है।[2] अन्त में उत्पादन-कार्यों में संघर्ष के बनिस्पत सहयोग की अधिक भूमिका है। और फिर यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक वर्ग विभक्त समाज क्रान्ति को प्रस्तुत हो।

प्रकार्यवादी सिद्धान्त
(Functional Theory)

किंग्सले डेविस एवं विलबर्ट मूर ने अपने एक लेख में स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक आधार पर बड़ा स्पष्ट विवेचन किया है। डेविस एवं मूर ने अपना लेख इस मान्यता से प्रारम्भ किया है कि सामाजिक स्तरीकरण हर युग में, हर समाज में

1. बाटोमोर : वही, पृष्ठ 206
2. वही, पृष्ठ 207.

अपरिहार्य रूप से रहा है, कोई समाज वर्ग-विहीन अथवा अस्तरीकृत नहीं है। सभी समाजों में असमानता अथवा सामाजिक विषमता अचेतन रूप से व्याप्त होती है और वह एक ऐसी युक्ति है जिससे समाज इस बात को निश्चित व्यवस्था करता है कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थितियों या पदों पर सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही रहें।[1]

स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता को बताते हुए किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक "मानव-समाज" में लिखा है कि किसी भी समाज को अपनी सामाजिक संरचना के विभिन्न पदों पर विभिन्न सदस्यों को बैठाना पड़ता है और विभिन्न पदों के अनुकूल उनसे कार्य लेना पड़ता है। इसलिए समाज को अपने सदस्यों में प्रेरणा सम्बन्धी समस्या को दो स्तरों पर सुलझाना पड़ता है—प्रथम, उचित व्यक्तियों में समाज के विभिन्न पदों को प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न करना, एवं दूसरे, जब वे अपने पदों को प्राप्त कर लें तो उनमें पदों से सम्बन्धित कर्तव्यों के पालन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना। डेविस ने आगे लिखा है कि यदि समाज के विभिन्न पदों के कर्त्तव्य समान होते और सब कार्यों के लिए समान योग्यता तथा बुद्धि आवश्यक होती तो इस बात का कोई महत्व नहीं रहता कि कौन व्यक्ति किस पद पर है। ऐसी सूरत में सामाजिक स्थिति ग्रहण करने की समस्या बहुत कम रह जाती है। पर चूँकि समाज के विभिन्न पदों के लिए विभिन्न योग्यता और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, कुछ व्यक्तियों का महत्व अधिक होता है और प्रत्येक पद पर ऐसे आदमी बैठाना जरूरी होता है जो अपने पद के उत्तरदायित्व को समझें, अतः समाज के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने विभिन्न पदों के लिए विभिन्न पुरस्कारों का लोभ व्यक्तियों के सामने रखे और विभिन्न व्यक्तियों में उनकी योग्यता बुद्धि तथा रुचि के अनुसार अपने विभिन्न पदों का विभाजन करे। इस प्रकार पदों का विभाजन और प्रत्येक पद के लिए विभिन्न प्रकार के पुरस्कार सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग है और वास्तव में यही स्तरीकरण है।[2]

डेविस ने उपरोक्त सन्दर्भ में आगे लिखा है कि कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर बैठने की प्रेरणा देने और उनसे आवश्यक सेवाएँ लेने के लिए समाज क्या पुरस्कार दे सकता है। डेविस का उत्तर है कि—प्रथम, समाज वे वस्तुएँ देता है जो व्यक्तियों के जीवन-धारण एवं आराम के लिए आवश्यक होती हैं, अर्थात् आर्थिक प्रोत्साहन, तथा दूसरे, समाज मन-बहलाव तथा सौन्दर्य-बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएँ प्रदान करता है अर्थात् वह उन्हें सौन्दर्यात्मक प्रोत्साहन देता है, एवं अन्त में तीसरे, समाज आत्म-सम्मान तथा अहम् की तुष्टि करने वाली वस्तुएँ प्रदान करता है, अर्थात् प्रतिकात्मक प्रोत्साहन। डेविस के अनुसार, किसी भी सामाजिक व्यवस्था में ये तीनों प्रकार के पुरस्कार अथवा अन्य पुरस्कारों को विभिन्न स्थितियों में असमान रूप से विभाजित करना आवश्यक है।

1 वही, पृष्ठ 208
2 किंग्सले डेविस : पृष्ठ 318-19.

सामाजिक प्रस्थिति और कार्य का निर्धारण करता है अर्थात् यह तय करता है कि सामाजिक संरचना में किस इकाई की स्थिति कहां होगी और उस स्थिति के अनुसार विभिन्न इकाइयों में कार्यों का भी बटवारा हो जाता है। पाँचवें, स्तरीकरण सामाजिक संगठन में स्थिरता लाता है क्योंकि समाज का संगठन स्थिर तभी रह सकता है जब उसकी विभिन्न इकाइयों में स्थिति और कार्यों का समुचित विभाजन हो। स्तरीकरण में—विशेषकर इसके वर्ग-व्यवस्था के रूप में हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी योग्यतानुसार समाज में स्थिति प्राप्त कर ले। वास्तव में स्तरीकरण में समाज को सन्तुलित रखने की शक्ति है। छठे, सामाजिक स्तरीकरण में सामाजिक संघर्ष और अनावश्यक प्रतियोगिता की भावनाएँ स्वतः कम हो जाती हैं क्योंकि स्तरीकरण की व्यवस्था में विभिन्न समूहों में व्यवसाय, कार्य, स्थिति अधिकार और कर्त्तव्य आदि का सरल विभाजन स्वतः हो जाता है। प्रत्येक समूह अपनी-अपनी स्थिति में रहते हुए अपना पूर्व निर्धारित कार्य करता है।

स्पष्ट है कि अनेक प्रकारों के बावजूद सामाजिक स्तरीकरण की गहरी उपयोगिता है और हम इसके महत्त्व को या इसकी आवश्यकता को अस्वीकार नहीं कर सकते। सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक नियन्त्रण की समस्या को हल करता है और हमें सामाजिक मानदण्डों के अनुसार कार्य करते रहने की प्रेरणा देता है।

बनाए जाने, वेतन आदि चुकाए जाने, कार्य-दशाओं का निश्चय किए जाने आदि के सम्बन्ध में निर्णय उन लोगों द्वारा लिए जाते हैं जो या तो इन निर्णयों को लागू करने के लिए आवश्यक सम्पत्ति (Capital) का नियन्त्रण करते हैं (जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में है) अथवा इन निर्णयों को नियन्त्रित करने वाली राजनीतिक सत्ता के स्वामी हैं (जैसा कि सोवियत रूस में है) अथवा जो कि दोनों ही है अर्थात् धन और राजनीतिक सत्ता दोनों पर अधिकार किए हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा अर्थ-व्यवस्था की संरचना और कार्य स्तरीकरण की व्यवस्था से अति निकट रूप में सम्बन्धित हो जाते हैं।

(2) यह पुरातन है

ट्यूमिन के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण की दूसरी विशेषता इसकी पुरातनता है अर्थात् स्तरीकरण सभी अतीतकालीन समाजों में पाया जाता रहा है। ऐतिहासिक और पुरातत्व शास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार स्तरीकरण उन छोटे-छोटे घुमक्कड़ समूहों (Wandering bands) में भी पाया जाता था जो कि प्राचीन काल में—मनुष्य के सबसे प्रारम्भिक काल में पाए जाते थे। ट्यूमिन का मत है कि इस काल में आयु, यौन-भेद, शारीरिक शक्ति आदि कारक स्तरीकरण की प्रमुख कसौटी रहे होंगे। सम्भवतः तत्कालीन व्यवस्था का सबसे प्रमुख नियम या आदर्श "स्त्रियाँ और बच्चे सबसे अन्त में" (Women and Children last) रहा होगा। प्राचीन काल में स्तरीकरण के आधार के रूप में जहाँ जन्म का सर्वाधिक महत्व था वहाँ आधुनिक काल में अर्जित प्रस्थिति का महत्व बढ़ता जा रहा है।

(3) यह सर्वव्यापी है, हर जगह मौजूद है

ट्यूमिन के अनुसार स्तरीकरण की तीसरी विशेषता इसका सर्वत्र वर्तमान रहना अर्थात् इसकी सर्वव्यापकता है। इतिहास में किसी ऐसे समाज का उदाहरण नहीं मिलता जिसमें सामाजिक स्तरीकरण न रहा हो। हर राष्ट्र में, तथाकथित समाजवादी देशों में भी स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है। अशिक्षित और शिकारी समाजों तक में स्तरीकरण की उपस्थिति के उदाहरण हैं। बुशलोगों (Bush men) में भी, जो कि मुख्यतः शिकार द्वारा अपनी जीविका बसर करते हैं और 50 से लेकर 100 व्यक्तियों के झुंडों में रहते हैं किसी न किसी रूप में स्तरीकरण पाया जाता है। उनमें भी पुरुषों और स्त्रियों में, वयस्कों और बच्चों में समाज द्वारा स्वीकृत असमानताएँ पाई जाती हैं। आदिवासी समाजों में इस स्तरीकरण का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है।

(4) इसके स्वरूप में भिन्नता

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में भिन्नता पाई जाती है। विभिन्न समाजों में विभिन्न कालों में इसका स्वरूप अलग-अलग रहा है। यदि भारत में जाति व्यवस्था के रूप में स्तरीकरण जन्म के आधार पर रहा है तो यूरोपीय देशों में यह अधिकांशतः अर्जित गुणों एवं योग्यताओं के आधार पर रहा है। अनेक समाजों में

आधुनिक लोकतांत्रिक युग मे मानव अधिकारो और लोकतांत्रिक विचारो के प्रसार के कारण स्तरीकरण का यह स्वरूप लगभग मिट-सा गया है । फिर भी कुछ समाजो मे इस आदिम स्तरीय स्वरूप का किसी न किसी रूप मे अस्तित्व बना हुआ है ।

सम्पदाएँ
(Estates)

मध्ययुगीन यूरोप मे सामन्ती सम्पदाओ की व्यवस्था थी । इन सामन्ती सम्पदाओ की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ थी[1]—

प्रथम, उनकी वैधानिक परिभाषा थी । प्रत्येक सम्पदा की अधिकारो और कर्त्तव्यो, विशेषाधिकारो और दायित्वो के निश्चित अर्थ मे एक प्रस्थिति होती थी । इस प्रकार एक व्यक्ति की वास्तविक स्थिति जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना जरूरी था कि वह कौन से कानून के अनुसार रहता था । सम्पदाओ के बीच अन्तर का एक अन्य आधार समान अपराधो पर दिए गए भिन्न-भिन्न जुर्माने मे भी देखा जा सकता है ।

द्वितीय, सम्पदाएँ विस्तृत श्रम-विभाजन की प्रतिनिधि थी और समकालीन साहित्य मे उनके निश्चित कार्य होते थे । कुलीन सबकी रक्षा के लिए उत्तरदायी थे, पुजारी सबके लिए प्रार्थना करते थे और जनसाधारण सब के लिए भोजन जुटाते थे ।

तृतीय, सामन्तवादी सम्पदाएँ राजनीतिक समूह थी । स्टब्स के अनुसार सम्पदाओ का एक समूह विभिन्न स्तरो सम्पदाओ अथवा लोगो की दशाओं का एक सगठित सग्रह है जिनके पास राजनीतिक शक्ति होना स्वीकार किया जाता है ।" परम्परागत सामन्तवाद मे केवल दो सम्पदाओ—कुलीनो और पुरोहितो का अस्तित्व था लेकिन 12वी शताब्दी के बाद यूरोप के सामन्तवाद के पतन के साथ एक तीसरी सम्पदा का उदय हुआ जो नागरिको की थी । उल्लेखनीय है कि इन तीनो सम्पदाओ के सदस्य (सामाजिक वर्गों की भांति) अपनी-अपनी विशेष जीवन-शैली के अनुसार रहते थे और ऊँच नीच के क्रम मे इन तीनो को क्रमश स्थान प्राप्त था । चूंकि मध्य युग मे राज्य चर्च के अधीन था अत पुरोहितो अथवा पादरियो को स्तरीकरण मे प्रथम स्थान प्राप्त था तथापि जैसा कि जानसन का मत है कि पुरोहित या पादरी नियमानुसार तो प्रथम वर्ग मे थे लेकिन व्यवहार मे व्यावसायिक रूप से वे राजवंशीय कुलीनो अथवा सरदारो मे नीचे थे । पुरोहितो या पादरियो को कोई उपाधि आदि नही मिली हुई थी और जिनको मिली हुई थी वे कुलीनो या सरदारो से अन्त क्रिया नही कर पाते थे ।

कुछ आधुनिक इतिहासकार और समाजशास्त्री यूरोप के सामन्तवादी समाजो तथा उसी प्रकार के अन्य समाजो के बीच समानताओ के प्रति बहुत अधिक

1. वही, पृष्ठ 195

आकृष्ट रहे। बारहवीं शताब्दी मे जापान की सामाजिक व्यवस्था को बहुधा सामन्तवादी कहा गया है। भारत मे सामन्तवाद का अस्तित्व अधिक विवादास्पद है। यह मानना ही चाहिए कि यदि भारतीय इतिहास के किसी युग मे सामन्तवादी सम्बन्धो का अस्तित्व था तो वे जातीय सम्बन्धो के साथ-साथ तथा उनमे अन्त गुम्फित रहे होगे।[1] अधिकांश विद्वानो का यही विचार है कि भारतीय सामन्तवाद का स्वरूप आर्थिक और सैनिक रहा था, यह जागीर-सम्बन्धी नही था। यद्यपि भारत मे सामन्तवादी व्यवस्था की स्थापना पर सभी विद्वान एकमत नही हैं तथापि यह अवश्य है कि 'मुगल साम्राज्य की स्थापना से लेकर ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भ तक सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप को सम्पत्ति तथा राजनीतिक शक्ति के सन्दर्भ मे स्पष्ट करने का बहुत कुछ कार्य सामाजिक इतिहासकार कर सकते हैं।[3]

जाति
(Caste)

जब जाति शब्द हमारे सामने आता है तो हमारा ध्यान भारत की ओर जाता है। सामाजिक स्तरीकरण की प्रणालियो मे भारतीय जाति-व्यवस्था अद्वितीय है। भारत मे जाति प्रथा की पराकाष्ठा है। यद्यपि जाति के तत्व अन्यत्र भी पाए जाते हैं लेकिन भारत की जाति व्यवस्था सबसे अनोखी है। वे सामान्य चारित्रिक लक्षण अथवा प्रवृत्तियाँ जो भारतीय जाति को अन्य प्रकार के समूहो मे पृथक करती हैं किग्सले डेविस के अनुसार निम्नलिखित हैं[3]—

(1) किसी जाति की सदस्यता आनुवंशिक होती है। जन्म के समय ही बच्चा अपने माता पिता के पद को ग्रहण कर लेता है।

(2) यह आनुवंशिक सदस्यता सपूर्ण जीवन के लिए स्थाई होती है यदि कोई व्यक्ति जाति-बहिष्कृत कर दिया जाए तो दूसरी बात है अन्यथा वह अपने किन्ही भी प्रयत्नो से अपनी जाति नही बदल सकता। वह अपने जातिगत पद को अपने अच्छे कार्यो से, विवाह से कपट वेश धारण करके अथवा किसी अन्य कौशल से नही बदल सकता।

(3) जीवन-साथी का चुनाव पूर्णत सजातीय विवाही होता है क्योकि इसका उसी जातीय समूह मे पूर्ण होना अनिवार्य है।

(4) इसमे दूसरे समूहो से सम्पर्को की स्थापना को स्पर्श सहयोग भोजन, निवास आदि के प्रतिबन्धो द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है।

(5) जातिगत सदस्यता की चेतना को जातीय नामो के धारण करने से और भी बल मिलता है। समाज वहाँ के व्यक्तियो को उनकी जाति के सन्दर्भ से

1 वही पृष्ठ 196
2 वही, पृष्ठ 196-97
3 किग्स्ले डेविस वही पृष्ठ 328-29

देखता है, उसकी जातीय प्रथाओं से व्यक्ति की अनुरूपता तथा अपनी जाति के द्वारा सरकार की अधीनता में रहना, आदि जाति को बल प्रदान करते हैं।

(6) जाति, एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय से एकता में बंधी रहती है, और सामान्यतः अतीत में बंधी रहती थी, यद्यपि यह इसके अतिरिक्त सामान्य जनजातीय अथवा प्रजातीय उत्पत्ति सम्बन्धी विश्वासों, सामान्य धार्मिक कृत्यों, अथवा किन्हीं अन्य सामान्य विशेषताओं के द्वारा भी संगठित हो सकती है।

(7) किसी भी स्थान पर विभिन्न जातियों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा पूर्ण रूप में स्थापित है तथा साथ ही ईर्ष्या से सम्पन्न है।

डेविस के अनुसार उपरोक्त लक्षण जाति-व्यवस्था के आदर्श-प्रारूप का प्रतिनिधित्व करते है, ये भारतीय कर्मकाण्डों के प्रतीक है और इन्हें भारतीय धर्म में तार्किक रूप प्राप्त है। टी० बी० बाटोमोर के अनुसार, "आधुनिक भारत के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र में शायद 2500 जातियाँ हैं। जाति अन्तर्विवाही समूह है तथा व्यक्ति का मुख्य निर्देश समूह है जिसमें जीवन की एक विशिष्ट प्रणाली सन्निहित है, जिसे उसने प्रथागत तथा प्रारम्भिक समय में वैधानिक मान्यताओं द्वारा बनाए रखा है। जातियों की धार्मिक महत्ता स्पष्ट है और जाति आर्थिक विभेदीकरण से सम्बद्ध सभी सामान्य विशेषताएँ रखती है।" बाटोमोर ने जे० एच० हट्टन के इस विचार से सहमति प्रकट की है कि भारत में मूल आक्रामक आर्यों ने जो विशिष्ट वर्गों में विभक्त थे, यहाँ के समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त प्रारम्भ किया, जो पहले से ही भोजन सम्बन्धी निषेधों के आधार पर अपवर्जी जनजातीय समूहों में विभाजित था। आर्यों ने इन निषेधों को अपने और अधीन जनसंख्या के मध्य सामाजिक दूरी बनाए रखने के लिए स्वीकार किया एवं सुदृढ़ बनाया। इस प्रकार स्तरीकृत अपवर्जी समूहों का सिद्धान्त पुनः लागू किया गया तथा भोजन एवं बाद में सम्पर्क द्वारा अपवित्रता के धार्मिक एवं जादुई सिद्धान्त के रूप में उसे एक शक्तिशाली मान्यता प्रदान की गई।[1]

बाटोमोर ने लिखा है कि जाति व्यवस्था के स्पष्टीकरण में सामाजिक स्तरीकरण के किसी सामान्य सिद्धान्त, हिन्दू धर्म तथा विशिष्ट लक्षण और सम्भवतः भारतीय समाज का खण्डों में विभक्त होना तथा पारस्परिक अर्थ व्यवस्था की स्थिरता जैसे कारकों का उल्लेख निहित है। भारतीय जाति-व्यवस्था में बदलते हुए मूल्यों के साथ परिवर्तन आ रहा है और धन तथा शिक्षा, उच्च एवं निम्न जातियों के सदस्यों की पहुँच के भीतर हो गए हैं। धन, शिक्षा अथवा व्यक्तिगत गुण निम्न जाति का सदस्य होने के बावजूद किसी व्यक्ति को प्रतिष्ठा और शक्ति प्रदान कर सकते हैं। फिर भी ये परिवर्तन बाह्य शक्तियों के कारण आए हैं तथा प्राचीन व्यवस्था

1. टी. बी. बाटोमोर, वही पृष्ठ 198

के लिए अब भी गम्भीर चुनौती नहीं हैं। जो भी हो, हम इस तथ्य से इन्कार नहीं कर सकते कि भारतीय जाति व्यवस्था में विभिन्न कारणों से निश्चित रूप से परिवर्तन आए हैं और उसका कठोर स्वरूप बहुत कुछ ढीला पड़ चुका है। अनेक समाजशास्त्रियों का अभिमत है कि जाति सघों का, विशेष रूप से शहरों में, तीव्रता से विकास हो रहा है और शिक्षा तथा व्यावसायिक गतिशीलता के लिए अवसरों के क्षेत्रों में जाति की महत्ता काफी बनी हुई है। उच्च शिक्षा में मुख्यत उच्च जातियों का प्रवेश है। विवाद के इस दोनों पक्षों के बीच बाटोमोर का यह सतुलित विचार ठीक ही है कि जाति की शक्ति और परिवर्तन की प्रवृत्तियों को अनेक प्रकार से अनुमानित किया गया है जबकि प्रमाण न तो प्रचुर हैं और न स्पष्ट ही। जो भी हो, सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूपों में जाति-व्यवस्था का प्रमुख स्थान है और वर्तमान में भी, चाहे व्यक्ति कितना भी धनीमानी या विद्वान या अधिकारी हो जाए, जातियों के ऊँचे-नीचे के क्रम में उसकी लगभग वही परिस्थिति रहती है। स्तरीकरण के रूप में जाति का अध्ययन अनेक देशी-विदेशी समाजशास्त्रियों ने किया है। उन्होंने जाति के गत्यात्मक स्वरूप को समझने और स्तरीकरण के बदलते मानदण्डों को मापने की कोशिश की है। भारतीय जाति व्यवस्था अति प्राचीन काल से देश में स्तरीकरण की एक ठोस आधारशिला रखती रही है और इस दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

सामाजिक वर्ग तथा सामाजिक स्तर
(Social Class and Social Status)

जाति-व्यवस्था की भाँति वर्ग-व्यवस्था भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। विश्व के अधिकांश भागों में स्तरीकरण का आधार वर्ग ही है। औद्योगीकरण के आधुनिक युग में सामाजिक गतिशीलता ज्यों-ज्यों बढ़ रही है, सामाजिक वर्गों के महत्त्व में निरन्तर वृद्धि हो रही है। वर्ग से हमारा आशय व्यक्तियों के उस समूह से है जिनकी सामाजिक प्रस्थिति लगभग एक-सी होती है। जब समान सामाजिक पद के कारण कुछ लोग आपसी सम्बन्धों की स्थापना करते हैं तो उनके एक वर्ग का निर्माण हो जाता है। वर्ग की सदस्यता, इस प्रकार, जन्मगत न होकर अर्जित होती है। सामाजिक वर्ग, बाटोमोर के अनुसार, तथ्यत समूह होते हैं, ये अपेक्षाकृत खुले या उन्मुक्त होते हैं, बन्द नहीं। उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है लेकिन वे आर्थिक समूह से अधिक हैं। वे औद्योगिक समाजों के लाक्षणिक समूह हैं जिनका विकास 17वीं शताब्दी के बाद हुआ है।

सामाजिक वर्ग की कतिपय मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(1) एक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों की लगभग एक-सी सामाजिक प्रस्थिति होती है, (2) वर्ग-व्यवस्था में व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को सुधारने के लिए प्रयास कर सकता है अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा को सत्वात्मक स्वीकृति प्राप्त होती है, (3) वर्ग में दीर्घकालीन स्थायित्व की प्रवृत्ति होती है, अर्थात यद्यपि एक वर्ग विशेष का सदस्य गतिशीलता के आधार

पर अपने वर्ग से ऊँचे उठ सकता है या नीचे गिर सकता है, लेकिन इसमे काफी समय लगता है, (4) प्रत्येक व्यक्ति मे एक वर्ग-चेतना की भावना पाई जाती है, (5) वर्ग की वस्तुपरक विशेषता होती है अर्थात् मकान के प्रकार, पडोस, मोहल्ले की प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय आदि विभिन्न तत्त्वो के आधार पर व्यक्ति की प्रस्थिति प्राय ऊँची या नीची मानी जाती है अथवा उसकी प्रस्थिति का अवलोकन किया जाता है, एवम् (6) वर्ग की सदस्यता जन्म पर नही बल्कि योग्यता, कुशलता, आर्थिक सम्पन्नता या विपन्नता पर निर्भर करती है अर्थात् इसकी सदस्यता अर्जित होती है । वास्तव मे वर्ग व्यवस्था एक खुले समाज का रूप है । सामाजिक वर्गों मे उतार-चढ़ाव होते रहना भी एक सामान्य बात है । गरीब व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बन कर धनी वर्ग मे सम्मिलित हो सकता है तो धनी व्यक्ति आर्थिक स्थिति से दुर्बल होकर मध्यम अथवा निम्न वर्ग मे जा सकता है । वर्ग गत स्थिति मे यह परिवर्तन आर्थिक स्थिति के अनुरूप अपने आप हो जाता है । बाटोमोर ने लिखा है कि समाजशास्त्रियो म मतभेद साधारणत विभिन्न वर्गों की सयोगशीलता, समाज मे उनकी भूमिका और उनके भविष्य जैसे विषयो को लेकर प्रारम्भ होता है ।

प्रत्येक वर्ग की अपनी एक उप-सस्कृति होती है, रहन-सहन, खान-पीन, व्यवहार आदि की एक विशेष जीवन शैली होती है । जिन लोगो की जीवन शैली लगभग एक-सी होती है उन्हें मैक्सवेबर न प्रस्थिति-समूह (Status-groups) की सज्ञा दी है । मैक्सवेबर ने वर्ग की एक विशेषता 'जीवन-अवसर' (Life-chances) की ओर सकेत किया है, तदनुसार 'हम एक समूह को तब वर्ग कह सकते है जब उसके सदस्यो को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर समान रूप से प्राप्त हो ।"

समाजशास्त्रियो ने विभिन्न वर्गों का अध्ययन किया है । अनेक समाजशास्त्रियो को मध्यम वर्ग विशेष प्रिय रहा है । श्रमिक वर्ग के बारे मे जी० ब्रीफस की प्रतिष्ठित रचना 'दी प्रोलेटेरियट" है जो कि मार्क्सवादी परिभाषा म आरम्भ होती है श्रमजीवी वर्ग तथा सफेद पोश मध्यम वर्ग मे भेद मे अधिक स्पष्ट अन्तर रखती है । मध्यम वर्गों के सामान्य अध्ययनो मे सी० राइट, मिल्स की 'व्हाइट कालर' और लेविस और मा[illegible] की "दि इगलिश मिडिल क्लास' को सम्मिलित किया जा सकता है लेकिन म[illegible] वर्गों के भीतर और विशेष रूप से उदार व्यवसायो के भीतर विशिष्ट समूहो के [illegible] विवरण उपलब्ध हैं । उच्च वर्ग का अध्ययन करना कम सरल रहा है और इस क्षेत्र म समाजशास्त्रीय लेखन अभिजात वर्गो के सैद्धान्तिक एव ऐतिहासिक अध्ययनो से लेकर सम्पत्ति के स्वामित्व, आय, शैक्षणिक विशेष सुविधाओ के बारे मे सांख्यिकीय सूचना पर आधारित अध्ययनो तक प्रसरित है ।[2]

सामाजिक वर्ग और सामाजिक स्तर का विद्वतापूर्ण अध्ययन करते हुए

वही, पृष्ठ 202

6 सामाजिक प्रक्रियाएँ—अन्तःक्रिया, सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष, क्रिया, स्थाई भाव और प्रतिमान

(SOCIAL PROCESSES—INTERACTION, CO-OPERATION COMPETITION AND CONFLICT, ACTIVITY, SENTIMENT AND NORMS)

समाज सामाजिक सम्बन्धो का जाल है। इन सामाजिक सम्बन्धो मे निरन्तर कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं और इसलिए समाज स्थिर न होकर एक गतिशील इकाई है। इन सामाजिक सम्बन्धो की प्रकृति परिवर्तनशील क्यो है ? क्योकि व्यक्ति एक ही समय भिन्न-भिन्न प्रकृति के सम्बन्धो से प्रभावित होते हैं एक विशेष प्रकृति का सम्बन्ध ही विभिन्न व्यक्तियों के लिए विभिन्न अर्थ क्यो लिए होता है ? आदि प्रश्न हमारे सामाजिक जीवन की कुछ प्रमुख जिज्ञासाओ मे प्रतीत होती हैं। इन जिज्ञासाओ का समाधान सामाजिक अन्त क्रिया एव सामाजिक प्रक्रियाओ की प्रकृति उनके विभिन्न रूपो एव सामाजिक जीवन मे उनके महत्त्व आदि से बहुत कुछ हो जाता है। सांस्कृतिक मानवशास्त्रियो ने प्रक्रिया, जो सामाजिक सम्बन्धो से सलग्न हैं, की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है, किन्तु समाजशास्त्रियो ने इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया है और यह महसूस किया है कि हमे न केवल समाज की सरचना को जानना चाहिए बल्कि अन्त क्रिया की विभिन्न प्रक्रियाओ को भी जानना चाहिए।

सामाजिक प्रक्रियाएँ
(Social Processes)

सामाजिक सम्बन्ध केवल दो या दो से अधिक व्यक्तियो के बीच ही नही होते वरन् दो या दो से अधिक समूहो के बीच भी होते है। हम प्राय सुनते रहते हैं कि दो राष्ट्र परस्पर युद्धरत हैं अथवा अमुक अमुक सामाजिक वर्गो मे मन मुटाव चल रहा है अथवा अमुक दो व्यापारिक प्रतिष्ठान आपसी प्रतिस्पर्द्धा मे सलग्न हैं। इस प्रकार, सामाजिक प्रक्रियाओ से हमारा अभिप्राय अन्त क्रिया के उन तरीको से है

जो हमे व्यक्ति और समूह मे मिलते हैं और जिनसे हम आपसी सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

सामाजिक प्रक्रियाओ को ग्रीन एव ग्रीन ने तीन भागो मे विभाजित किया है—

(1) सामान्य सामाजिक प्रक्रियाएँ,
(2) सगठनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएँ एव
(3) असगठित सामाजिक प्रक्रियाएँ।

सामाजिक अन्त क्रिया सामान्य प्रक्रियाओ मे आती हैं। सहयोग, आत्मीकरण तथा व्यवस्थापक की प्रक्रिया को हम सगठनात्मक प्रक्रियाओं मे लेते है। असगठित प्रक्रियाओ मे सघर्ष और प्रतिस्पर्धा का अध्ययन किया जाता है।

सामाजिक अन्त क्रिया और सामाजिक प्रक्रिया को एक दूसरे से पृथक् करके नही समझा जा सकता चूंकि वास्तव मे अन्त क्रिया के विभिन्न रूप ही सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं।

सामाजिक अन्त क्रिया (जिसका आगे पृथक शीर्षक मे वर्णन है) और सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर को सरल शब्दों म स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध समाज शास्त्री प्रो० जी के अग्रवाल ने लिखा है—

अन्त क्रियाएँ पूर्णतया मानसिक होने के कारण अत्यधिक सूक्ष्म और अमूर्त होती हैं। इनके अन्तर्गत हम मानसिक रूप मे दूसरे व्यक्ति की क्रिया का अर्थ निकालते है। लेकिन जब हम किसी व्यक्ति की अन्त क्रिया को समझते ही नहीं बल्कि उसे व्यवहार मे परिणित भी करने लगते है, तब यही अन्त क्रिया के विशेष सामाजिक प्रक्रिया के रूप मे स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए दो व्यापारियो के बीच प्रारम्भ मे सम्पर्क और सचार के कारण कुछ अन्त क्रिया उत्पन्न होती है और तब अनेक घटनाओ के माध्यम से यह अन्त क्रिया एक स्पष्ट 'प्रतियोगिता' के रूप मे परिणत हो जाती है, तब हम इसे सामाजिक प्रक्रिया कह देते है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रक्रिया कुछ घटनाओ का क्रम है जो एक स्पष्ट और एक सम्बद्ध विचारो से स्पष्ट और सम्बद्ध व्यवहारो मे परिणत होकर किसी परिणाम की ओर बढने का प्रयत्न करती है। अन्त क्रियाओ का कोई वैज्ञानिक अन्वेषण सम्भव नहीं है, जब कि सामाजिक प्रक्रिया ने सम्बन्धित घटनाएँ इतनी स्पष्ट और परस्पर सम्बन्धित होती है कि उनका वैज्ञानिक अन्वेषण करके किसी निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

स्पष्ट है कि समाज के व्यक्तियो अथवा समूहो मे जो अन्त क्रिया होती है, उसे सामाजिक प्रक्रिया (Social Process) कहते हैं। दूसरे शब्दों म सामाजिक अन्त क्रिया के साधारण एवम् बार-बार उपस्थित होने वाले रूपो को सामाजिक प्रक्रिया कहना चाहिए। पार्क तथा बर्गेस ने सामाजिक प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए कहा है—"सामाजिक प्रक्रिया से अर्थ उन समस्त परिवर्तनो से है जो समूह के जीवन मे परिवर्तन माने जाते है।" सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न रूप

होते हैं और इन्हें ही सामाजिक अन्त क्रिया के रूप में या सामाजिक प्रक्रियाओं की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक प्रक्रियाएँ प्रकृति से सामूहिक जीवन की प्रक्रियाएँ हैं। ये सार्वभौम हैं। ये सभी समूहों एवं सभी सांस्कृतिक स्तरों पर होती हैं। पुनश्च, ये अर्थात् सामाजिक प्रक्रियाएँ व्यवहार की ऐसी समरूपताएँ हैं जिनका वैज्ञानिक अन्वेषण हो सकता है। आधुनिक समाज में मानव व्यवहार पूर्वपेक्षा अत्यधिक जटिल हो गए हैं अत अनेक सामाजिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जो अन्त क्रिया के अति जटिल रूप होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रे, या स्नेह सामाजिक अन्त क्रियाओं का एक विशेष रूप अर्थात् सामाजिक प्रक्रिया है। प्रेम के अन्तर्गत यह जरूरी नहीं है कि सम्पूर्ण घटनाएँ केवल प्रेम से ही सम्बन्धित हों। इसमें संघर्ष, विरोध और तनाव के तत्त्व भी सम्मिलित हो सकते हैं किन्तु चूँकि केन्द्रीय तत्त्व प्रेम का है, अत संघर्ष और विरोध का प्रभाव अस्थायी रह जाता है। इस प्रकार यह विशेष प्रकार की अन्त क्रिया अर्थात् प्रेम एक सामाजिक प्रक्रिया है। दो राष्ट्रों या समूहों में संघर्ष, युद्ध, तनाव, आदि की स्थिति में दोनों दलों में संघर्ष के साथ उनमें से प्रत्येक के मित्रों में सहयोग, समान उद्देश्यों को लेकर अपरिचितों में भी परस्पर एकता आदि विभिन्न जटिल सामाजिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

सामाजिक प्रक्रिया (Social Process) को और भी अधिक स्पष्ट हम इस प्रकार कर सकते हैं कि प्रत्येक प्रक्रिया में प्राय निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं —

1 वह एक विशिष्ट परिणाम की ओर ले जाती है।

2 उसमें सम्बन्धित घटनाओं का क्रम एक बार से अधिक होता है।

3 उससे घटनाओं से सम्बन्ध होता है।

4 उसमें निरन्तरता पाई जाती है।

उपरोक्त सभी विशेषताओं से युक्त सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र की क्रियाएँ ही सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Process) कहलाती हैं। बीसेन्ज और बीसेन्ज ने लिखा है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्त क्रियाएँ सामाजिक प्रक्रियाएँ कही जाती हैं।

सामाजिक अन्त क्रिया का माध्यम सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं। ये सामाजिक प्रक्रियाएँ ही समूह के जीवन में परिवर्तन करती हैं। इनके रूप ही सामाजिक अन्त क्रिया के रूप हैं।

सामाजिक प्रक्रियाओं को सरल रूप देने के लिए समाजशास्त्रियों ने इन्हें वर्गीकरणों द्वारा समझाने का प्रयास किया है, हालांकि सभी समाजशास्त्री किसी एक वर्गीकरण के बारे में एक मत नहीं हैं। कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रक्रिया के रूपों की संख्या सैकड़ों तक पहुँचा दी है तो कुछ ने केवल दो ही रूपों को प्रधान बताया है। दो रूपों को प्रधानता देने वालों में कुछ समाजशास्त्रियों ने इन्हें सामाजिक प्रक्रियाओं को सहगामी (Associative) और असहगामी (Disassociative) कहा है जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने इन्हें संयुक्त (Conjunctive) और विभाजक (Dis Conjunctive) प्रक्रियाओं के नाम से सम्बोधित किया है। परन्तु

आजकल ये दोनो ही मत अमान्य हैं। इस वर्गीकरण से हमारे अध्ययन में अधिक जटिलता आ जाती है। चूँकि इन दोनो प्रकार की सभी प्रक्रियाओं का उल्लेख कर सकना बड़ा कठिन है।

वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि केवल उन्हीं प्रक्रियाओं को अध्ययन में सम्मिलित किया जाए जो आधारभूत हैं एवं उनकी सहायता से अन्य प्रक्रियाओं की सामान्य रूपरेखा भली प्रकार समझी जा सकें। इसी दृष्टिकोण से पार्क और बर्गेस ने सामाजिक प्रक्रियाओं के निम्नलिखित चार मुख्य रूप (Major Types) माने हैं—

1 प्रतिस्पर्द्धा (Competition)
2 संघर्ष (Conflict)
3 समायोजन (Accommodation)
4 सात्मीकरण (Assimilation)

मैकाइवर, मार्टिन और मैरिल ने इन चारो के अलावा सहयोग (Co-operation) को भी इनके साथ सम्मिलित कर दिया है। इनमे पहले दो विभाजक हैं और बाकी तीन सहगामी अथवा संयुक्त हैं।

सामाजिक अन्त क्रिया-अर्थ, परिभाषा, तत्त्व एवं महत्त्व (Social Interaction : Meaning, Definition, Elements and Significance)

सामाजिक अन्त क्रियाएँ सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का वास्तविक आधार हैं। इन्ही के कारण समाज मे एक गतिशील और अनुकूलनशील व्यवस्था बनी हुई है। यद्यपि समाज की संरचना, प्रस्थिति, भूमिका, सामाजिक मूल्य आदि का समाजशास्त्रीय अध्ययन में बहुत महत्त्व है, लेकिन इसका सर्वाधिक आधारभूत सम्बन्ध सामाजिक अन्त क्रियाओ से है। सदरलैण्ड के अनुसार सम्पूर्ण संस्कृति और समाज वस्तुत. सामाजिक अन्त क्रियाओ की ही उपज है जो सभी स्थानो को और सभी अवसरों पर व्यक्ति तथा समूह मे सम्बन्ध के स्वरूप का निर्धारण करके समाज को व्यवस्थित बनाए रखती है।

अन्त क्रिया का अर्थ

सामाजिक अन्त क्रिया से तात्पर्य व्यक्तियो अथवा समूहो के कार्यशील सामाजिक सम्बन्धो से है। समाज को एक जागरूक और चेतन इकाई इसीलिए कहा जाता है कि अन्त क्रियाओ के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धो का निर्माण करता है।

सामाजिक अन्त क्रिया के लिए कम से कम दो व्यक्तियो का होना अनिवार्य है, उसके बिना यह नही हो सकती। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियो या दो से अधिक समूहों के मध्य ही सामाजिक अन्त क्रिया हो सकती है। उदाहरणार्थ जब कभी दो व्यक्ति परस्पर मिलते हैं और एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं, तो अन्त क्रिया हो जाती है क्योंकि एक व्यक्ति की बात का अर्थ दूसरे व्यक्ति ने लगाकर फिर उसका उत्तर दिया है। 'अर्थपूर्ण क्रिया' ही सामाजिक अन्त क्रिया का आधार है और इसी

के फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्धो की स्थापना होती है। हमे ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक अन्त क्रिया का पारस्परिक सम्पर्क से घनिष्ठ सम्बन्ध है, तथापि मूलतः यह हमारी मानसिक जागरूकता से सम्बन्धित है। हम ज्योही किसी व्यक्ति या समूह की उपस्थिति महसूस करते है, हमारी चेतना पहले से कुछ भिन्न रूप मे काम करने लगती है। उदाहरणार्थ, हम एकान्त मे एक विशेष प्रकार से कार्य कर रहे होते हैं, लेकिन दूसरे व्यक्ति के आते ही अपनी क्रिया मे परिवर्तन कर देते हैं। क्रिया मे उत्पन्न होने वाला इस प्रकार का परिवर्तन एक ओर तो दूसरे के व्यवहारो से प्रभावित होता है और दूसरी ओर दूसरो के व्यवहारो को प्रभावित भी करता है। यह स्थिति सामाजिक अन्त क्रिया का ही उदाहरण है। अन्त क्रिया दो-पक्षीय प्रक्रिया है, एकपक्षीय नही। यदि एक व्यक्ति गहरी नीद मे सो रहा है और दूसरा सामान चुरा ले जाता है तो यह सामाजिक अन्त क्रिया नही है क्योकि इसमे एक व्यक्ति की क्रिया दूसरे व्यक्ति को किसी प्रकार की क्रिया करने की प्रेरणा नही देती। दूसरे शब्दो मे, यह क्रिया एक-पक्षीय है, द्विपक्षीय नही। पर यदि दो व्यक्ति परस्पर झगडते हैं, दो सवार एक दूसरे से टक्कर बचाने की चेष्टा करते हैं, दो व्यक्ति प्रतियोगिता करते हैं, तो ये सब सामाजिक अन्त क्रियाओ के उदाहरण है क्योकि एक व्यक्ति की क्रिया के फलस्वरूप दूसरे व्यक्ति की क्रिया का रूप बनता है।

सामाजिक अन्त क्रिया का क्षेत्र इतना व्यापक है कि हम इसका कोई पूर्वानुमान नही लगा सकते। एक ही विषय पर हम परस्पर कठोरता, नर्मी, सहयोग, सघर्ष, समझौता, मध्यस्थता, सहमति, असहमति आदि का प्रदर्शन कर सकते है। विभिन्न परिस्थितियो मे हमारे सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण, या शत्रुतापूर्ण औपचारिक या अनौपचारिक, सहयोगी या अधिनायकवादी हो सकते है। मूल बात यह है कि समाज के किन्ही दो या अधिक सदस्यो या समूहो मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर किसी न किसी प्रकार की सामाजिक अन्त क्रिया प्रारम्भ हो ही जाती है। इन्ही अन्त क्रियाओ के कारण समाज सामाजिक सम्बन्धो का जाल बना हुआ है।

अन्त क्रिया की परिभाषाएँ

अब हम अन्त क्रिया की समाजशास्त्रियो द्वारा दी गई कुछ प्रमुख परिभाषाओ का उल्लेख करेंगे। एलड्रिज एव मैरिल (Eldrege and Merrill) के अनुसार, "सामाजिक अन्त क्रिया वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा दो अथवा अधिक व्यक्तियो मे परस्पर एक अर्थपूर्ण सम्पर्क होता है जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहारो मे कुछ सशोधन हो जाता है, चाहे इस सशोधन की मात्रा कितनी ही कम क्यो न हो।"[1] स्पष्ट है कि व्यक्तियो या समूहो का यह सम्पर्क उनके व्यवहारो को पारस्परिक चेतना द्वारा प्रभावित करता है और इसी अर्थपूर्ण क्रिया को हम सामाजिक अन्त-क्रिया के नाम से सम्बोधित करते हैं।

1 *Eldrege and Merrill* Culture and Society, p 436

डॉसन और गेटिस (Dawson and Gettys) के अनुसार, "सामाजिक अन्त क्रिया वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य के एक दूसरे के मस्तिष्क मे प्रवेश करते है।" इस परिभाषा से प्रकट है कि सामाजिक अन्त-क्रिया मे व्यक्तियो मे मानसिक सम्बन्ध स्थापित होता है। लोग एक दूसरे के विचारो, कार्यों, भावनाओं आदि से प्रभावित होते है।

किम्बाल यग (Kimbal Young) की दृष्टि मे "मोटे तौर पर अन्त क्रिया मे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि एक व्यक्ति की अनुक्रिया (Response), चेहरे के भाव, शब्द अथवा शारीरिक क्रिया से दूसरे व्यक्ति को उत्तेजना प्राप्त होती है, जिनके फलस्वरूप दूसरा व्यक्ति प्रथम व्यक्ति के अनुसार ही प्रतिक्रिया करता है।"[1] यह परिभाषा सत्य के निकट होते हुए भी पूर्णत ठीक नही कही जा सकती। अन्त क्रिया के लिए उत्तेजना का होना सदैव आवश्यक नही है, क्योकि हम स्वय पारस्परिक सम्पर्क द्वारा एक दूसरे की विशेषताओ और सफलताओ के प्रति जागरूक रहते हैं तथा यह स्थिति भी सामाजिक अन्त क्रियाओ की मात्रा को बढाती है।

सदरलैण्ड एव वुडवर्थ (Sutherland and Woodworth) की परिभाषा बहुत कुछ उपयुक्त है। तदनुसार, "सामाजिक अन्त क्रिया विभिन्न शक्तियो (Forces) की वह गतिशील स्थिति है जिसके अन्तर्गत विभिन्न व्यक्तियो और समूहो के बीच सम्पर्क होने से उनके व्यवहारो तथा मनोवृत्तियो मे सशोधन हो जाता है।"[2] यह परिभाषा स्पष्ट करती है कि जब कभी भी व्यक्तियों एव उनकी मनोवृत्तियो मे कुछ परिवर्तन होता है वहाँ सामाजिक अन्त क्रिया की उपस्थिति अवश्य होती है।

गिस्ट (Gist) ने लिखा है कि "सामाजिक अन्त क्रिया वह पारस्परिक प्रभाव है जो मनुष्य परस्पर उत्तेजना और प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे पर डालते है।" यह परिभाषा बतलाती है कि मनुष्य समाज म रहता है और उसका अन्य लोगो से शारीरिक के साथ-साथ मानसिक सम्पर्क भी अवश्य होता है। अपनी अपनी प्रस्थिति तथा भूमिका (Status & Role) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरो को प्रभावित करता है। सम्पर्क एव सचार की क्रियाएँ ही सामाजिक अन्त क्रियाएँ कहलाता हैं। सामाजिक अन्त क्रिया सरचनात्मक अन्त क्रिया (Communication interaction) होती है।

अन्त क्रिया के तत्त्व

अब हमे देखना चाहिए कि अन्त क्रिया होने के लिए कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक हैं, अर्थात् वे आवश्यक शर्ते कौनसी हैं जो किसी भी अन्त क्रिया की पूर्वदशाएँ है। सामाजिक अन्त क्रिया के ये तत्त्व तीन है-सामाजिक सम्पर्क (Social contact), सचार (Communication), एव सवेदन शक्ति (Sensibility)।

(1) सामाजिक सम्पर्क—इस तत्त्व की विस्तार से चर्चा आगे एक पृथक् रूप से की गई है। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि सामाजिक सम्पर्क

1 *Kimbal Young* A Handbook of Social Psychology, p 18
2 *Sutherland and Woodworth* Op cit, p 99

अन्त क्रिया के लिए आवश्यक है क्योंकि अकेला आदमी कभी अन्त क्रिया नही कर सकता । सम्पर्क सदैव द्विपक्षीय होता है । प्रत्येक सम्पर्क मे अन्त क्रिया करने वाले परस्पर शारीरिक सम्पर्क मे रहते हैं जबकि अप्रत्यक्ष सम्पर्क मे पत्रो, टैलीफोन या अन्य साधनो द्वारा सम्पर्क किया जा सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि जिन व्यक्तियो मे सम्पर्क हो रहा है, उन्हे एक दूसरे के सम्पर्क के प्रति जागरूक होना चाहिए । सम्पर्क के लिए इन्द्रिय बोध आवश्यक है ।

(2) **सचार**—अन्त क्रिया का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व सचार है जिसका अर्थ है एक व्यक्ति या समूह के विचारो का अन्य व्यक्तियों से सप्रेषण या सचारण (Transmission) । सचार की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही सामाजिक सम्पर्क के लिए दो पक्षों की भौतिक निकटता आवश्यक नही रह गई है । सचार की प्रक्रिया विभिन्न प्रकार के प्रतीको, सकेतो या शब्दो द्वारा एक व्यक्ति अथवा समूह के विचारो को दूसरे व्यक्तियो तक पहुँचाती है और तब दोनो पक्षों मे पारस्परिक-उद्दीपन (Inter-stimulation) होता है । सचार तभी हो सकता है जब वह अर्थपूर्ण हो । अर्थपूर्ण सचार तब सम्भव है जब कि एक तो अन्त क्रिया करने वाले व्यक्ति एक दूसरे के प्रति जागरूक हो, और दूसरे, वे एक दूसरे द्वारा कही जाने वाली बात समझ रहे हो । इसीलिए किंग्सले डेविस ने सचार की प्रक्रिया को 'सामाजिक सम्पर्क का अर्थपूर्ण पक्ष" कहा है और यह निष्कर्ष दिया है कि "मानवीय अन्त क्रिया वास्तव मे सरचनात्मक अन्त क्रिया ही है (*Human interaction is communication interaction*) ।"

(3) **सवेदन शक्ति**—सामाजिक अन्त क्रिया का तीसरा आवश्यक तत्त्व सवेदना-शक्ति है । इसका अर्थ है इन्द्रियो के द्वारा शारीरिक एव मानसिक सम्बन्धो को अनुभव करने की क्षमता होना । यह सवेदन-शक्ति ही व्यक्ति को सामाजिक सम्पर्क की प्रेरणा प्रदान करती है । इसी के द्वारा सचार की प्रक्रिया प्रभावशाली बन पाती है । यदि इन्द्रियाँ अक्षम या बेकार होगी तो सचार का कोई अर्थ नही होगा और समस्त प्रतीक अर्थहीन रह जायगा । वास्तव मे, सवेदनशीलता (Sensibility) अन्त क्रिया का आधार है जो सम्पर्क के द्वारा क्रियाशील होती है और जो सचार के माध्यम से पूर्णता प्राप्त करती है ।

सामाजिक अन्त क्रिया के अध्ययन का महत्त्व

समाज की जडे सामाजिक अन्त क्रिया मे गडी होती है । अत समाजशास्त्र मे सामाजिक अन्तक्रियाओं का अध्ययन करना न केवल महत्त्वपूर्ण है वरन् अनिवार्य भी है । लूमले ने लिखा है कि "सम्पर्क तथा अन्त क्रियाएँ हमारे जीवन की नीव के पत्थर है । वास्तव मे सामाजिक से हमारा तात्पर्य इन्ही से है । ये समाज के लिए वैसी ही है जैसी कि इमारतो के लिए ईंटे और चूना ।" समाज का अस्तित्व तभी सम्भव है जब बहुत बडी सख्या मे लोगो मे अन्त क्रिया होती रहे। समाज का जन्म ही सामाजिक अन्त क्रिया से होता है क्योंकि अन्त क्रिया के बिना मनुष्यो मे सामान्य सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता । पार्क और बर्गेस ने इसीलिए कहा है कि "समाज की सीमाओं का

निश्चय सामाजिक अन्तःक्रियाओं से होता है।" व्यक्तियों में अप्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं जो सभी समाज द्वारा परिभाषित या स्वीकृत होते हैं। इन सम्बन्धों की सूची बनाकर उन्हें व्यक्तिगत रूप से नहीं समझा जा सकता और न ही उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। उन्हें समझने के लिए सामाजिक अन्तःक्रिया के रूपों को, जिन्हें सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है, समझना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि समाज की गतिशीलता का ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सामाजिक अन्तःक्रियाओं को समझना अनिवार्य है।

समाज ही नहीं बल्कि संस्कृति भी सामाजिक अन्तःक्रियाओं पर आधारित है। विल्सन और कोल्ब (Wilson and Kolb) के शब्दों में, "संस्कृति और समाज दोनों ही सामाजिक अन्तःक्रिया की उपज हैं।" सामाजिक अन्तःक्रियाओं से ही समाज का जीवन है, संस्कृति का विकास होता है और उसका अस्तित्व बना रहता है। सार रूप में हम कह सकते हैं कि सामाजिक अन्तःक्रिया से ही सामाजिक सम्बन्धों को समझा जा सकता है, समाज की सीमाओं का निश्चय होता है और इसलिए उनका महत्त्व अधिक है।

सहयोग : अर्थ, स्वरूप एवं महत्त्व
(Co-operation : Meaning, Forms and Importance)

सामाजिक अन्तःक्रिया की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया सहयोग है। यह वह प्रक्रिया है जो समाज को संगठित करती है, कायम बनाती है और व्यक्तियों को इस बात की प्रेरणा देती है कि वे परस्पर मिलकर कार्य करें। यदि हम वर्तमान जटिल समाज पर दृष्टि डालें तो यही पाएँगे कि लगभग प्रत्येक स्तर पर सहयोग की प्रक्रिया अपना कार्य कर रही है—चाहे प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। इसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित कर रखा है, चाहे वह धार्मिक क्षेत्र हो या आर्थिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक। समाज में आज तक की व्यवस्था का आधार ही सहयोग रहा है। यदि संघर्ष सहयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता तो समाज सम्भवतः कभी का नष्ट हो गया होता।

सहयोग का अर्थ एवं परिभाषा

सरल शब्दों में सहयोग सामाजिक अन्तःक्रिया का वह महत्त्वपूर्ण रूप है जिसमें दो अथवा अधिक व्यक्ति परस्पर मिलकर सामान्य लक्ष्यों को पाने के लिए कार्य करते हैं और वे इस भावना अथवा चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वे वास्तव में अलग-अलग न होकर एक हैं। जब सहयोग की यह भावना समाज के सदस्यों में व्याप्त हो जाती है तो सम्पूर्ण समाज प्रगति के पथ पर तेजी से बढ़ता है। किंग्सले डेविस के अनुसार, "एक सहयोगी समूह वह है जो एक साथ मिलकर ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहा है जिस लक्ष्य को सब चाहते हैं।"[1]

1. किंग्सले डेविस, वही, पृष्ठ 141

सामान्यत सहयोग को प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्द्धा (Competition) का विलोम समझा जाता है। लेकिन यह एक भ्रामक धारणा है। बहुत-सी परिस्थितियो मे हमे यह अनुभव होता है कि प्रतियोगिता सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक होगी और इसलिए प्रतियोगिता की व्यवस्था को अनुमति दी जाती है। उदाहरणार्थ, सोवियत रूस को अपनी समाजवादी व्यवस्था के प्रारम्भिक काल मे यह अनुभव हुआ कि यदि ऊँचा वेतन प्राप्त करने के लिए व्यक्तियो मे प्रतियोगिता अथवा प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाए तो इसका उत्पादन पर प्रेरणात्मक प्रभाव पड़ेगा। चूँकि रूस को अपने उत्पादन मे भारी वृद्धि करने की आवश्यकता थी, अत उसने सहयोग के साथ 'समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा' की व्यवस्था को भी विकसित किया।[1] अभिप्राय यह हुआ कि सहयोग संघर्ष का विलोम हो सकता है, लेकिन प्रतिस्पर्द्धा अथवा प्रतियोगिता (Competition) का नही।

समाजशास्त्रियो ने सहयोग को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। एलड्रिज तथा मैरिल (Eldrege and Merrill) के अनुसार, "सहयोग सामाजिक अन्त क्रिया का वह रूप है जिसमे दो या दो से अधिक व्यक्ति एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति मे एक साथ मिल कर कार्य करते हैं।" इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि एक से अधिक कितने ही मनुष्यो अथवा समूहो द्वारा सामान्य हित के लिए एक साथ रह कर कार्य करने की दशा 'सहयोग' है।

ग्रीन (A W Green) ने लिखा है कि, "सहयोग दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियो द्वारा कोई कार्य करने या सामान्य रूप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एव सामूहिक प्रयास है।"[2] इस परिभाषा से प्रकट होता है कि सर्वप्रथम सहयोग मे निरन्तरता का गुण है, दूसरे, इसमे 'सामूहिकता' का समावेश है अर्थात् बहुत से व्यक्ति मिल कर साथ साथ प्रयत्न करते हैं एव तीसरे, सहयोग करने वाले व्यक्तियो मे एक सामान्य लक्ष्य पाया जाता है जो कि उनके सहयोग का आधार है।

फिचर (Fitcher) के अनुसार, "सहयोग सामाजिक प्रक्रिया का वह रूप है जिसमे दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह किसी सामान्य उद्देश्य को पूरा करने हेतु एक साथ मिलकर क्रियाएँ करते है।" स्पष्ट है कि फिचर की परिभाषा भी उपरोक्त परिभाषाओ से मिलती-जुलती है।

इन सभी परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि सहयोग सामाजिक अन्त क्रिया का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्वरूप है जिसमे दो अथवा दो से अधिक व्यक्ति या समूह किसी सामान्य लक्ष्य को पाने के लिए साथ साथ कार्य करते हैं। उनमे यह चेतना बनी रहती है कि वे सब एक हैं। दूसरे शब्दो मे सहयोग के अन्तर्गत 'हम की भावना' पाई जाती है। सहयोग एक चेतन-प्रक्रिया है जिसमे सहयोग करने

1 किंग्सले डेविस वही पेज 141.
2 *A W Green* Sociology, Page 66

वाले व्यक्ति या समूह एक दूसरे के प्रति जागरूक रहते हैं। सहयोग एक पारस्परिक सम्बन्ध है, यह एक तरफा नहीं हो सकता।

सहयोग के स्वरूप

सहयोग के विभिन्न अवसरों पर विभिन्न सगठनों में विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। चूँकि सहयोग सदैव समान प्रकृति का नहीं होता, अतः उसका अनेक रूपी होना स्वाभाविक है। विभिन्न समूहों, संस्थाओं, समितियों आदि के सहयोग के रूप एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। कभी सहयोग स्थानीय होता है तो कभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। शान्तिकाल में सहयोग का जो रूप दिखाई देता है वह युद्धकालीन सहयोग से भिन्न हो सकता है। आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सहयोग एक दूसरे से बिलकुल भिन्न पाए जा सकते हैं।

सहयोग की पद्धति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से, इसको समाजशास्त्रियों ने विभिन्न वर्गों में विभाजित किया है। हम अग्रिम पंक्तियों में मेकाइवर तथा पेज, ऑगबर्न तथा निमकॉफ एव ग्रीन के वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे।

(क) मेकाइवर तथा पेज का वर्गीकरण—इन विद्वानों ने सहयोग के दो रूप बताए हैं[1]—

(1) प्रत्यक्ष सहयोग (Direct Co-operation)—इस प्रकार के सहयोग का अभिप्राय किसी समान कार्य को मिल-जुल कर सम्पन्न करना है। जब दो अथवा अनेक व्यक्ति या समूह आमने-सामने (Face to face) के सम्बन्धों द्वारा किसी समान कार्य को करते हैं तो उनमें प्रत्यक्ष सहयोग होता है। उदाहरण के लिए खेल के मैदान में एक टीम के खिलाड़ी आपस में एक दूसरे को जो सहयोग देते हैं वह प्रत्यक्ष सहयोग है। मिल-जुलकर फसल बोना या काटना भी प्रत्यक्ष सहयोग का उत्तम उदाहरण है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष सहयोग के लिए सम्बन्धित लोगों में समान उद्देश्य एव समान कार्य की स्थिति होना नितान्त आवश्यक है।

(2) अप्रत्यक्ष सहयोग (Indirect Co-operation)—इस प्रकार के सहयोग में अनेक व्यक्ति-व्यस्त होते हैं, और यद्यपि सबके कार्य अलग-अलग होते हैं, किन्तु सभी का लक्ष्य एक होता है। दूसरे शब्दों में अप्रत्यक्ष सहयोग तब होता है जब सहयोग करने वाले लोगों का उद्देश्य तो समान होता है पर इस उद्देश्य को वे असमान कार्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। श्रम-विभाजन अप्रत्यक्ष सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण है जिसमें अनेक व्यक्ति असमान कार्यों को करते हुए भी समान उद्देश्य की प्राप्ति में लगे होते हैं। उदाहरणार्थ, घड़ी बनाने की एक कम्पनी में सैकड़ों मजदूर काम करते हैं। कोई मजदूर एक पुर्जा बनाता है तो कोई दूसरा पुर्जा। इस प्रकार सभी मजदूर असमान कार्यों में लगे होते हैं, किन्तु फिर भी सबका उद्देश्य एक होता है और वह है घड़ी बनाना। वर्तमान जटिल समाज में द्वैतीयक सम्बन्धों की अधिकता है और विशेषीकरण की प्रधानता है। फलस्वरूप आज अप्रत्यक्ष सहयोग का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

1. मेकाइवर तथा पेज : समाज (Society), पेज 56-57.

(ख) ऑगबर्न एवं निमकॉफ का वर्गीकरण—इन लेखकों के अनुसार सहयोग के तीन रूप निम्नलिखित हैं—

(1) सामान्य सहयोग (General Co operation)—जब कुछ व्यक्ति परस्पर मिल कर सामान्य कार्य करते हैं तो ऐसा सहयोग 'सामान्य सहयोग' कहा जा सकता है। सांस्कृतिक उत्सवों आदि के समय पाया जाने वाला सहयोग ऐसा ही होता है। इस प्रकार के सहयोग में लोगों की मनोवृत्तियां सामान्य होती हैं।

(2) मित्रवत् सहयोग (Friendly Co-operation)—इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एवं क्षमता के अनुसार प्रयत्न करके दूसरों के कार्य में सहायता करता है। श्रमदान इसी प्रकार के सहयोग का उदाहरण है। मित्रवत् सहयोग में हम सामूहिक आनन्द अथवा सुख पाने के लिए एक-दूसरे को सहयोग देने को तत्पर होते हैं। स्त्री-पुरुषों द्वारा साथ-साथ नृत्य करना, साथ साथ गीत गाना, साथ घूमने जाना आदि मित्रवत् सहयोग के ही उदाहरण हैं। इस सहयोग के स्वरूप में यद्यपि सामूहिकता का तत्त्व होता है, लेकिन कुछ अंश तक व्यक्तिगत स्वार्थ का तत्त्व भी पाया जाता है।

(3) सहायता मूलक सहयोग (Helping Co-operation)—सहयोग के इस रूप में पारस्परिक सहायता का तत्त्व अवश्य पाया जाता है। जब कुछ लोग संकटकाल में दूसरों की सहायता के कार्य करते हैं तो यह सहायतामूलक सहयोग है। श्रमदान में लगे व्यक्तियों का सहयोग भी इस श्रेणी में आता है।

(ग) ग्रीन का वर्गीकरण—ग्रीन ने विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर सहयोग के निम्नलिखित तीन रूप बतलाए हैं—

(1) प्राथमिक सहयोग (Primary Co-operation)—इस प्रकार के सहयोग का सम्बन्ध प्राथमिक समूहों से है। इस सहयोग में व्यक्ति तथा समूह के बीच कोई स्वार्थ भिन्नता नहीं रहती। व्यक्ति अपने उद्देश्यों और स्वार्थों को समूह के उद्देश्यों और स्वार्थों से भिन्न नहीं समझता। वह समूह के कल्याण को अपना कल्याण समझता है। वास्तव में इस प्रकार के सहयोग की उत्पत्ति वैयक्तिक सन्तुष्टि की दृष्टि से होती है। परिवार, पड़ोस, मित्र-मण्डली आदि में पाए जाने वाला सहयोग प्राथमिक सहयोग ही होता है। माँ अपने बच्चे को हर कार्य में सहयोग देती है—यह प्राथमिक सहयोग ही है। बच्चे की सन्तुष्टि माता की अपनी सन्तुष्टि है।

(2) द्वैतीयक सहयोग (Secondary Co-operation)—इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए दूसरों के साथ सहयोग करता है। यह सहयोग दिखावटी और विशेषीकृत होता है जिसमें व्यक्ति को समूह के कल्याण की उतनी चिन्ता नहीं रहती जितनी अपने कल्याण की। वह दूसरों को उतना ही सहयोग देता है जितना उसके स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक हो। आधुनिक मिल या कारखानों में मालिकों और श्रमिकों के बीच जो सहयोग पाया जाता है, अथवा राजनीतिक क्षेत्रों में जो सहयोग देखने को मिलता है, वह द्वैतीयक सहयोग ही है।

(3) तृतीय सहयोग (Tertiary Co-operation)—इस प्रकार के सहयोग को हम 'समायोजन' (Accommodation) ही कहते है। जब समाज मे विभिन्न समूह आपस मे समायोजन करने के लिए सहयोग करते हैं तो इसे तृतीयक सहयोग कहा जाता है। यह सहयोग पूर्णतः अवसरवादी होता है। फलस्वरूप इसकी प्रकृति बड़ी ढीली और अस्थिर होती है। राजनीतिक संघर्ष के बाद जो सहयोग स्थापित होता है अथवा युद्धकाल मे विभिन्न पक्षो मे जो सहयोग किया जाता है, वह तृतीयक सहयोग ही होता है। इस प्रकार का सहयोग करने वालो मे प्राय यह भय छिपा रहता है कि बिना सहयोग किए उनका अस्तित्व भी सुरक्षित नही है।

(घ) हर्बर्ट्स का वर्गीकरण—इस लेखक ने सहयोग के दो रूप बताए हैं—

(1) ऐच्छिक सहयोग (Spontaneous Co-operation)—यह वह सहयोग है जिसमे दो अथवा अधिक व्यक्ति या प्राथमिक समूह स्वेच्छा से एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। ग्रामीण जीवन मे पाया जाने वाला सहयोग इसी प्रकार का होता है। इस प्रकार के सहयोग मे व्यक्ति आमने-सामने के सम्पर्क होता है।

(2) संगठित सहयोग (Organised Co-operation)—यह वह सहयोग है जिसमे विभिन्नता के बावजूद लोग साथ-साथ कार्य करते है। उदाहरणार्थ, विशालकाय कार्यों की योजना क्रियान्वित करने मे इसी प्रकार के सहयोग की आवश्यकता होती है। सगठित सहयोग आज के जटिल और द्वैतीयक समूहो मे पाया जाता है।

सहयोग का महत्त्व

वास्तव मे, सहयोग पर ही सम्पूर्ण मानव-समाज निर्भर है। यह सामाजिक जीवन के स्थायित्व, निरन्तरता और प्रगति का आधार है। समाज मे आज तक की व्यवस्था का आधार यही है। यदि संघर्ष सहयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता तो समाज सम्भवतः कभी का नष्ट हो गया होता। जहाँ संघर्ष की प्रकृति अस्थायी है, वहाँ सहयोग की प्रकृति स्थाई है। इसीलिए सहयोग सामाजिक सगठन का स्थायी तत्त्व है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति के क्षेत्र मे सहयोग सदा से महत्त्वपूर्ण रहा है। आदिम से आदिम समाज के सांस्कृतिक जीवन मे भी यह सबसे प्रमुख तत्त्व है। सहयोग की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ व्यवस्थित और सुदृढ़ बनती हैं। यह सहयोग ही है जो सामूहिक कल्याण के प्रति लोगो मे निष्ठा उत्पन्न करता है और इस प्रकार सामाजिक उन्नति को सम्भव बनाता है। सहयोग के माध्यम से ही मानवीय गुणो का प्रसार होता है। मित्र अपनी मित्रता और प्रेमी अपने प्रेम का निर्वाह सहयोग के बल पर ही करता है।

सहयोग सामूहिकता की आधारशिला है। यह सामान्य उद्देश्य के लिए लोगो को साथ-साथ काम करने की प्रेरणा देता है। फलस्वरूप सामूहिक भावना मे अभिवृद्धि होती है जिससे समाज को अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है।

सहयोग के फलस्वरूप सामाजिक एकता स्थापित होती है। यद्यपि पूर्ण एकता अव्यावहारिक है, क्योंकि कुछ न कुछ अंशों में समाज के सदस्यों में मतभेद अवश्य पाए जाते हैं लेकिन सहयोग इन मत भेदों को मानसिक रूप से गौण बना देता है जिससे फूट के बनिस्पत एकता की शक्तियों को अधिक प्रोत्साहन मिलता है। सहयोग के कारण ही सामाजिक व्यवस्था के सभी अंग परस्पर सम्बन्धित है।

सहयोग की प्रक्रिया में ही मनुष्य का सामाजीकरण होता है। समाज से लड़ कर और अलग रह कर वह अपनी बुद्धि का विकास नहीं कर सकता। सहयोग के अभाव में मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं।

संक्षेप में, अपनी प्रकृति से सहयोग सामाजिक जीवन का आधारभूत स्तम्भ है। इसके माध्यम से जीवन की बाधाओं को दूर हटाते हुए हम सफलता के मार्ग पर बढ़ते हैं। सहयोग इस संघर्षपूर्ण समाज में हमें कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करने में सक्षम बनाता है। बिना सहयोग के मानव-जीवन नीरस और दुष्कर हो जाएगा।

प्रतिस्पर्द्धा : अर्थ, विशेषताएँ, स्वरूप एवं महत्त्व

(Competition Meaning, Characteristics Forms and Importance)

सहयोग जहाँ संगठनात्मक सामाजिक प्रक्रिया (Associative Social Process) है, वहाँ प्रतिस्पर्द्धा को असहगामी अथवा विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रिया (Dissociative Social Process) माना जाता है। प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न तब होती है जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा का अर्थ और परिभाषा

प्रतिस्पर्द्धा वह प्रक्रिया है जो विरोधी व्यवहार के द्वारा लोगों को एक-दूसरे के उद्देश्यों को पराजित करके अपने निजी स्वार्थ पूरा करने के लिए प्रोत्साहन देती है। संघर्ष (Conflict) का ध्येय विरोधी को हटा देना अथवा उसका नाश कर देना है। इसके विपरीत प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है कि एक ही लक्ष्य या उद्देश्य को ध्यान रखने वाले प्रतिस्पर्द्धियों में से किसी को सफल और किसी को असफल बना देना है। डेविस के शब्दों में, "प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य किसी पारस्परिक इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने में अपने प्रतिस्पर्द्धियों को मार्ग से हटा देना मात्र है।"[1] इस प्रकार यह संघर्ष का संशोधित अथवा कोमल रूप है। संघर्ष में हिंसा की भावना होती है जबकि प्रतिस्पर्द्धा में हिंसा नहीं होती। प्रतिस्पर्द्धा के कुछ नियम होते हैं जो धोखेबाजी अथवा संघर्ष को महत्त्व नहीं देते। जब प्रतिस्पर्द्धा अपने नियमों को तोड़ देती है, तो यह संघर्ष में बदल जाती है। यदि दूकानदार अपने ग्राहकों को कम कीमत में अच्छा माल देकर दूसरे व्यक्ति के ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तो यह प्रतिस्पर्द्धा है। लेकिन यदि छोटे दूकानदार सरकार से प्रार्थना करें, बड़े दूकानदार पर उसकी शक्ति से अधिक कर लगा दिए जाएँ तो यह प्रतिस्पर्द्धा नहीं है, क्योंकि राज्य को बलपूर्वक शक्ति के प्रयोग का अधिकार होता है। यदि एक राजधानी का समाचार-पत्र

1 किंग्सले डेविस वही, पेज 137

प्रतिस्पर्द्धी समाचार-पत्र को समाप्त करने के लिए धोखे अथवा प्रवचना से काम लेता है तो यह किसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा नही है। यदि दूकानदार मार-पीट कर दूसरे दूकानदार को दूकान उठाने को मजबूर कर दें तो यह प्रतिस्पर्द्धा न होकर संघर्ष है।

प्रतिस्पर्द्धा को पारिभाषिक रूप मे भी समझ लेना उपयुक्त होगा। सदरलैण्ड (Sutherland) के अनुसार, 'प्रतिस्पर्द्धा कुछ व्यक्तियो या समूहो के बीच उन सन्तुष्टियो की प्राप्ति के लिए होने वाला अवैयक्तिक, अचेतन और निरन्तर संघर्ष है, जिनकी पूर्ति सीमित होने के कारण उन्हे सभी व्यक्ति प्राप्त नही कर सकते।'[1]

ए डब्ल्यू ग्रीन (A W Green) के शब्दो मे, "प्रतिस्पर्द्धा मे दो अथवा दो से अधिक समूह उन लक्ष्यो को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है जिनमे किसी भी समूह को दूसरे से समझौता करने की आशा नही की जाती।'[2] स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्द्धा मे प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूचे प्रयत्नो का आधार पूर्णत वैयक्तिक होता है।

बोगार्डस (Bogardus) की दृष्टि मे, "प्रतिस्पर्द्धा किसी भी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए होने वाली होड (Contest) है जिसकी मात्रा इतनी अधिक नही होती कि उसकी माँग को पर्याप्त रूप से पूरा किया जा सके।"[3] इसी से मिलती-जुलती परिभाषा फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने दी है—"प्रतिस्पर्द्धा सीमित वस्तुओ के उपयोग अथवा अधिकार के लिए होने वाला संघर्ष (Struggle) है।"

इन सभी परिभाषाओ से स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्द्धा का लक्ष्य उन वस्तुओं को प्राप्त करना होता है जो सीमित है। हवा और पानी को प्राप्त करने के लिए कोई प्रतिस्पर्द्धा प्राप्त नही होती क्योकि ये असीमित मात्रा मे प्राप्त हैं। हम कह सकते हैं कि जब दो अथवा अधिक व्यक्ति या समूह परस्पर द्वेष, ईर्ष्या और होड द्वारा अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो ऐसे प्रयत्नो की प्रक्रिया ही प्रतिस्पर्द्धा है। प्रतिस्पर्द्धा की प्रकृति काफी परिवर्तनशील है इनमे सफलता भी मिल सकती है और असफलता भी।

प्रतिस्पर्द्धा का स्वभाव

अर्थ एव परिभाषाओ से प्रकट है कि मनुष्य मे प्रतिस्पर्द्धा एक मौलिक, सार्वभौमिक और निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है जिसमे व्यक्ति या समूह परस्पर द्वेष, ईर्ष्या, होड-संघर्ष आदि से प्रभावित होकर सीमित लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए होड करते है। लक्ष्य अथवा वस्तुएँ सीमित होती है, उनकी माँग पूर्ति से अधिक है। स्पष्टत. सभी इनको प्राप्त नही कर सकते, पर चूँकि सभी इनको प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, अत अनिवार्य रूप से प्रतिस्पर्द्धा का जन्म हो जाता है। प्रतिस्पर्द्धा एक प्रकार का बहुत ही कोमल विरोध है जिसमे हिंसा और धोखेबाजी को स्थान नहीं मिल पाता। प्रतिस्पर्द्धा रखने वाले व्यक्ति समानान्तर रेखाओ के समान आगे बढते है और प्राय समान रूप से व्यवहार करते हैं। अन्तर केवल इतना होता है कि

1. *Sutherland*: Op cit, p. 207
2. *A W Green* Sociology p 65.
3. *E S Bogardus*, Sociology, p 527.

सफल व्यक्ति पहले या भली प्रकार से काम कर लेता है। चेष्टाएँ विरोधी भावनाओं के समान एक दूसरे के विरुद्ध नहीं होतीं। उद्देश्य यह नहीं होता कि प्रतिस्पर्द्धी को रोका जाए या अलग हटा दिया जाय या एकदम समाप्त कर दिया जाए। उद्देश्य यही होता है कि इच्छित वस्तु या लक्ष्य को अपने लिए प्राप्त किया जाए। पात्र का उद्देश्य होता है कि वह सफलता प्राप्त करे। यह कहना चाहिए कि प्रतिस्पर्द्धापूर्ण चेष्टा एक "दौड़" है "लड़ाई" नहीं। बर्नार्ड (Bernard) ने इसी बात की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि "प्रतिस्पर्द्धा एक प्रकार से व्यक्ति या समूह की परीक्षा है अर्थात् उस समय की परीक्षा जब वे अपनी-अपनी असमान योग्यताओं और अपने अपने व्यवहारों के साथ एक दूसरे से प्रतिक्रिया करते हैं—आवश्यक या इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए। यह इच्छित वस्तु भौतिक हो सकती है, स्थान से सम्बन्धित हो सकती है, अथवा जीवन साथी, सन्तति, संस्कृति, अवसर, रहन-सहन का स्तर, कार्य प्रतिष्ठा आदि भी हो सकती है।"

प्रतिस्पर्द्धा की विशेषताएँ

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रतिस्पर्द्धा की कुछ सामान्य विशेषताओं को हम निम्नानुसार इंगित कर सकते हैं—

1 **केवल स्वहितपूर्ति की होड़**—प्रतिस्पर्द्धा वह प्रक्रिया है जिसमें दो व्यक्ति, समूह या संगठन केवल अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और कोई भी पक्ष दूसरे पक्ष के हितों का तनिक भी ध्यान नहीं रखता।

2 **अचेतन प्रक्रिया**—प्रतिस्पर्द्धा अपने अधिकतर रूपों में बिना किसी प्रकार के सामाजिक सम्पर्क के कार्यान्वित होती है। प्रतिस्पर्द्धा करने वाले बहुधा परस्पर मिलते नहीं, एक दूसरे के बारे में अज्ञात रहते हैं और पारस्परिक सफलता की सीमा को भी नहीं जानते। यदि वे मिलते भी हैं तो अपना विपक्षी के समान परिचय नहीं देते। साथ ही उनका सामाजिक सम्पर्क भी बाह्य होता है। यदि प्रतिस्पर्द्धी पक्ष एक दूसरे की क्रियाओं को सूक्ष्म रूप से जानते हुए उनसे संघर्ष करें तो यह स्थिति प्रतिस्पर्द्धा की न होकर 'प्रतिद्वन्द्विता' (Rivalry) की होगी। आधुनिक व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा वस्तुतः प्रतिद्वन्द्विता का ही उदाहरण है।

3 **अवैयक्तिक प्रक्रिया**—चूँकि प्रतिस्पर्द्धा में मनुष्य एक दूसरे को नहीं जानते, अतः यह एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है। व्यक्तियों का ध्यान उद्देश्य की प्राप्ति है, वे एक दूसरे के संघर्ष में नहीं आते। किन्तु प्रतिस्पर्द्धा में भाग लेने वाले जब एक दूसरे में रुचि लेने लगते हैं तो प्रतिस्पर्द्धा संघर्ष या विरोध (Conflict) में परिवर्तित हो जाती है।

4 **निरन्तर प्रक्रिया**—प्रतिस्पर्द्धा एक निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है। किसी भी समाज के अधिकांश सदस्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी न किसी प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा करते रहते हैं। अपनी स्थिति को ऊपर उठाए रखने की इच्छा प्रतिस्पर्द्धा को निरन्तरता प्रदान करती है और यह कभी समाप्त नहीं होती। वास्तव में,

प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया के अभाव में जीवन में सफल होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

5 सार्वभौमिक प्रक्रिया—प्रतिस्पर्द्धा एक ऐसी सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो प्रत्येक समाज में पाई जाती है। जब तक मनुष्य उन वस्तुओं को चाहेगा जो कम है और जब तक मांग पूर्ति से अधिक है तब तक प्रतिस्पर्द्धा अवश्य विद्यमान रहेगी।

6 किसी तीसरे' का भी हाथ होना—प्रतिस्पर्द्धा म किसी तीसरे' का भी हाथ होता है—गिलिन और गिलिन ने 'प्रतिस्पर्द्धा' और 'सघर्ष' में अन्तर बताते हुए कहा है कि प्रतिस्पर्द्धा में तीसरा पक्ष सदैव विद्यमान रहता है, और प्रतिस्पर्द्धा में भाग लेने वाले व्यक्ति इस तीसरे पक्ष की कृपा के इच्छुक होते हैं। उदाहरणार्थ एक ही प्रेयसी के दो प्रेमी उसका ध्यान व्यक्तिगत रूप में जीतना चाहते हैं। इसी तरह सौदागर एव व्यापारी ग्राहकों का मुंह ताकते हैं।

प्रतिस्पर्द्धा के स्वरूप

प्रतिस्पर्द्धा के विभिन्न रूपों को समाजशास्त्रियों ने प्रकट किया है। गिलिन एव गिलिन तथा ग्रीन के वर्गीकरण अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं और अग्रिम पंक्तियों म हम इन्हीं को लेंगे।

(क) गिलिन एव गिलिन का वर्गीकरण—गिलिन एव गिलिन के अनुसार प्रतिस्पर्द्धा के चार रूप हैं, पर इन्हीं चार रूपों के आगे एक पाँचवां रूप और भी हमने जोड़ दिया है—

1 आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा—यह उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग के क्षेत्र में पाई जाती है। प्रत्येक उत्पादक गला काट प्रतिस्पर्द्धा (Cut Throat Competition) के द्वारा अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

2 सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा—प्रत्येक देश के इतिहास में आदिवासियों और बाहर से आने वालों की संस्कृतियों में प्रतिस्पर्द्धा अनिवार्यतः देखने को मिलती है। सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा का प्रारम्भ ही दोनों विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में होता है। उदाहरणार्थ अफ्रीका एव भारत में यूरोप से आकर बसने वाले लोगों की भिन्न संस्कृतियों के कारण कुछ समय तक सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा अपनी चरम सीमा पर रही। बाद में हमारे समाज म हिन्दू, ईसाई, बौद्ध इस्लाम आदि धर्मों के आदर्श भी एक दूसरे से भिन्न रहे अतः सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा की समस्या उत्पन्न हुई।

3 पद एव कार्य सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा—आधुनिक समाजों में प्रतिस्पर्द्धा का यह रूप बड़े तीव्र रूप म दिखाई देता है। ऊँची सामाजिक स्थिति पाने के लिए जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति, समूह और सगठन तीव्र प्रतिस्पर्द्धा में सलग्न हैं। उच्च पद व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड बन गया है, अतः लोग इसके लिए प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। वे इस रूप में अपनी भूमिका निभाने का प्रयत्न करते हैं कि उनका व्यक्तित्व प्रकाश में आए और वे सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ें। मनुष्य-समूह में सम्पूर्ण संस्कृति सकुल दूसरे समूह की संस्कृति से प्रतिस्पर्द्धा करता है।

4 प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा—यह वास्तव में एक प्रकार की सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा ही है। प्रजातीय लक्षणों मे जो विषमता दिखाई देती है जैसे कि चमडा, रग, कदम, आकृति, बाल आदि की विशेषताएँ—ये वास्तव मे सांस्कृतिक विषमता की ही द्योतक है। इन्ही के कारण गोरे-काले, जर्मनी या यहूदियो मे प्रतिस्पर्द्धा चलती है। दक्षिणी अफ्रीका मे काली और गोरी प्रजातियो मे बडी उग्र प्रतिस्पर्द्धा पाई जाती है। अमेरिका मे श्वेत अमेरिकनो और काले नीग्रो के बीच पाई जाने वाली प्रतिस्पर्द्धा प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा का ही उदाहरण है।

5 राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा—वर्तमान समय मे प्रतिस्पर्द्धा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप राजनीतिक भी है जो अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है। राष्ट्रो मे, विभिन्न राजनीतिक दलो मे, अलग-अलग गुटो और सगठनो मे भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे राजनीतिक सत्ता के लिए प्रतिस्पर्द्धा बराबर चलती रहती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विभिन्न राष्ट्रो मे कूटनीतिक प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्द्धा (Diplomatic Competition) चलती रहती है। वस्तुत आज के युग मे प्रतिस्पर्द्धा के सभी रूपो मे राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा सबसे अधिक उग्र और जटिल बन चुकी है।

(ख) ग्रीन का वर्गीकरण—ग्रीन ने प्रतिस्पर्द्धा के ये स्वरूप बताए हैं—(1) आर्थिक, (2) सामाजिक, (3) राजनीतिक, एव (4) पद-सम्बन्धी। ग्रीन का अभिमत है कि प्रतिस्पर्द्धा किसी भी रूप मे मौजूद हो, यह समाज के नैतिक नियमो से सदैव प्रभावित होती है। जब प्रतिस्पर्द्धा मे नैतिकता का तत्त्व नही रहता तो वह सघर्ष का रूप ले लेती है।

प्रतिस्पर्द्धा का महत्त्व

प्रतिस्पर्द्धा यद्यपि असहगामी अथवा विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रिया है, लेकिन इसका सगठनात्मक पहलू भी है। दूसरे शब्दों मे प्रतिस्पर्द्धा समाज मे विघटन अथवा असहयोग ही नही फैलाती अपितु सहयोग का भी प्रसार करती है। यह सहयोगी प्रक्रिया इस रूप मे है कि समाज मे सही व्यक्ति को सही स्थान दिलाने मे सहयोगी है। उदाहरणार्थ किसी परीक्षा मे बैठने वाले प्रत्याशियो मे जो प्रतिस्पर्द्धा होती है, उसे हम विघटनात्मक नही कह सकते।

प्रतिस्पर्द्धा से कार्य-क्षमता का विकास होता है। यदि सहयोग कामो को पूरा करवाता है तो प्रतिस्पर्द्धा आश्वासन देती है कि वे काम भली प्रकार किए जाएँगे। व्यक्ति द्वारा अर्जित पदो अथवा प्रस्थितियो (Achieved Statuses) के क्षेत्र मे तो प्रतिस्पर्द्धा का इतना अधिक महत्त्व है कि दोनो शब्दो को एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। अर्जित पदो की प्रकृति और मात्रा समाज मे भिन्न-भिन्न होती है, अत प्रतिस्पर्द्धा के रूपो और इसकी सीमा मे भी विभिन्न समाजो मे भिन्नता पाई जाती है। प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया से सम्पूर्ण समाज जीवन शक्ति प्राप्त करता है। एक व्यक्ति के रूप मे हम अन्य दूसरे व्यक्तियो की नौकरी, सम्मान, प्रतिष्ठा, साथियो ग्राहको आदि के क्षेत्र मे प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। एक समूह के सदस्य के रूप उद्योग, व्यापार, लोकप्रियता, साख एव साधनो के सग्रह आदि के क्षेत्र मे अन्य

से प्रतिस्पर्द्धा करते है। इसी तरह एक प्राणी के रूप मे अन्य प्राणियो से जीवन सघर्ष मे हमारी प्रतिस्पर्द्धा होती है तथा एक सामाजिक प्राणी के रूप मे विभिन्न आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि क्षेत्र मे एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा की जाती है। स्त्रियाँ पुरुषो से प्रतिस्पर्द्धा करती हैं व पुरुष स्त्रियो से प्रतिस्पर्द्धा करते है। युवक वृद्धो से तथा वृद्ध युवको से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं और धनाढ्य शिक्षको से, शिक्षित धनाढ्यों से प्रतिस्पर्द्धा मे लगे रहते है। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण समाज प्रतिस्पर्द्धा मे आच्छादित रहता है।

प्रतिस्पर्द्धा प्रगति और उत्पादन के विकास मे सहायक है। रूस मे उत्पादन बढाने के लिए समाजवादी प्रतिस्पर्द्धा (Socialist Competition) से आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए है। वस्तुत, आधुनिक युग में व्यक्ति और समाज की विस्मयजनक प्रगति मे प्रतिस्पर्द्धा का बडा हाथ है। व्यक्ति और समाजो के बीच प्रतिस्पर्द्धा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अपनी-अपनी स्थितियो की रक्षा या उन्नति ही अधिक होता है।

प्रतिस्पर्द्धा समाज के लिए प्रकार्यात्मक है। इससे स्थिरीकरण मे सहायता मिलती है। प्रतिस्पर्द्धा से पक्षपात एव भाई-भतीजेवाद पर रोक लगती है क्योकि प्रतिस्पर्द्धा योग्यता को आगे बढाती है। स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा मे नियमो का पालन होता है, अत सघर्ष नही होता। लोकसेवा आयोगो, आदि द्वारा ली जाने वाली प्रतियोगी परीक्षाएँ संस्थात्मक प्रतिस्पर्द्धा है जिसमे नियमों का पालन होता है और सघर्ष की गुंजाइश नही होती। इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा एक सगठनात्मक-सहयोगी प्रक्रिया है। दो व्यक्तियो या समूहो मे होने वाली प्रतिस्पर्द्धा भी अनुचित नही है क्योकि इससे उनकी कार्यक्षमता को प्रोत्साहन मिलता है।

यह ध्यान रहे कि अवांछित प्रतिस्पर्द्धा समाज को अवश्य विघटित करती है। प्राय देखा जाता है कि प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो जाने के बाद अपनी वांछित सीमाओ से बाहर निकल जाती है और प्रतिस्पर्द्धी व्यक्ति या समूह नैतिक मूल्यो को भूल जाते हैं। सामाजिक सगठन के लिए आवश्यक है कि समाज न तो प्रतिस्पर्द्धा हीन हो और न पूर्णत प्रतिस्पर्द्धा-युक्त, वरन् दोनो स्थितियो के बीच सन्तुलन रहे। अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा पर अकुश बनाए रखने के लिए सामाजिक शक्तियाँ निरन्तर सजग रहे।

सघर्ष : अर्थ, विशेषताएँ, स्वरूप और महत्त्व (Conflict : Meaning, Characteristics, Forms and Importance)

सघर्ष मानव सम्बन्धो मे एक हमेशा रहने वाली सामाजिक प्रक्रिया है। जब व्यक्तियो मे सहयोग नही होता अथवा जब वे एक दूसरे के प्रति तटस्थ भी नही रहते, तो सघर्ष की स्थिति प्रकट हो जाती है। सघर्ष समाज मे अस्वाभाविक नही है, क्योंकि जब सीमित लक्ष्य को अनेक लोग प्राप्त करना चाहे तो सघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है।

संघर्ष का अर्थ एवं परिभाषा

संघर्ष अन्ततः प्रतिस्पर्द्धा की ही उपज है। प्रतिस्पर्द्धा क्रमशः प्रतिद्वन्द्विता (Rivalry) बन जाती है और प्रतिद्वन्द्विता से संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रतिस्पर्द्धा जब वैयक्तिक, प्रतिद्वन्द्वी और हिंसात्मक हो जाती है तो इसी प्रतिस्पर्द्धा को हम संघर्ष की प्रक्रिया कहते हैं। दूसरे शब्दों में जब व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य समझौते की कोई सम्भावना नहीं रहती, प्रतिस्पर्द्धा अनियन्त्रित हो जाती है और हम व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष को हानि पहुँचा कर अपना हित साधन करने लगते हैं, सामाजिक नियन्त्रण के साधन प्रभावी नहीं रहते तो संघर्ष की प्रक्रिया अनिवार्य रूप से उत्पन्न हो जाती है। बोगार्डस ने लिखा है कि 'प्रतिस्पर्द्धा संघर्ष में विकसित हो जाती है।'

संघर्ष को समाजशास्त्रियों ने विभिन्न शब्दावलियों में परिभाषित किया है। गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, 'संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विरोधी के प्रति सीधी हिंसा या हिंसा की धमकी का प्रयोग करते हैं।'[1] अभिप्राय यह हुआ कि संघर्ष की प्रकृति में ही विरोधी के प्रति घृणा और हिंसा की भावना होती है। संघर्ष की प्रक्रिया में व्यक्ति का ध्यान साधनों पर उतना नहीं रहता जितना साध्य पर रहता है और साध्य को पाने के लिए व्यक्ति किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।

ए० ग्रीन ने लिखा है कि "संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जान-बूझ कर विरोध करने, उसे रोकने या उसे शक्ति से पूर्ण कराने से सम्बन्धित प्रयत्न है।'[2] ग्रीन ने अपनी परिभाषा में हिंसा एवं आक्रमण के साथ उत्पीड़न को भी संघर्ष का प्रमुख तत्त्व मान लिया है। किंग्सले डेविस ने प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तित रूप को ही संघर्ष का नाम दिया है। डेविस के अनुसार 'प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।'

संघर्ष की विशेषताएँ

उपर्युक्त अर्थ एवं परिभाषाओं के आधार पर संघर्ष की प्रकृति को स्पष्ट करने वाली कुछ सामान्य विशेषताएँ निम्नानुसार इंगित की जा सकती हैं—

1 चेतन प्रक्रिया—प्रतिस्पर्द्धा के प्रतिकूल संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है। संघर्ष में दोनों पक्ष एक दूसरे को जानते हैं और उनमें से प्रत्येक एक दूसरे को हरा कर या नष्ट करके अपने उद्देश्य को पूरा करना चाहता है। संघर्ष में तीव्र उद्वेग उत्पन्न हो जाता है।

2 वैयक्तिक प्रक्रिया—संघर्ष लक्ष्य के लिए नहीं बल्कि प्रतिद्वन्द्वी को पछाड़ने के लिए किया जाता है। संघर्ष में दोनों पक्षों का ध्येय मूल लक्ष्य से हटकर एक दूसरे पर अधिक आ जाता है। इसमें प्रतिद्वन्द्वी को हानि पहुँचाना, हराना या नष्ट करना

1 *Gillin and Gillin* Cultural Sociology, p 622
2 *A W Green* Op cit p 58

ही असली उद्देश्य होता है। अत संघर्ष वैयक्तिक प्रक्रिया है। हम किसी व्यक्ति-विशेष या समूह-विशेष से संघर्ष में होते हैं, सामान्य व्यक्तियों से नहीं।

3 अनिरन्तर प्रक्रिया—प्रतिस्पर्द्धा एक निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है जबकि संघर्ष एक अनिरन्तर, अस्थायी तथा थोड़े-थोड़े समय बाद होने वाली प्रक्रिया है। संघर्ष अविराम नहीं होता, बल्कि रुक रुक कर चलता है; क्योंकि उसके लिए शक्ति एकत्रित करनी पड़ती है। संघर्ष मे शारीरिक, मानसिक और कभी-कभी आर्थिक शक्ति बहुत व्यय होती है, अत इनको निरन्तर चलाए रखना सम्भव नहीं होता। संघर्ष जब उत्पन्न होता है तो कई तरीको से यह समाप्त हो सकता है। कभी इसका अन्त एक दल की हार के साथ होता है तो कभी कभी दोनों पक्षों में समझौता हो कर।

4 सार्वभौमिक प्रक्रिया—संघर्ष एक सार्वभौमिक और सर्वव्यापक सामाजिक प्रक्रिया है। यह किसी न किसी रूप मे तथा किसी न किसी मात्रा मे प्रत्येक समाज मे प्रत्येक समय तथा प्रत्येक परिस्थिति मे पाया जाता है। परिवार से लेकर सामाजिक जीवन के प्रत्यक क्षेत्र मे संघर्ष दिखाई देता है। आधुनिक जटिल समाजों में तो संघर्ष निरन्तर प्रगति पर है।

सारांश रूप मे हम कह सकते हैं कि संघर्ष दो व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच होने वाले वे प्रयास हैं जिनमे प्रत्येक पक्ष अहिंसा, विरोध, आक्रमण, उत्पीड़न या घृणा आदि के द्वारा दूसरे पक्ष के विचारों और लक्ष्यों को नष्ट करने का प्रयास करता है। संघर्ष शक्ति, शासन, सम्पत्ति आदि के लिए एक लड़ाई है जिसमे सभी पक्षों का लक्ष्य अपने विरोधियों पर तथा उद्देश्य पर रहता है। प्रतिस्पर्द्धा के नियमों का उल्लंघन करन या विरोध की अवस्था मे ही संघर्ष उत्पन्न होता है। जब तक सामाजिक प्रथाएँ, रूढ़ियाँ आदि शक्तिशाली होती हैं और इनका व्यक्तियों की इच्छाओं तथा स्वार्थों पर नियन्त्रण रहता है तब तक वे संघर्ष की अवस्था को रोकती हैं। परन्तु इच्छाओं और उद्देश्यों म परिवर्तन शीघ्र होता है जबकि प्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ उसी गति से नहीं बदलती, अत संघर्ष की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। जब तक इच्छाओं और स्वार्थों के नए रूप आते रहेंगे तब तक संघर्ष भी उपस्थित रहेगा।

संघर्ष के रूप

मानव-सम्पर्क के क्षेत्र में संघर्ष के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। समाज-शास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से संघर्ष के स्वरूपों को व्यक्त किया है। हम यहाँ कुछ प्रमुख वर्गीकरणों का उल्लेख करेंगे—

(क) किंग्सले डेविस का वर्गीकरण—डेविस ने संघर्ष के दो रूप बताए हैं—

1. आंशिक संघर्ष—इस संघर्ष के उदाहरण में हम एक ऐसी स्थिति को ले सकते हैं जिसमे लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों के बारे मे विवाद प्रारम्भ हो गया हो।

2. पूर्ण संघर्ष—इसका अभिप्राय ऐसी स्थिति से है जिसमे किसी भी प्रकार का समझौता होना ही नहीं है, केवल समस्त शारीरिक, शक्ति द्वारा ही अपने उद्देश्यों को पूर्ण करना एकमात्र मार्ग रह गया हो।

वास्तव में आंशिक और पूर्ण संघर्ष में केवल मात्रा का भेद है, अतः दोनों में कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खींचना बड़ा कठिन है।

(ख) अन्य वर्गीकरण—कुछ समाजशास्त्रियों ने संघर्ष के निम्नलिखित दो स्वरूप बतलाए हैं—

1 प्रत्यक्ष संघर्ष—यह वह संघर्ष है जब व्यक्ति या समूह एक दूसरे को हानि पहुँचा कर, बाधा डाल कर, डरा-धमका कर, या नष्ट करके किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्यक्ष संघर्ष हमें बाह्य रूप में दिखाई पड़ता है। युद्ध, दंगे-फसाद, लड़ाई झगड़े, मार पीट, हत्या आदि प्रत्यक्ष संघर्ष के उदाहरण हैं। जातीय संघर्ष तथा औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों में होने वाले संघर्ष, विवाह-विच्छेद आदि भी प्रत्यक्ष संघर्ष के प्रतीक हैं।

2 अप्रत्यक्ष संघर्ष—यह संघर्ष वह है जिसमें व्यक्ति या समूह प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे की हानि न करके या प्रत्यक्ष रूप से एक दूसरे को नष्ट न करके अपने उद्देश्यों की प्राप्ति इस तरह करने का प्रयत्न करते हैं कि दूसरे व्यक्तियों को उन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त करने में बाधा पड़े। दूसरे शब्दों में अप्रत्यक्ष संघर्ष का अर्थ अप्रत्यक्ष रूप से किन्हीं विशेष व्यक्तियों के हितों में बाधा पहुँचा कर अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। उदाहरणार्थ, अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा अप्रत्यक्ष संघर्ष ही है। संघर्ष के इस रूप में शत्रुता, घृणा, हिंसा आदि की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं। आधुनिक राजनीति में शीत-युद्ध (Cold-war) अप्रत्यक्ष संघर्ष ही है।

(ग) गिलिन एवं गिलिन द्वारा वर्णित रूप—संघर्ष के और भी अनेक रूप हो सकते हैं। गिलिन एवं गिलिन ने संघर्ष के अनेक दूसरे रूपों की चर्चा की है—

1 व्यक्तिगत संघर्ष—इसमें परस्पर विरोधी आदर्शों वाले व्यक्तियों में संघर्ष होता है। संघर्षशील लोगों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है और वे स्वयं के हितों के लिए दूसरे को शारीरिक हानि पहुँचाने अथवा नष्ट तक कर देने को तैयार हो जाते हैं।

2 प्रजातीय संघर्ष—कभी-कभी कुछ प्रजातियाँ (Races) दूसरों पर शासन करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझने लगती हैं, अतः उनका औरों से संघर्ष होता है। नीग्रो और श्वेत प्रजाति, श्वेत और जापानी प्रजाति तथा अफ्रीका में श्वेत और सवर्ण प्रजातियों के बीच हिंसात्मक घटनाएँ आए दिन प्रकाश में आती हैं।

3 वर्ग संघर्ष—आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष विश्व के सभी समाजों में फैल गया है। विभिन्न समूह सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परस्पर अत्यधिक भिन्न होते हैं। उनके जीवन प्रतिमान एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। अतः इन समूहों ने विभिन्न वर्गों का रूप ले लिया है, प्रत्येक वर्ग सामाजिक एवम् आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सबसे महत्त्वपूर्ण बताता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों और संघर्ष को उत्पन्न करती है। मार्क्स के अनुसार "आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।" हमें मजदूरों और मिल-मालिकों

का संघर्ष दिखाई देता है। इसी प्रकार निम्न और उच्च वर्ग के बीच भी सदैव संघर्ष चलता रहता है। प्राय एक ही वर्ग मे अधिक संख्या होकर सदस्य जब आपस मे मनभेद नहीं रखते तो भी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसे हम वर्ग का आन्तरिक संघर्ष कहते हैं। तीव्र सामाजिक परिवर्तनों से व्यक्तियों के विचारो और सामाजिक अन्त क्रियाओं मे भी तेजी से परिवर्तन होते हैं और फलस्वरूप वर्ग संघर्ष विभिन्न रूपो मे हमारे सामने आता है।

4 राजनीतिक संघर्ष—आज के युग मे राजनीतिक संघर्ष सर्वत्र देखने को मिलता है। इसके भी दो रूप हैं—एक राष्ट्रीय और दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय। राष्ट्रीय संघर्ष मे राष्ट्र के भीतर विभिन्न राजनीतिक दल परस्पर संघर्षरत रहते हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुत से राष्ट्र एक-दूसरे के विरोध मे होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष राजनीतिक भी हो सकते हैं, सांस्कृतिक भी और धार्मिक भी। जिन राष्ट्रो मे विचारो की स्वतन्त्रता संविधान द्वारा स्वीकृत है, वहाँ प्राय संघर्ष के अवसर अधिक होते हैं।

5 जातीय संघर्ष—संघर्ष का यह रूप हमारे देश में स्पष्ट है जहाँ ऊँच नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियो मे वैरभाव रहता है और जातिगत संघर्ष चलता है। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच पाई जाने वाली ऊँच-नीच की भावना को मिटाया गया है, लेकिन व्यावहारिक रूप से जातीय संकीर्णता विभिन्न सामाजिक संघर्षो का कारण बनी हुई है।

संघर्ष के और भी अनेक रूप हो सकते हैं जैसे सामुदायिक संघर्ष जिसमे हम समुदाय के भीतर के संघर्षो और अन्तर-सामुदायिक संघर्षों को ले सकते हैं। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूह संघर्ष भी देखने म आते हैं। धार्मिक संघर्ष भी किसी से छिपे नही है। वास्तव मे, संघर्ष मानव समाज मे सदैव से होते आए हैं, लेकिन आधुनिक युग म ये विविध रूपो म अधिक व्यापक रूप से देखने को मिलते हैं।

संघर्ष को कम करने के साधन

किंग्सले डेविस के शब्दो मे, "नि सन्देह ऐसे भी सामाजिक साधन हैं जो संघर्षों को कम करने का प्रयत्न करते हैं।" डेविस ने इस प्रकार के पाँच साधन गिनाए हैं-

1 पहला साधन रसिकता है जो हमारे मन के उन तनावो को दूर करती है जो शारीरिक हिंसा के रूप मे बढ़ सकते हैं।

2. दूसरा साधन "सामाजिक दूरी" अथवा "परिहार" है।

3 तीसरा साधन मनाजालों का निर्माण है जो विभिन्न स्वार्थों के संघर्ष को यह दिखा कर समाप्त करना चाहता है कि विपक्षी दलो के प्रथम लक्ष्यो की अपेक्षा एकता उच्चतर लक्ष्य है।

4 चौथा साधन है—परिवर्तन एव भिन्नता, क्योंकि वर्तमान परिस्थिति भी तब अधिक सहनीय होने लगती है जब यह मालूम हो जाता है कि वह अधिक समय तक नही रहेगी।

5. पांचवां साधन संगठित प्रतिद्वन्द्विता है। यह आन्तरिक-सामूहिक श्रद्धा को अथवा दूसरे को समाप्त करने के पराक्रम को अनुकरणात्मक लड़ाई का अवसर प्रदान करती है।

डेविस ने लिखा है कि ऐसे साधन सदैव सफल नहीं होते। विनोद, सामाजिक दूरी, नेक मनोभाव, सामाजिक परिवर्तन और संगठित प्रतिद्वन्द्विता कभी-कभी संघर्षों को रोकने के स्थान पर उन्हें प्रोत्साहित करती हैं। सच तो यह है कि प्रत्येक परिस्थिति में संघर्ष के कुछ तत्त्व विद्यमान अवश्य रहते हैं। संघर्ष मानव समाज का एक अंग है, क्योंकि मानव समाज इसी प्रकार की एक वस्तु है।

संघर्ष का महत्त्व

संघर्ष यद्यपि असहयोगी अथवा विघटनात्मक प्रक्रिया है, तथापि यह मानव समाज का एक आवश्यक अंग है। सामाजिक और व्यक्तित्व के संगठन के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष समूह और व्यक्ति दोनों में आत्म-चेतना तथा आत्मविश्वास की वृद्धि करता है। यह विभिन्न सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक आदि समस्याओं का सामना करने के लिए हमारी कार्यक्षमता और शक्ति को बढ़ाता है। संघर्ष कठिनाई के रूप में उपस्थित होता है और अन्त में प्रायः सहयोग, अनुकूलन तथा समायोजन में परिवर्तित हो जाता है।

हमारी मानसिक विशेषताएँ व्यक्तिगत होती हैं और हमारे लक्ष्य भी बहुत कुछ व्यक्तिगत होते हैं। अतः अपने अपने लक्ष्यों को पूरा करने की होड़ में संघर्ष का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन संघर्ष सदैव ही सामाजिक हित के विरुद्ध नहीं होता। संघर्ष के कारण व्यक्ति या समूह अपनी शक्ति का अनुभव करते हैं। संघर्ष की अनुपस्थिति में मानव जीवन का मूल्य एक निर्जीव पदार्थ से अधिक नहीं कहा जा सकता। संघर्ष मानवीय क्रियाओं को गतिशीलता और जागरूकता प्रदान करता है। कभी तो यह पृथक्करण की प्रक्रिया न रहकर एकीकरण तक को प्रोत्साहित करता है। क्या भारतीय जनता शान्ति के क्षणों की अपेक्षा संघर्ष के क्षणों में, विशेषकर अन्य राष्ट्रों के साथ होने वाले संघर्ष के अवसरों पर, अधिक संगठित नहीं रही है ?

संघर्ष के बिना मनुष्य जीवन में उन्नति नहीं कर सकता। यदि संघर्ष नहीं है तो हम बहुत-सी बातों से अनभिज्ञ ही रह जाएँगे और कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ हमें दबोच लेंगी। विभिन्न बाधाएँ हमें बाध्य करती हैं कि हम अपनों के साथ संगठित होकर रहें। यह अनुभूति सामूहिकता में अभिवृद्धि करती है। अनेक अवसरों पर देखा गया है कि जो कार्य सहयोग से सम्भव नहीं हो सकता है, संघर्ष ने उसे अल्प-समय में ही सम्भव बना दिया है।

संघर्ष सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यदि समाज में अधिकारी वर्ग और प्रभुता सम्पन्न लोगों के सामने संघर्ष की स्थिति की कोई आशंका न हो तो वे पूर्णतः निरंकुश बन जाएँगे। कार्ल मार्क्स और उनके अनुयायियों ने संघर्ष की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण मानव इतिहास को ही वर्ग संघर्ष का इतिहास कह दिया है।

आज के युग मे सघर्ष के विविध रूप सर्व विदित है और इन पर नियन्त्रण रखना भी व्यक्ति तथा समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है। सघर्ष औचित्य की सीमा को इतना न लाँघ जाए कि हमारा अस्तित्व ही खतरे मे पड जाए, इसलिए सघर्ष की स्थिति पर आवश्यक नियन्त्रण अपेक्षित है। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्यक्ष सघर्ष की स्थिति को कम से कम किया जाए। सघर्ष पर नियन्त्रण के लिए सह-अस्तित्व की धारणा को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा में अन्तर
(Distinction between Conflict and Competition)

सघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा की दोनो प्रक्रियाओ के विभिन्न पहलुओ को हम समझ चुके है। उपयुक्त होगा कि इनके बीच आधारभूत भिन्नताओ को स्पष्ट रूप से जान लिया जाए—

(1) सघर्ष चेतन प्रक्रिया है, प्रतिस्पर्द्धा एक अचेतन प्रक्रिया है। दूसरे शब्दो मे सघर्ष मे प्रतिद्वन्द्वी को एक-दूसरे का पूर्ण ज्ञान होता है जबकि प्रतिस्पर्द्धा बिना किसी प्रकार के सामाजिक सम्पर्क के अपने अधिकतर रूपो मे कार्यान्वित होती है।

(2) सघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है, जबकि प्रतिस्पर्द्धा एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है। सघर्ष मे व्यक्ति एक दूसरे को जानते हैं और उनका ध्यान उद्देश्य से हटकर एक दूसरे पर आ जाता है। प्रतिस्पर्द्धा मे लोग प्राय एक दूसरे को नही जानते और उनका ध्यान उद्देश्य की प्राप्ति पर होता है। वे एक दूसरे के सघर्ष मे नही आते।

(3) सघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। सघर्ष कुछ काल तक चलता है और फिर समाप्त हो जाता है। ज्योही विरोधी शक्तियाँ क्षीण होती है, सघर्ष भी ढीला पडने लगता है और मिट जाता है। प्रतिस्पर्द्धा एक निरन्तर प्रक्रिया है। मनुष्य मे अपनी स्थिति को ऊपर उठाने की इच्छा प्रतिस्पर्द्धा को निरन्तरता प्रदान करती है और यह कभी समाप्त नही होती।

(4) सघर्ष से प्रतिस्पर्द्धा की भाँति किसी तीसरे पक्ष की कृपा प्राप्त करने की इच्छा प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा नही रखी जाती। विरोध पक्ष बिना किसी मध्यस्थता के प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे को नष्ट करने तथा अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इनके विपरीत प्रतिस्पर्द्धा मे किसी तीसरे का हाथ भी होता है। इसमे सदैव एक तीसरा पक्ष रहता है और सभी प्रतिस्पर्द्धी व्यक्ति इस तीसरे की कृपा के इच्छुक रहते है।

(5) सघर्ष मे हिंसा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जबकि प्रतिस्पर्द्धा मे हिंसा, धोखे बाजी आदि को कोई स्थान नही मिलता।

(6) सघर्ष दोनो विरोधियो को हानि पहुँचा सकता है। प्रतिस्पर्द्धा मे दोनो विरोधियो को लाभ हो सकता है।

(7) सघर्ष अत्यधिक मात्रा मे पृथक् करने वाला है। प्रतिस्पर्द्धा अति न्यून मात्रा मे पृथक् करने वाली है।

(8) संघर्ष में सामाजिक नियमों का पालन नहीं किया जाता, जबकि प्रतिस्पर्द्धा में किया जाता है। ग्रीन के अनुसार, "प्रतिस्पर्द्धा सदैव नैतिक नियमों से बँधी रहती है, जबकि संघर्ष में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती।"

(9) संघर्ष से उत्पादन नहीं बढ़ता बल्कि उसमें मानसिक, शारीरिक एवम् आर्थिक साधनों का दुरूपयोग होता है। प्रतिस्पर्द्धा में उत्पादन में वृद्धि होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक और अच्छा कार्य करके एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है।

इन अन्तरों के बावजूद प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष दोनों ही सार्वभौमिक प्रक्रियाएँ हैं और मानव समाज के आवश्यक अंग हैं।

सामाजिक क्रिया : परिभाषा और तत्त्व
(Social Action : Definition and Elements)

समाज के सभी सदस्य सामाजिक प्राणी होते हैं और सामाजिक प्राणी के रूप में उनकी विभिन्न आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें कुछ प्रयत्न करने पड़ते हैं। ये प्रयत्न 'क्रिया' रूप में ही देखने को मिलते हैं। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में व्यक्ति 'स्वयं पूर्ण' नहीं होता अर्थात् न तो वह वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों से परे शून्य में क्रिया कर सकता है और न ही क्रिया के दौरान अन्य सामाजिक प्राणियों के प्रभाव से सर्वथा अछूता रह सकता है। दूसरे शब्दों में उसे किसी न किसी रूप में सामाजिक परिस्थितियों और सामाजिक प्राणियों द्वारा प्रभावित होते हुए कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार के कार्य अथवा क्रिया को ही समाजशास्त्रीय भाषा में 'सामाजिक क्रिया' सम्बोधित किया जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया के तीन आवश्यक तत्त्व हैं—प्रथम, कोई न कोई मानवीय आवश्यकता जो व्यक्ति को कार्य के लिए प्रेरित करती है, द्वितीय, वास्तविक सामाजिक परिस्थिति जिसमें कि क्रिया की जाती है, एवं तृतीय, अन्य सामाजिक प्राणियों का व्यक्ति की क्रिया पर पड़ने वाला प्रभाव। इन तीनों तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि *'किसी न किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से अन्य सामाजिक प्राणियों द्वारा प्रभावित होते हुए वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में जो क्रियाएँ की जाती हैं, उन्हें सामाजिक क्रिया कहा जाता है।'*

किग्सले डेविस ने लिखा है कि 'किसी एक क्रिया का विश्लेषण व्यक्ति-प्रधान या स्वेच्छाचारी दृष्टिकोण से निम्नांकित चार अपरिहार्य एवं अविभाजनीय तत्त्वों की पदावली में किया जा सकता है—(1) एक कर्त्ता, (2) एक लक्ष्य, अर्थात् भविष्य की वह स्थिति जिसकी ओर कर्त्ता अपनी क्रियाओं को केन्द्रित करता है, (3) परिस्थितियाँ, स्थिति के वे पहलू जिस पर कर्त्ता का कोई नियन्त्रण नहीं होता, (4) विभिन्न साधन, परिस्थिति के वे पहलू जिस पर कर्त्ता का नियन्त्रण होता है (कर्त्ता की विद्यमानता स्वयं एक अपरिहार्य तत्त्व है, इसे हम यों ही स्वीकार कर सकते हैं और इस प्रकार अपरिहार्य तत्त्वों की संख्या केवल तीन रह जाएगी, किन्तु

अधिक स्पष्टता के लिए कर्ता को एक तत्त्व मान लेना आवश्यक ज्ञात होता है।) पुनश्च ये चारों तत्त्व इस दृष्टिकोण से अपरिहार्य हैं कि इनमें से किसी का भी प्रादुर्भाव दूसरे से नहीं होता। लक्ष्य साधनों से नहीं प्राप्त किए जा सकते हैं और न साधन स्थितियों से ही प्राप्त किए जा सकते हैं। वे विश्लेषणात्मक दृष्टि से भिन्न हैं तथा कोई व्यक्ति इन चारों प्रयत्नों का प्रयोग किए बिना क्रिया की बुद्धिसंगत व्याख्या नहीं कर सकता।'

मैक्स वेबर के अनुसार 'किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जब कर्त्ता (क्रिया को करने वाला व्यक्ति, Actor) या कर्ताओं द्वारा लगाए गए आतंरिक अर्थ (Subjective Meaning) के अनुसार उस क्रिया में अन्य व्यक्तियों के मनोभावों और क्रियाओं का समावेश हो तथा उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो। परिभाषा से स्पष्ट है कि मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया की तीन सम्भावित विशेषताओं की ओर संकेत किया है—(1) सामाजिक क्रिया को करने वाला अर्थात् कर्त्ता कोई एक व्यक्ति या एकाधिक व्यक्ति होना चाहिए, (2) क्रिया अर्थपूर्ण होनी चाहिए अर्थात् उद्देश्यविहीन नहीं होनी चाहिए, एवं (3) सामाजिक क्रिया में अन्य व्यक्तियों के मनोभावों और क्रियाओं का समावेश होता है तथा उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित होती है, अर्थात् सामाजिक क्रिया अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रभावित एवं निर्देशित होती है।

टालकट पारसन्स ने सामाजिक क्रिया को एक नए रूप में परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'क्रिया, कर्त्ता परिस्थिति-व्यवस्था (Actor Situation-System) में वह प्रक्रिया है जिसका कि अकेले कर्त्ता के लिए अथवा सामूहिक रूप में उस समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्त्व (Motivational Significance) होता है।' टालकट पारसन्स की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि (1) सामाजिक क्रिया को करने वाला एक कर्त्ता होता है, (2) कर्त्ता एक परिस्थिति के अन्तर्गत रहते हुए ही क्रिया करता है एवं (3) उस क्रिया करने की इच्छा कर्त्ता में इसलिए जाग्रत होती है कि उसके लिए उस क्रिया का कोई न कोई प्रेरणात्मक महत्त्व होता है।

इन सभी परिभाषाओं से प्रकट है कि सामाजिक क्रिया, सामाजिक प्राणी अथवा प्राणियों द्वारा वैयक्तिक या सामूहिक आधार पर की जाती है। साथ ही यह क्रिया उद्देश्यपूर्ण होती है अर्थात् इससे किसी न किसी मानवीय उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्ति होती है, एवं सामाजिक क्रिया शून्य में सम्पन्न नहीं होती अर्थात् वह वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों में की जाती है—उस पर सामाजिक परिस्थिति और अन्य सामाजिक प्राणियों का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार, समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक क्रिया व्यक्ति द्वारा की गई साधारण क्रिया से भिन्न है। उदाहरणार्थ, व्यक्ति यदि कमरे में अकेला बैठकर खूब हँस रहा या रो रहा है तो यह उसकी व्यक्तिगत क्रिया है न कि सामाजिक क्रिया, पर यदि व्यक्ति कमरे में अपने मित्रों के मध्य बैठकर मनोरंजन के उद्देश्य से या शोक प्रकट करने के उद्देश्य से हँस रहा या रो रहा है तो उसका यह कार्य सामाजिक क्रिया है।

सामाजिक क्रिया के तत्वों पर किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक 'मानव समाज' में विस्तार से प्रकाश डाला है और उसके सारांश को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि 'मानव-व्यवहार का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व वैषयिक संसार है। इस जगत् का केन्द्र-बिन्दु 'अहम्' अथवा आत्म है तथा कार्य की दिशा का निर्धारण उस लक्ष्य द्वारा पूरा होता है जो किसी परिस्थिति में अहम् द्वारा लाया जाता है। परिस्थिति के वे पहलू जिन पर कर्ता अपना नियन्त्रण रख सकता है, उसके साधन होते हैं तथा वे पहलू जो उसके नियन्त्रण के बाहर होते हैं, उसकी स्थितियाँ (या शर्तें) होती हैं, किन्तु परिस्थितियों पर वह अपना नियन्त्रण रख सकता है, किन परिस्थितियों में नहीं, यह प्रश्न उसी के द्वारा निर्धारित होने वाला विषय है। इसलिए, क्रिया के विभिन्न तत्त्व एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं और यदि हम किसी व्यवहार का विश्लेषण पूर्णतया आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से करना चाहते हैं, तो इनमें से किसी तत्त्व की भी अवहेलना नहीं की जा सकती है।'

सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित दुर्खीम, परेटो और मैक्स वेबर के सिद्धान्त
(Social Action Theory of Durkheim, Pareto and Max Weber)

सामाजिक क्रिया की वास्तविक प्रकृति को विभिन्न विद्वानों ने अपने अपने ढंग से समझाया है। समाजशास्त्र के जनक आगस्ट काम्ट ने इस बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था कि सामाजिक क्रिया ही सामाजिक घटनाओं का मूल स्रोत है और इन क्रियाओं द्वारा समाज का अस्तित्व सम्भव होता है। जिस तरह शरीर के विभिन्न अंगों की क्रियाशीलता से शरीर का अस्तित्व सम्भव होता है, जिस तरह शरीर के एक अंग का कार्य अन्य अंगों के कार्य से प्रभावित होता है उसी तरह समाज में एक व्यक्ति अथवा समूह की क्रिया अन्य व्यक्तियों या समूहों की क्रियाओं द्वारा प्रभावित होती है। काम्टे के पश्चात् दुर्खीम, परेटो मैक्स वेबर तथा अन्य विद्वानों ने सामाजिक क्रिया के सम्बन्ध में अपने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं।

दुर्खीम का सामाजिक-क्रिया सिद्धान्त
(Social Action Theory of Durkheim)

दुर्खीम की विचारधारा में 'समाज' का स्थान सर्वोपरि है और समाज या सामाजिक कारक ही सामाजिक क्रिया को जन्म देते हैं। सामाजिक क्रिया पहले भी घटित होती थी और अब भी घटित होती है अन्तर यही है कि क्रियाओं को प्रेरित करने वाले सामाजिक कारकों या सामाजिक तथ्यों में समय समय पर परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन समाज में धर्म, प्रथा, परम्परा आदि सामाजिक कारक या सामाजिक तथ्य (Social Facts) सामाजिक क्रियाओं को अधिक प्रभावित करते थे—इतना अधिक कि व्यक्ति इन कारकों या तथ्यों द्वारा निर्देशित क्रियाओं व

यन्त्रवत क्रिया करते थे। इसीलिए प्राचीन समाज मे 'यन्त्रवत सामाजिक व्यवस्था' (Mechanical Social System) देखने को मिलती थी। आधुनिक समाज मे सामाजिक क्रिया को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारको या तथ्यो मे परिवर्तन हो गया है। आज जनसख्या वृद्धि, श्रम-विभाजन, विशेषीकरण आदि तथ्य सामाजिक क्रिया को अधिक प्रभावित करते हैं। जनसख्या वृद्धि के फलस्वरूप आवश्यकताएँ बढ गई है जिनकी पूर्ति के लिए बडे पैमाने पर काम की आवश्यकता हो गई है। फलस्वरूप श्रम-विभाजन और विशेषीकरण को बल मिला है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति या समूह अपनी विभिन्न आवश्यकताओ मे केवल कुछ आवश्यकताओ की ही स्वय पूर्ति कर पाता है, शेष आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वह समाज के अन्य सदस्यो अथवा समूहो पर निर्भर है। इस निर्भरता के कारण एक व्यक्ति की क्रिया समाज के अन्य प्राणियो की क्रियाओ द्वारा अत्यधिक प्रभावित होने लगी हैं और उनसे सम्बन्धित भी हो गई है। यह स्थिति लगभग वैसी ही है जैसे कि Organism अथवा शरीर के विभिन्न अग एक दूसरे से सम्बन्धित है और एक दूसरे के कार्यों के द्वारा प्रभावित होते हुए क्रिया करते रहते हैं। दूसरे शब्दो मे क्रिया-विषयक सामाजिक प्राणी की यह विशेषता सावयवी विशेषता से मिलती-जुलती है। दुर्खीम के शब्दो मे 'आधुनिक समाज मे सदस्य सामाजिक क्रिया के सम्बन्ध मे एक दूसरे से सावयवी रूप मे (Organically) सम्बन्धित है, अत आधुनिक समाज मे सावयवी सामाजिक व्यवस्था (Organic Social System) देखने को मिलता है।"

सामाजिक कारक या सामाजिक तथ्य (Social Facts) सामाजिक क्रिया को कितना अधिक प्रभावित करते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए दुर्खीम ने आत्महत्या, अनुबन्ध, धार्मिक क्रिया आदि के अध्ययन प्रस्तुत किए है। व्यक्ति आत्महत्या इसलिए नही करता कि वह प्रेम मे असफल हो गया है, या नौकरी से हटा दिया गया है या जीवन से ऊब गया है। आत्महत्या तो वह उस स्थिति मे करता है जबकि उस पर समाज का अस्वस्थ प्रभाव पडता है और यह अस्वस्थ प्रभाव तब पडता है, जब समाज द्वारा व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो पाती। अनुबन्ध (Contract) की क्रिया दो व्यक्तियो के बीच एक समझौता मात्र ही नही है, दोनो व्यक्ति जिन नियमो को मानते हुए अनुबन्ध की क्रिया कर रहे है वे नियम भी सामाजिक ही है। धार्मिक क्रिया की दृष्टि से लें तो समाज ही वास्तविक देवता है, क्योंकि व्यक्ति जो भी धार्मिक क्रिया करता है वह वास्तव मे समाज की सामूहिक शक्ति के सामने मनुष्य के नतमस्तक होने की ही अभिव्यक्ति है। दुर्खीम का साराँश है कि सामाजिक क्रिया समाज द्वारा प्रेरित क्रियाएँ ही होती है।

परेटो का सामाजिक क्रिया सिद्धान्त
(Social Action Theory of Pareto)

परेटो के अनुसार व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी के रूप मे अनेक प्रकार की क्रियाएँ करता है। इन सामाजिक क्रियाओ को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—

1 तार्किक क्रियाएँ (Logical Actions)
2 अतार्किक क्रियाएँ (Non Logical Actions)

तार्किक क्रियाएँ अर्थपूर्ण और युक्तिसंगत होती हैं अर्थात् इन क्रियाओं का औचित्य और आधार ढूँढा जा सकता है। ऐसी ही क्रियाओं के बल पर विज्ञान पनपता है। जब एक समाजशास्त्री वैज्ञानिक पद्धतियों का सहारा लेकर अपराध या अपराधियों का अध्ययन करता है तो उसके इस कार्य को तार्किक क्रिया कहा जाएगा क्योंकि जो कुछ भी वह कर रहा है, उसका एक औचित्य है, एक तर्क संगत आधार है।

अतार्किक क्रियाएँ तर्क संगत और युक्ति संगत नहीं होती। इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसे कार्यों को या तो इसलिए किया जाता है कि उन्हें करने वाला व्यक्ति अर्थात् कर्ता अपनी समझ से ही उन क्रियाओं को उचित मानता है या इसलिए किया जाता है क्योंकि उनका कोई औचित्यपूर्ण आधार न होते हुए भी सामाजिक परम्परा में प्रचलन हो गया है। परीक्षा में नकल करना, कुसंस्कारों को अपनाना आदि अतार्किक क्रियाएँ ही हैं।

मैक्स वेबर का सामाजिक क्रिया सिद्धान्त (Social Action Theory of Max Weber)

मैक्स वेबर के अनुसार "किसी भी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जब कर्त्ता (उस क्रिया को करने वाला व्यक्ति) या कर्त्ताओं द्वारा लगाये गए प्रातीतिक अर्थ (Subjective Meaning) के अनुसार उस क्रिया में अन्य व्यक्तियों के मनोभावों और क्रियाओं के समावेश को तथा उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो।" मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को पहचानने के लिए उसकी चार विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1 एक व्यक्ति की सामाजिक क्रिया अन्य सामाजिक प्राणी की क्रिया द्वारा प्रभावित होती है। वह सामाजिक प्राणी या समूह परिचित भी हो सकता है और अपरिचित भी। साथ ही, कर्ता की क्रिया, अन्य व्यक्ति के किसी भी वर्तमान, भूत, या भावी कार्य से प्रभावित हो सकती है। यदि एक व्यक्ति की हत्या इसलिए कर देता है कि उस दूसरे व्यक्ति ने भूतकाल में पहले व्यक्ति के भाई का खून कर दिया था तो इसका अर्थ यह हुआ कि पहले व्यक्ति की वर्तमान क्रिया दूसरे व्यक्ति की भूतकालीन क्रिया द्वारा प्रभावित हुई है। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति अपने आफिस का कार्य इस आशा में बहुत मेहनत से करता है कि भविष्य में उसका अधिकारी उसकी तरक्की कर देगा तो उस व्यक्ति का वर्तमान कार्य अधिकारी के भावी कार्य से प्रभावित है। इसी प्रकार, यदि एक व्यक्ति के पीटने पर दूसरा व्यक्ति भी उसे तुरन्त पीटने लगता है तो दूसरे व्यक्ति की यह क्रिया प्रथम व्यक्ति की वर्तमान क्रिया द्वारा प्रभावित मानी जाएगी। इन तीनों ही स्थितियों में किए गए कार्य सामाजिक कार्य या सामाजिक क्रियाएँ हैं।

2 सामाजिक क्रिया का सम्बन्ध एवं प्रभाव केवल सामाजिक प्राणियों या सामाजिक समूहों के साथ ही होता है। यदि एक व्यक्ति रसोई में बर्तन गिरने की आवाज सुनकर जाग पड़ता है तो देखता है कि कोई चोर तो घर में नहीं घुस आया

है तो उसकी यह क्रिया सामाजिक क्रिया नही मानी जाएगी क्योंकि वह असामाजिक या बेजानदार वस्तु द्वारा प्रभावित है। पर यदि यही क्रिया वास्तव मे चोर के प्रवेश द्वारा प्रभावित होती तो सामाजिक क्रिया मान ली जाती।

3 दो या अधिक व्यक्तियो के बीच अन्त क्रियाओ के फलस्वरूप उत्पन्न क्रियाएँ ही सामाजिक क्रियाएँ मानी जाती हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पीटता है पर वह दूसरा व्यक्ति पिटकर चुपचाप चला जाता है तो वह सामाजिक क्रिया नही है क्योकि दोनो मे अन्त क्रिया नही हुई किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति भी मारपीट पर उतारू हो जाता है या गाली-गलौज करने लगता है तो वह सामाजिक क्रिया कहलाएगी।

4. यदि अनेक व्यक्ति एक साथ मिलकर एक प्रकार का काम करें तो भी वह सामाजिक क्रिया तब तक नही मानी जाएगी जब तक उसमे उपरोक्त विशेषताओ के दर्शन नही होते। उदाहरणार्थ वर्षा होने पर यदि राह चलने वाले अनेक लोग एक साथ अपना-अपना छाता खोल लेते हैं तो इसे हम सामाजिक क्रिया नही मानेंगे क्योकि लोगो की यह सामूहिक क्रिया अन्य सामाजिक प्राणियों या समूहो द्वारा नही बल्कि वर्षा द्वारा प्रभावित हुई है। दूसरी ओर यदि एक नेता का भाषण सुनने वाले लोग नेता की किसी बात पर एक साथ ताली बजाते हैं या शर्म-शर्म की आवाज कसते हैं तो वह सामाजिक क्रिया होगी।

मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को चार श्रेणियों या वर्गों मे विभाजित किया है—

(क) तार्किक क्रिया (Rationalistic Action)—यह वह क्रिया है जिसमे क्रिया व साधन एक दूसरे के साथ तार्किक रूप मे सयुक्त होते हैं।

(ख) मूल्यांकनात्मक क्रिया (Evaluative Action)—यह वह क्रिया है जो किसी नैतिक, धार्मिक अथवा कलात्मक आधार पर की जाती है और उसी आधार पर उसे स्वीकार कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ, पूजा-पाठ इसी प्रकार की क्रियाएँ है।

(ग) प्रभावात्मक क्रियाएँ (Effective Action)—यह वह क्रिया है जो सवेगो (Emotions) द्वारा प्रभावित होती है। प्रेम, क्रोध, शत्रुता, आदि से प्रेरित होकर व्यक्ति जब कोई क्रिया करता है तो उस क्रिया को प्रभावात्मक क्रिया माना जाता है।

(घ) परम्परात्मक क्रिया (Traditionalistic Action)—यह वह क्रिया है जो परम्परा के आधार पर चल पड़ती है। प्रथा, रूढि आदि इसी प्रकार की क्रियाएँ होती हैं।

स्थायी भाव
(Sentiment)

सवेग (Emotions) स्थायी भाव (Sentiment) के मूल जनक हैं। सवेग जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति भय, क्रोध, शोक, हर्ष, घृणा, प्रेम

आदि के रूप में होती है। जब एक ही वस्तु या प्राणी या व्यक्ति के प्रति एकाधिक संवेग पनप कर और एक साथ मिलकर संगठित रूप धारण कर लेते हैं और व्यक्तित्व में गहरी जड़ पकड़ लेते हैं तो उस संगठित एवं स्थायी स्नायु-विन्यास या संवेग-संकुल (Emotion Complex) को स्थायी भाव (Sentiment) कहा जाता है। स्थायी भाव का स्वरूप परिस्थितियों की पृष्ठभूमि के साथ-साथ बदलता रहता है, फलस्वरूप एक ही स्थायी भाव विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग संवेगों (Emotions) को जन्म दे सकता है। इसीलिए स्थायी भाव को 'स्थिर संवेग-संकुल' (Stable Emotion Complex) कहते हैं।

स्थायी भाव की परिभाषा देते हुए शैण्ड (Shand) ने लिखा है—"स्थायी भाव किसी वस्तु-विशेष के प्रति केन्द्रित संवेगात्मक प्रवृत्तियों की एक संगठित व्यवस्था है।" मैकडूगल (Mc Dugall) के अनुसार "स्थायी भाव मानसिक संरचना का एक तथ्य एवं प्रवृत्तियों की एक ऐसी संगठित व्यवस्था है जो कार्य के अवसरों के मध्य न्यूनाधिक शान्त दशा में रहती है।" स्थायी भाव के निर्माण में ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक सभी तत्वों का अभिन्न रूप से समावेश रहता है। स्थायी भाव व्यक्ति के व्यवहार पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। कारण यह है कि ये उसके व्यक्तित्व में गहरी जड़ पकड़े रहते हैं। स्थायी भाव सुदृढ़ और प्रभावशाली प्रवृत्तियाँ हैं जिनमें व्यक्ति का व्यवहार गहरे रूप में प्रभावित होता है। यह व्यक्ति के चरित्र के विकास में, उसके व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। व्यक्ति का चरित्र स्वयं स्थायी भावों की ही एक व्यवस्था है। यदि व्यक्ति में स्थायी भाव बिखरे रहते हैं तो उसके चरित्र का विकास नहीं हो पाता, उसके चरित्र में स्थिरता या क्रमबद्धता पनप नहीं पाती। स्थायी भावों के संगठन के कारण ही आत्मानुभव और आचरण में स्थिरता आ पाती है, मानव-व्यवहार का आदर्श विकास सम्भव है।

सामाजिक प्रतिमान अथवा आदर्श-नियम (Social Norms)

सामाजिक प्रतिमानों को सामाजिक आदर्श नियम अथवा सामाजिक मानदण्ड भी कहा जाता है। इनका समाजशास्त्रीय अध्ययन में केन्द्रीय महत्त्व है। एक ओर तो ये मानव-व्यवहारों को नियमित बनाते हैं और दूसरी ओर सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते हैं।

समाज में हम कहीं भी देखें, व्यक्ति मनमाने रूप में प्रायः कार्य नहीं करते। व्यक्तियों के व्यवहारों में एक व्यवस्था दिखाई देती है। परिवार को लें तो वहाँ माता-पिता, भाई-बहिन आदि कुछ विशेष नियमों के अधीन रहते हुए कार्य करते हैं। शिक्षण-संस्थानों को लें तो वहाँ भी छात्र और शिक्षकों के व्यवहार कुछ विशेष नियमों से बंधे रहते हैं। हम सरकारी या गैर-सरकारी कार्यालयों को लें तो उनमें भी अधिकारियों और कर्मचारियों द्वारा विभिन्न नियमों का पालन करते हुए अपने दायित्व पूरे किए जाते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि समाज के लोगों के सम्बन्धों में एक निश्चित व्यवस्था दिखाई देती है, लोग एक दूसरे के प्रति निरंकुश आचरण

नहीं करते । ऐसा सम्भव इसीलिए होता है कि प्रत्येक समाज मे कुछ विशेष सामाजिक आदर्श-नियम अथवा सामाजिक प्रतिमान होते है जो न केवल लोगो के व्यवहारो को नियमित करते हैं वरन् उन पर समुचित नियन्त्रण भी रखते है । किंग्सले डेविस के शब्दो मे मानव-समाज मे दो प्रकार के तथ्य दिखाई देते हैं—एक ओर आदर्शात्मक व्यवस्था (Normative order) है जो यह बतलाती है कि "क्या होना चाहिए", तथा दूसरी ओर तथ्य सम्बन्धी व्यवस्था (Factual order) है जो बतलाती है कि "क्या है ।"[1] आदर्शात्मक व्यवस्था का सम्बन्ध कल्पना या कोरे आदर्शों से नही होता बल्कि यह सांस्कृतिक नियमो के अनुसार व्यवहार के उपयोगी तरीको पर बल देती है । हम व्यवहार के इन्हीं सांस्कृतिक एवं संस्थागत तरीकों को 'सामाजिक प्रतिमान' अथवा 'सामाजिक आदर्श-नियम' की संज्ञा देते हैं ।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम सामाजिक प्रतिमानो के विभिन्न पक्षों का विस्तार से विवेचन करेंगे । हमारे अध्ययन की रूपरेखा निम्नानुसार होगी—

(1) सामाजिक प्रतिमान का अर्थ एवं प्रकृति
(2) सामाजिक प्रतिमानो की विशेषताएँ
(3) सामाजिक प्रतिमानो का वर्गीकरण—लोक-रीतियाँ (Folkways), लोकाचार (Mores), प्रथाएँ (Customs), परम्पराएँ (Traditions), परिपाटी एवं शिष्टाचार (Convention and Etiquette), फैशन तथा सनक (Fashion and Fad), नैतिकता एवं धर्म (Morality and Religion), वैधानिक नियम (Enacted laws) एवं संस्थाएँ (Institutions) ।
(4) सामाजिक प्रतिमान तथा व्यक्ति
(5) हम प्रतिमानो से समानुरूपता क्यो रखते है ?

सामाजिक प्रतिमान का अर्थ एवं प्रकृति
(Meaning and Nature of Social Norms)

सरल शब्दो मे, हम सामाजिक प्रतिमानो को व्यवहार के वे नियम कह सकते हैं जिन्हे किसी समाज के अधिकांश सदस्य मानते हैं । समाज के लोग इन प्रतिमानो के आधार पर ही यह निश्चित करते हैं कि अमुक कार्य अथवा व्यवहार उचित है या अनुचित । यदि समाज के व्यक्ति का आचरण और व्यवहार समाज मे प्रचलित मान्यताओं के अनुरूप होता है तो समाज के लोग उस आचरण या व्यवहार की प्रशंसा करते हैं । ऐसा न होने पर उस आचरण अथवा व्यवहार की निन्दा की जाती है ।

सामाजिक प्रतिमानो के अभिप्राय और उनकी प्रकृति को स्पष्ट करते हुए बीरस्टीड ने लिखा है—"सामाजिक प्रतिमान एक प्रकार के आदर्श-नियम है जो एक परिस्थिति-विशेष मे हमारे आचरण का निर्देशन करते हैं। सामाजिक प्रतिमान एक

1 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 43.

सामाजिक अपेक्षा (Social expectation) है। यह एक प्रमाप अथवा स्तर है जिसके अनुकूल व्यवहार करने की हम से आशा की जाती है, चाहे वास्तव में हम वैसा व्यवहार करें अथवा न करें। यह एक सांस्कृतिक निर्देश (A cultural specification) है जो समाज में हमारे आचरण अथवा व्यवहार का मार्ग-निर्देशन करता है। यह कार्यों को पूरा करने का एक तरीका (A way of doing things) है, ऐसा तरीका जो हमारे लिए, हमारे समाज द्वारा नियोजित कर दिया जाता है। यह सामाजिक नियन्त्रण का एक अनिवार्य साधन (An essential instrument of social control) भी है।"[1] किंग्सले डेविस के अनुसार "सामाजिक प्रतिमान अथवा आदर्श नियम एक प्रकार के नियन्त्रण है। मानव समाज इन्हीं नियन्त्रणों के बल पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार अंकुश रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते रहें, भले ही उनकी प्राणि-शास्त्रीय आवश्यकताओं में इससे बाधा पहुँचती हो।"[2]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रतिमान व्यवहार के सांस्कृतिक और संस्थागत तरीके हैं जो हमें अपनी मूल प्रवृत्तियों पर अंकुश रखते हुए समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को पूरा करने पर बल देते है। ये एक प्रकार के ऐसे नियन्त्रण हैं जिनके बल पर समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों के मनमाने ढंग पर अंकुश रखता है। ये प्रतिमान मानव-व्यवहारों को नियमित और व्यवस्थित बनाते हैं। किंग्सले डेविस ने परिभाषित रूप में सामाजिक प्रतिमानों को 'कर्त्तव्य' की भावना से सम्बन्धित माना है। "ये इस धारणा से सम्बद्ध हैं कि किसी भी व्यक्ति को विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करने चाहिए, अवश्य करने चाहिए अथवा अनिवार्य रूप में करने चाहिए।"[3]

सामाजिक प्रतिमानों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Norms)

उपरोक्त परिभाषाओं और विवरण के प्रकाश में हम सामाजिक प्रतिमानों अथवा सामाजिक आदर्श-नियमों की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताओं का संकेत कर सकते हैं—

(1) ये वे आदर्श सामाजिक नियम हैं जिनके निर्वाह की अपेक्षा समाज के सभी सदस्यों से की जाती है। ये 'कर्त्तव्य भावना' से सम्बन्धित हैं जो माँग करते हैं कि हमें विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करने चाहिए।

(2) सामाजिक प्रतिमानों के अन्तर्गत छोटे-बड़े विभिन्न नियम, उपनियम शामिल हो सकते हैं।

1. *Bierstedt* : The Social Order, p 409
2. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 43
3. वही, पृष्ठ 46

(3) सामाजिक प्रतिमान मानव-अस्तित्व के ऐसे अभिन्न अग हैं जो एक बड़ी सीमा तक आन्तरिक बन चुके है। ये हमारे जीवन का अश बन गए है और स्वचालित रूप से अपने व्यवहार मे हम इनका पालन करते रहते हैं। यदि नही करते तो यह समाज-विरोधी आचरण है। बीरस्टीड ने तो स्पष्ट शब्दो मे लिखा है—'जहाँ प्रतिमान नही हैं, वहाँ समाज भी नही है" (Where there are no norms, there is no society)।[1]

(4) सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध सामाजिक उपयोगिता से है, अत समाज की आवश्यकताओ मे परिवर्तन के साथ प्राय प्रतिमानो मे परिवर्तन होने लगते हैं। यदि प्रतिमान इस प्रकार परिवर्तनशील न हो तो उनका स्वरूप रूढियों और कुरीतियो का हो जाता है।

(5) सामाजिक प्रतिमान एक प्रकार के नियन्त्रण हैं जिनके बल पर मानव समाज अपने सदस्यो के व्यवहार पर अपेक्षित अकुश रखता है ताकि वे सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे कार्य करते रहे।

(6) तथ्यात्मक परिस्थितियो की आधारशिला पर ही आदर्शों या प्रतिमानो का निर्माण होता है। यदि यह आदर्श नियम बना दिया जाए कि प्रत्येक पुरुष की तीन पत्नियाँ हो, पर यदि समाज मे स्त्रियो की सख्या पुरुषो के अनुपात से कम हो तो यह आदर्श नियम व्यर्थ होगा। इसी प्रकार, यह आदर्श नियम बना दिया जाए कि क्षय रोग से रक्षा के लिए प्रतिदिन खारे जल से स्नान करना चाहिए, पर यदि खारे जल से स्नान करने से क्षय रोग से रक्षा नही हो पाती, तो इस आदर्श नियम का कोई मूल्य नही होगा।[2] तब इनमे परिवर्तन लाने होगे।

(7) सामाजिक प्रतिमानो की प्रकृति 'सरल' होती है, अत इनके अनुसार आचरण या व्यवहार करने के लिए विशेष प्रयत्नो या बुद्धि की आवश्यकता नही होती। हम बिना अधिक सोचे-विचारे ही इनके अनुसार व्यवहार कर सकते हैं और प्राय करते हैं।

(8) सामाजिक प्रतिमान कोई विशेष व्यवहार करने पर जोर नही देते वरन् एक विशेष सांस्कृतिक नियम के अन्तर्गत विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते है। उदाहरणार्थ भारतीय समाज मे अतिथि सेवा' एक सामाजिक प्रतिमान या आदर्श-नियम है, लेकिन हमें यह स्वतन्त्रता है कि हम अतिथि का सत्कार भोजन से करें, चाय या शर्बत से करे। अमेरिकी सस्कृति मे आज एक सभ्य समाज के व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह दाढी बनाए, पर यह व्यक्ति की निजी इच्छा पर है कि वह सेफ्टीरेजर से सेव करे या लम्बे उस्तरे से या विद्युत् मशीन से। दूसरे शब्दो मे, प्रतिमानो की वैकल्पिक सारणियो के लिए व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता होती है। किसी एक प्रतिमान की तुलना मे कौन से प्रतिमान चुने जाएँ, इस बात की व्यक्ति को सुविधा रहती है।[3]

1 *Bierstedt* op cit, p 212
2 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 43
3 वही, पृष्ठ 47.

स्पष्ट है कि सामाजिक प्रतिमान व्यवहार के प्रमाणित तरीके (Standard form of behaviour) हैं जो जीवन के हर क्षेत्र मे पाए जाते हैं। खेल का मैदान हो या परिवार हो या कार्यालय हो या स्कूल हो या कोई सभा या समिति हो—सब जगह व्यक्ति को कुछ प्रतिमानो के अनुसार, कुछ आदर्श-नियमो के अनुसार व्यवहार करना होता है। यदि हम उनका उल्लघन करते हैं तो न केवल हमको बल्कि दूसरो को भी असुविधा होती है और इसके लिए हम दण्डित भी हो सकते हैं जो लोग सामाजिक प्रतिमानो के अनुसार व्यवहार करते हैं, वे सामाजिक हित की वृद्धि करने वाले होते हैं और उनका व्यक्तित्व परिष्कृत माना जाता है। जो लोग सामाजिक प्रतिमानो का उल्लघन करते हैं, उन्हें समाज का अहित करने वाला या समाज-विरोधी माना जाता है, उनका व्यक्तित्व अपरिष्कृत समझा जाता है।

सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण
(Classification of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमानो की विस्तृत विवेचना उनके वर्गीकरण के बिना नही की जा सकती। दुर्भाग्यवश समाजशास्त्र मे अभी तक सामाजिक प्रतिमानो का कोई सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं हो सका है और प्रत्येक समाजशास्त्री ने कुछ भिन्न सूची प्रस्तुत की है।[1] वास्तव म सामाजिक प्रतिमानो का व्यवस्थित वर्गीकरण करना बहुत कठिन भी है, क्योकि बहुत-सी भिन्नताएँ अनेक प्रतिमानो मे उभयनिष्ठ (दोनो मे पाई जाने वाली) होती हैं। एक विशेष प्रतिमान मे दूसरे प्रतिमानो की भी कुछ विशेषताएँ प्राय पाई जाती है। पर इस कठिनाई के बावजूद सामाजिक प्रतिमानों का कुछ आधारो पर वर्गीकरण किया गया है जो इस प्रकार है[2]—

(1) मान्यता के स्तर के आधार पर—कुछ प्रतिमान ऐसे होते है जिनका पालन न करने से समाज उस व्यक्ति की थोडी बहुत निन्दा कर देता है जबकि कुछ ऐसे होते है जिनका पालन शक्तिपूर्वक कराया जाता है।

(2) महत्त्व की मात्रा के आधार पर—प्रतिमानो का यह वर्गीकरण समाज मे "नियम अर्थात् प्रतिमान से सम्बन्धित महत्त्व की मात्रा' के आधार पर किया जाता है।

(3) नियम कार्यान्वित करने के ढग के आधार पर—यह वर्गीकरण उस ढग के आधार पर किया जाता है जिसके द्वारा नियम कार्यान्वित हुआ (चाहे वह अधिनियम के द्वारा हो, अथवा अचेतन वृद्धि के द्वारा)।

(4) स्वेच्छा की मात्रा के आधार पर, एव

(5) नियमो की परिवर्तनशीलता की तीव्रता के आधार पर। बीरस्टीड ने लिखा है कि[3]—

1 *Bierstedt* "op cit, p. 212
2 रिचर्ड बेरिस, पृष्ठ 47
3 *Bierstedt* op cit, ■ 213

प्रथमत सामाजिक प्रतिमान **सकारात्मक प्रवृत्ति के (Prescriptive)** होते है अर्थात् ऐसे प्रतिमान जो कुछ कार्यो को निर्धारित करते है या उनकी अपेक्षा करते हैं (Prescribe or require certain actions), एव **निषेधात्मक (Proscriptive)** अर्थात् ऐसे प्रतिमान जो कुछ दूसरे कार्यो का निषेध करते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे समाज मे हम से अपेक्षा की जाती है कि हम वस्त्र पहिने और गली मे नगे न घूमे। कॉलेज मे हमसे परीक्षा पास करने की अपेक्षा की जाती है और परीक्षा मे पास कराने के लिए लोगो से सहायता लेने का निषेध किया जाता है। निषेधात्मक प्रतिमान, जब कि वे वैधानिक निषेध न हो, टेबू (Taboos) माने जाते हैं।

द्वितीयत कुछ सामाजिक प्रतिमान सम्पूर्ण समाज मे व्याप्त रहते हैं (Pervade an entire society) जबकि कुछ प्रतिमान केवल कुछ समूहो मे व्याप्त रहते हैं (Prevail only in certain groups)। इस प्रथम श्रेणी के प्रतिमानो को **"साम्प्रदायिक प्रतिमान"** (Communal Normss) कहते हैं और दूसरी श्रेणी के प्रतिमानो को **'सघात्मक' प्रतिमान'** (Associational Norms) कहते हैं। किसी नए व्यक्ति से मिलने पर हाथ मिलाने की परम्परा एक 'सामुदायिक प्रतिमान' है जो कि हमारे सम्पूर्ण समाज मे, सभी समूहो और वर्गो मे व्याप्त है। दूसरी ओर, समारोह पर प्राच्य वेशभूषा (Oriental costume) धारण करना केवल प्राचीन अरबी व्यवस्था के सदस्यो (Members of Ancient Arabic Order) पर लागू होने वाला प्रतिमान है।

अधिकांश समाजशास्त्रियो का प्रयत्न सामाजिक प्रतिमानो को कुछ मुख्य वर्गो मे विभक्त करने का रहा है, क्योकि वे स्वीकार करते हैं कि विभिन्नता के सभी मापदण्ड उभयनिष्ठ है।[1] इस प्रकार हमारे प्रतिमानो का वर्गीकरण लोक-रीतियो (Folk ways), लोकाचारो (Mores), और विधि (Law) मे किया गया है। कभी-कभी उन्हे (Fashion), सनक (Fad), परिपाटी (Convention), शिष्टाचार (Etiquette), सम्मान (Honour) आदि भागो मे विभाजित किया जाता है। अग्रिम पक्तियो मे हम कुछ प्रमुख सामाजिक प्रतिमानो का विस्तार से विवेचन करेंगे।

1 लोक-रीतियाँ
(Folkways)

अर्थ—हमारे अधिकांश दैनिक व्यवहार-प्रतिमानो पर लोक-रीतियो का प्रभाव होता है।[2] ये ऐसे सामाजिक प्रतिमान है जिनकी प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है, कर्त्तव्य-भावना से अधिक सम्बन्धित होती है और जिनके द्वारा लोगो पर प्राथमिक प्रभाव पड़ता है। मार्टिण्डेल तथा मोनाचेसी के शब्दो मे "लोक-रीतियाँ कार्य करने के वे अभ्यस्त तरीके हैं जो एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियो और अपनी स्थायी विशेषताओ से अभियोजना करने के फलस्वरूप निर्मित होते हैं।"[3] मैकाइवर

1. किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 45
2. वही, पृष्ठ 47
3 *Martindale and Monachesi* Elements of Sociology p 120

के अनुसार "लोक रीतियाँ या जन-रीतियाँ समाज मे आचरण करने की स्वीकृत अथवा मान्यता प्राप्त पद्धतियां हैं।"

बीरस्टीड ने लिखा है कि "संक्षेप में लोक-रीतियां वे प्रतिमान हैं जिनका हम पालन करते हैं क्योंकि हमारे समाज में ऐसा करने का रिवाज है। लोक-रीतियों के अनुपालन के लिए न तो कानून द्वारा बल दिया जाता है और न ही समाज के किसी विशिष्ट अभिकरण द्वारा इन्हें लागू किया जाता है। उदाहरणार्थ ऐसा कोई कानून नहीं होता जो हमें जूते पहिनने के लिए बाध्य करे, सुबह नाश्ता करने के लिए, रात को बिस्तर में सोने के लिए, हमारे पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए, गिलास से पानी पीने के लिए, चाय या काफी कप से पीने के लिए अथवा अंग्रेजी बोलने के लिए बाध्य करे। ये सब बातें समाज मे रिवाज बन गई हैं, परम्परा के रूप मे चली आ रही है। ये हमारी लोक-रीतियाँ हैं।

महत्त्व—लोक-रीतियों की समाज में कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि सभी समाजों में ये सार्वभौमिक रूप में पाई जाती हैं और कोई भी समाज इनके बिना रह नहीं सकता।[2] इस प्रकार ये लोक-रीतियां हमारे सामाजिक ढांचे के एक महत्त्वपूर्ण भाग का निर्माण करती हैं और सामाजिक सम्बन्धों में व्यवस्था तथा स्थायित्व लाती हैं।[3] लोक-रीतियाँ हमें सामाजिक सांस्कृतिक वातावरण में रहने की कला सिखाती हैं। ये जीवन की सम्भावनाओं से हमारे मस्तिष्क को स्वतन्त्र करके हमारी कार्य क्षमता को बढ़ाती हैं। वे लोक-रीतियाँ जो बार-बार व्यवहार में लाई जाती हैं, हमारे कार्य करने और विचार करने की आदत बन जाती है।[4]

साधारणतया कुछ लोक-रीतियों का उल्लंघन करना सम्भव है लेकिन समाज की सभी लोक-रीतियों का उल्लंघन करना सम्भव नहीं है। यदि ऐसा किया गया तो व्यक्ति को समाज-विरोधी समझा जाएगा, वह अपने को सामाजिक सम्पर्क से पृथक् पाएगा, और समाज में उसका जीवन अत्यधिक कठिन हो जाएगा। "यदि मानव-जीवन के आधारभूत तथ्य कहीं दिखाई पड़ते हैं तो समाज की लोक-रीतियों में, क्योंकि वह इन लोक लोक-रीतियों से अपना-जीवन आरम्भ करके उन्हीं तक सीमित रहते हैं।"[5]

विभिन्न प्रकार—लोक-रीतियों के विभिन्न रूप हो सकते हैं जिन्हें किंग्सले डेविस ने निम्नानुसार प्रकट किया है—

(1) कुछ तकनीकी लोक-रीतियां होती हैं, जैसे कार चलाने में स्टीयरिंग, हैण्डलिंग, क्लच का प्रयोग अथवा टायर को बदलना।

1. *Bierstedt* : op cit, p 214.
2. वही, पृष्ठ 214
3. वही, पृष्ठ 214.
4 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 48
5. वही, पृष्ठ 48

(2) कुछ लोक-रीतियां विधि बन जाती हैं ।

(3) सबसे विवादास्पद श्रेणी की लोक-रीतियां वे हैं जो प्रतीकों का प्रयोग करती हैं, उदाहरणार्थ भाषा में किसी शब्द की ध्वनि तथा उसके अर्थ में कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार की लोक-रीतियों में निश्चित सम्बन्ध पूर्णतया विवादास्पद है।

(4) लोक-रीतियों को स्वीकार करना स्वयं भी एक लोक-रीति है।

प्रकृति—कुछ लोक-रीतियां अधिक आवश्यक होती हैं तो कुछ अपेक्षाकृत कम। एक समाज में जो लोक-रीतियां आवश्यक हैं, वे कभी-कभी दूसरे समाजों में महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती। उदाहरणार्थ भारत में बड़ों के पैर छूना या झुक कर उन्हें नमस्कार करना एक महत्त्वपूर्ण लोक-रीति है जबकि पाश्चात्य देशों में इसका कोई महत्त्व नहीं है और इसे "पिछड़ेपन का प्रतीक" भी मान लिया जाता है।

लोक-रीतियों की प्रकृति गुणनशील होती है। यदि कोई व्यक्ति समाज के किसी आदर्श-नियम या प्रतिमान का जान-बूझ कर बार-बार उल्लंघन करता है तो समाज के प्रतिशोध की भावना उसी अनुपात में बराबर बढ़ती जाती है। यदि कोई व्यक्ति समाज की बहुत-सी लोक-रीतियों अथवा नियमों का उल्लंघन करता है तो प्रत्येक उल्लंघन का दण्ड उस अवस्था में अधिक होगा, यदि वह केवल एक लोकरीति का उल्लंघन करता।[1]

लोक-रीतियों से सम्बन्धित स्वीकृति अथवा दण्ड की व्यवस्था केवल एक विशेष समूह तक ही सीमित रहती है। यदि उल्लंघन करने वाला व्यक्ति उस समाज का पूर्ण सदस्य नहीं है तो समाज के अनौपचारिक प्रतिशोध का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।[2] गांवों और शहरों में भी लोक-रीति की स्वीकृति में अन्तर मिलेगा। यदि नगर का एक व्यक्ति गांव में भड़कदार वस्त्र पहिने और सोने, खेलने या भोजन करने के समय अलग-अलग वस्त्र पहिने तो गांव के लोग उसकी आलोचना करेंगे जब कि नगर में ऐसा करना लोक-रीति है। यदि नगर का वह व्यक्ति ग्रामीणों के विचारों का कोई मूल्य नहीं समझता तो आलोचनाओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं होगा, क्योंकि शारीरिक रूप में अपने सामाजिक प्रतिमानों को दृष्टि में रखते हुए वह नगर में ही है।

2 लोकाचार अथवा रूढ़ियां
(Mores)

अर्थ एवं प्रकृति—लोक-रीतियां और लोकाचार में वस्तुतः कोई मौलिक भेद नहीं है वरन् केवल इनकी नियन्त्रण शक्ति का अन्तर है। लोकरीतियों को यदि हम व्यवहार का केवल एक "आदर्श" ही न मानकर उन्हें व्यवहारों को निश्चित करने वाली प्रभावपूर्ण इकाई मानलें तो यह प्रभावपूर्ण लोक-रीतियां ही लोकाचार कही

1. वही, पेज 49.
2 वही, पेज 49.

जाएँगी। किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "जहाँ प्रत्येक लोकरीति बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जाती, तथा उनके साथ शक्तिशाली सामूहिक स्वीकृति नहीं होती, वहाँ प्रत्येक लोकाचार को समाज के कल्याण के लिए आवश्यक माना जाता है और फलस्वरूप उन्हें अधिक दृढ़तापूर्वक स्वीकृति प्रदान की जाती है।"[1] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि लोकाचार सामूहिक कल्याण के लिए अधिक आवश्यक है, और उनकी नियन्त्रण शक्ति लोक-रीतियों की तुलना में अधिक होती है। विख्यात समाजशास्त्री समनर (Sumner) ने लिखा है कि 'लोकाचार वे व्यवहार (Practices) हैं जिनसे सामाजिक कल्याण (*Social welfare*) की अपेक्षा की जाती है। दूसरी ओर लोक-रीतियाँ कल्याण के साथ उतनी सम्बद्ध नहीं होतीं।"

लोक-रीतियों और लोकाचार में स्पष्टीकरण हम कुछ उदाहरणों द्वारा भली प्रकार कर सकते हैं। एक विशेष ढंग से कपड़े पहिनना लोकरीति है, लेकिन कपड़े निश्चित रूप से पहिनना लोकाचार है। यदि हम विशेष ढंग से कपड़े नहीं पहिने तो इससे लोक-कल्याण को कोई हानि नहीं पहुँचती, लेकिन यदि हम वस्त्रहीन रहें तो निश्चय ही सामाजिक कल्याण को इससे आघात पहुँचेगा और नंगे व्यक्ति को अशिष्ट मानकर समाज उसे तिरस्कृत करेगा। इसी प्रकार सभ्य समाज में अपने से बड़ों अथवा गुरुजनों या सम्मानित व्यक्तियों को अभिवादन करना लोकाचार है, लेकिन अभिवादन करने का ढंग लोकरीति है। टिकट खरीदने के लिए लोगों की पंक्ति को उलांघ कर आगे घुसना भी सभ्य समाज में लोकाचार का उल्लंघन है। यदि कोई स्त्री अपने बच्चों के प्रति निर्दयी है तो यह भी सभ्य समाज में लोकाचार का उल्लंघन माना जाता है।[2]

लोकाचारों के रूप और इनके पीछे मान्यता—लोकाचार आदर्श नियमों अथवा सामाजिक प्रतिमानों की व्यवस्था के कठोरतम रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "लोक-रीतियाँ कोष्ठ के जीवन-रस अथवा भारी अंग (*Bulky* parts) के समान हैं जब कि लोकाचार नाभिमूल (Nucleus) के समान आवश्यक अंग है।"

लोकाचारों में अधिकाधिक रूढ़िवादिता की प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रत्येक समूह के सदस्य अपने लोकाचारों को सबसे अच्छा मानते हैं और यह विश्वास करते हैं कि समूह के महान् और मेधावी व्यक्तियों के अनुभव द्वारा उनके लोकाचारों का निर्माण हुआ है। नैतिक दृष्टिकोण से लोकाचारों को उचित माना जाता है तथा उनका उल्लंघन अनैतिक समझा जाता है। समाज में उचित-अनुचित का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड लोकाचार ही माने जाते हैं, और इसलिए यह किंवदन्ती प्रचलित हो रही है कि "लोकाचार किसी भी वस्तु को उचित अथवा अनुचित बना सकते हैं।" विभिन्न प्रकार के विश्राम लोकाचारों को पौराणिक गाथा के रूप में तार्किक बनाने का प्रयत्न करते हैं। विभिन्न अनुष्ठान उन्हें प्रतीकों के रूप में व्यक्त करते हैं, और विभिन्न

1. किंग्सले डेविस : वही, पृष्ठ 49.
2. *Bierstedt* op cit, Page 215

प्रकार की क्रियाएँ इन लोकाचारो को व्यवहार के सही तरीके के रूप मे स्वीकार करती हैं। पितृआत्माओं के भय तथा उनके प्रति श्रद्धा के कारण भी लोग लोकाचारो की अवहेलना का प्रयत्न प्राय नही करते। इस प्रकार रूढिवादिता को बनाए रखने मे लोकाचारो का सबसे बडा हाथ होता है। इसी कारण किसी भी समाज मे रूढिवादी व्यवहारो मे तब तक परिवर्तन लाना कठिन होता है जब तक कि समाज के रूढिवादी लोकाचारो के विरुद्ध जनमत जाग्रत न कर दिया जाए।

लोकाचारो मे रूढिवादिता की प्रवृत्ति से आशय यह नही है कि उनमे प्राय' परिवर्तन होते नही हैं। अल्पकाल मे लोकाचार चाहे हमे स्थिर प्रतीत हो, लेकिन शताब्दियो की दीर्घावधि मे लोकाचारो के परिवर्तन स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। भारत मे स्त्रियो के सम्बन्ध मे पर्दा रखने तथा उन्हे बाह्य स्वतन्त्रता देने पर अकुश रखने के लोकाचार मे आज कितना परिवर्तन आ गया है, कहने की आवश्यकता नही है। किसी भी समाज मे लोकाचारो मे परिवर्तन की गति तब बहुत तेज हो जाती है जब नियोजन-मार्ग द्वारा वह समाज अपनी पुरातन सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रयत्नशील होता है।

लोकाचारो के रूपो को निश्चित रूप से गिनाया नही जा सकता, तथापि मोटे रूप मे लोकाचार सकारात्मक भी होते है और निषेधात्मक भी। पत्नी को यौन सम्बन्धो मे पति के प्रति विश्वसनीय होना चाहिए, यह एक सकारात्मक लोकाचार है जब कि स्त्री को पर-पुरुष के साथ व्यभिचार नही करना चाहिए, यह नकारात्मक लोकाचार है। टैबू अथवा निषेध (Taboos) वे लोकाचार है जो नकारात्मक रूप मे व्यक्त किए जाते है। कुछ लोकाचार विशिष्ट परिस्थिति मे दो व्यक्तियो के बीच के सम्बन्ध की ओर सकेत करते है, जैसे पति-पत्नी का सम्बन्ध, चिकित्सक और रोगी का सम्बन्ध, धर्म गुरु तथा अपना पाप स्वीकार करने वाले व्यक्ति का सम्बन्ध आदि। कुछ लोकाचार सामान्य प्रकृति के होते है जो अनेक प्रकार के सम्बन्धो तथा परिस्थितियो से सम्बन्धित है, जैसे ईमानदार होने का उपदेश, साहसी अथवा व्यवसायी होने का उपदेश आदि।

वास्तव मे हम जीवन पर्यन्त विविध लोकाचारो के अनुकूल चलने की चेष्टा करते हैं। जो व्यक्ति समान लोकाचारो मे विश्वास करते है, उनमे स्पष्ट सहयोग होता है, क्योकि उनके मनोभाव भी समान होते है। उनसे भिन्न लोकाचारो को मानने वाले लोगो के प्रति प्राय अवरोध और विरोध की भावना पाई जाती है। जहाँ विदेशी लोक-रीतियाँ हमारी शान्ति को भग करती हैं वहाँ विदेशी लोकाचार भी हमे क्षुब्ध कर देते है, क्योकि वे हमारे मनोभावो पर आघात करते है।

सामाजिक जीवन मे लोकाचारो का महत्त्व—उपरोक्त विवरण से लोकाचारो का महत्त्व और उनकी उपयोगिता स्वत स्पष्ट है। लोकाचारो को इतना महत्त्वपूर्ण मानने के दो मुख्य कारणो की ओर किंग्सले डेविस ने सकेत किया है—

1 लोकाचारो से सम्बन्धित व्यवहार समाज के कल्याण के लिए अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक माने जाते हैं, एव

2 *लोकाचारों द्वारा आवश्यकताओं को पूर्ण करने में आने वाली बाधाओं* (चाहे वह जीव रचना में हो अथवा पर्यावरण में) को दूर किया जा सकता है।

लोकाचारों के महत्त्व के अन्य बिन्दुओं को हम निम्नानुसार प्रकट कर सकते हैं—

3 *लोकाचार व्यक्तिगत व्यवहारों के निर्धारक और सामाजिक एकता के* संरक्षक होते हैं। ये समूह के सदस्यों को एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं और सामाजिक कल्याण की खातिर कभी कभी कुछ व्यक्तिगत व्यवहारों पर नियन्त्रण भी लगाते हैं। ये सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होते हैं। विभिन्न समूहों में, विभिन्न वर्गों में, परिवार में, स्त्री-पुरुषों में, व्यक्ति के आदर्श-नियमों या सामाजिक प्रतिमानों को स्पष्ट करने में लोकाचारों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। व्यक्तियों को व्यर्थ के संघर्षों और तनावों से छुटकारा दिलाकर सामाजिक एकता की स्थापना करने में इनका बड़ा हाथ है।

4 *लोकाचार इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं कि ये व्यक्तियों को समूह के* अनुरूप बनाने के साधन हैं। व्यक्ति लोकाचारों की सहायता से अन्य सदस्यों के समान स्वयं को बनाने में अथवा उनके अनुकूल स्वयं को ढालने में सरलता का अनुभव करते हैं।

वास्तव में जो व्यक्ति लोकाचारों का पालन करते हैं, वे समाज में प्रशंसा और सम्मान के पात्र होते हैं लेकिन जो व्यक्ति उनका उल्लंघन करते हैं, उन्हें समाज 'विद्रोही' मानकर अच्छी निगाह से नहीं देखता। जनता के मत में लोकाचारों से उच्च कोई भी न्यायालय नहीं है। सामान्य श्रेणी के समाजों में तो लोकाचारों के अतिरिक्त अन्य आदर्श-नियमों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। लोकाचारों की प्रामाणिकता विश्वास करने वाले व्यक्तियों को "सामाजिक" माना जाता है जबकि इनमें सन्देह करने वालों को "सनकी" या "सिरफिरा" कहा जाता है। लोकाचारों को न्यायोचित सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि वे अपने ही अधिकार में जीवित रहते हैं।[1]

3 प्रथाएँ
(Customs)

अर्थ—प्रत्येक भाषा में ऐसे बहुत से शब्द हैं जो विभिन्न प्रकार के सामाजिक प्रतिमानों अथवा आदर्श-नियमों की बड़ी अनिश्चित व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेजी भाषा में प्रथा (Customs), परिपाटी (Convention), नैतिकता (Morality), शिष्टाचार (Etiquette), लोकव्यवहार (Usage), फैशन (Fashion), सनक (Fad) आदि शब्दों के अर्थ एक-दूसरे के लगभग समान हैं, लेकिन इतना अवश्य स्पष्ट करते हैं कि समाज में अनेक प्रकार की लोकरीतियाँ तथा लोकाचार हैं।[2]

1. किम्बले डेविस वही, पृष्ठ 50
2. वही, पृष्ठ 60.

(3) प्रथा का पालन प्राय इसलिए होता है कि उसे हम समाज का परम्परागत आदर्श नियम मानते है। उसे समाज की विरासत समझ कर हम सम्मान देते हैं।

(4) प्रथा प्रत्येक काल मे उपयोगी सिद्ध हो ऐसा नही है। यद्यपि प्रथा म स्थायित्व का अश भारी मात्रा मे रहता है लेकिन नह परिवर्तनशील है। जब कभी किसी प्रथा विशेष को समाज के सदस्य अनुपयोगी समझने लगते हे तो वे उसका परित्याग कर देते हैं अथवा उसे एक नया रूप दे देते है।

(5) सदियो तक प्रथा बनी रहने पर संस्था का रूप धारण कर लेती है।

(6) प्रथा शक्तिशाली होती है और एक देश की संस्कृति के निर्माण म बड़ा सहयोग देती है।

प्रथाओ की मान्यता के पीछे आधार—आम तौर पर लोग प्रथाओ को बिना सोचे-विचार स्वीकार कर लेते हैं और सामान्यत प्रथाओ को हटाने या परिवर्तन करने मे बडी कठिनाई होती है। प्रश्न यह उठता है कि प्रथाओ के पीछे इतनी मान्यता के आधार क्या है ? समाजशास्त्रियो ने इस सम्बन्ध म मुख्यत तीन आधार बताए हैं—

(1) मनोवैज्ञानिक रूप म लोग प्रथाओ को पवित्र और अनुपालन करने योग्य मानते है। आम तौर पर लोगो मे यह विश्वास पाया जाता है कि प्रथाओ का प्रारम्भ पूर्वजो ने किया है। ये इतने लम्बे समय से चली आ रही है और उनको तोडना नैतिक दृष्टि से उचित नही होगा। नैतिकता की भावना इतनी शक्तिशाली होती है कि लोग प्रथाओ की अवहेलना म अपने पूर्वजों के अपमान की कल्पना कर लेते हैं।

(2) दूसरा कारण यह है कि आम तौर पर लोग उन कार्यों को करते रहना सुरक्षित और निरापद समझते हैं जो लम्बे समय से चलते आ रहे हैं। पहल करने की प्रवृत्ति का उनमे अभाव पाया जाता है। इस बात मे भय लगता है कि जो प्रथाएँ लम्बे समय से चली आ रही हैं, उनकी अवहेलना करके व्यवहार करने के नए ढग अपनाएँ गए तो सम्भवत वे हानिकारक सिद्ध होंगे। यह प्रवृत्ति व्यवहार के नए तरीके को ऊपर आने से रोकती है और प्रथाएँ हमारे जीवन को जकडती चली जाती है।

(3) तीसरा मुख्य कारण समाज की आलोचना का भय होता है। समाज मे ऐसे रूढिवादी वर्ग की सदैव प्रधानता होती है जो लम्बे समय से चली आ रही प्रथाओ का उल्लघन करने वाले को अपनी कटु आलोचना का शिकार बनाता है। अधिकांश लोगो मे इतना साहस नही होता कि वे समाज की आलोचना सहकर भी प्रथाओ मे परिवर्तन लाने या उन्हे तोडने के लिए आगे बढ़ें। समाज के बुजुर्ग लोग छोटो को प्रथाओ के अनुपालन की शिक्षा देते हैं। समाज का आलोचक वर्ग, जो अपनी आदत मे रूढिवादी और सनातनी होता है, प्रथाओ के स्थायित्व को अधिकाधिक बल पहुँचाता है।

प्रथाओं का पालन कहाँ तक किया जाए ?—निःसन्देह प्रथाओं का पालन उनकी उपयोगिता के कारण होता है, लेकिन यदि प्रथाएँ समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध होने लगें तो उनमे परिवर्तन लाने से इन्कार करना या हिचकिचाना सामाजिक हित की दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। प्रथाओं का पालन नैतिक दृष्टि से उचित है, पर ज्ञान के विकास के लिए उनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन होना ही चाहिए। यदि हम सभी कार्य केवल प्रथाओं के द्वारा ही करते रहेंगे तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि हम रूढ़िवादी बने रहेंगे और अपनी प्रगति के दरवाजे बन्द करते रहेंगे। यदि प्रथाएँ समाज की उन्नति मे बाधक बनें तो आवश्यक है कि उनको परिवर्तित कर दिया जाए। पर यह परिवर्तन आवश्यकतानुसार ही होना चाहिए, न कि इतना अधिक या इतना आमूलचूल कि सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा ही बदल जाए। उपयोगी प्रथाओं को बनाए रखते हुए अनुपयोगी प्रथाओं मे परिवर्तन कर देने की नीति ही श्रेयस्कर है और यथासम्भव यह परिवर्तन शनैः-शनैः हो तो अधिक अच्छा है। इससे सामाजिक जीवन मे अस्त-व्यस्तता नही आ पाएगी।

प्रथा और लोकरीति मे अन्तर—कुछ समाजशास्त्री प्रथा और लोकरीति में कोई भेद नही करते, लेकिन वास्तव में ये दो भिन्न धारणाएँ है। यह सही है कि प्रथाएँ लोकरीतियो के निकट हैं, लेकिन उन्हे लोकरीतियो का पर्याय नही माना जा सकता। दोनो मे मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

1. समूह की किसी आदत विशेष को लोकरीति की सज्ञा दी जाती है जबकि प्रथा का सम्बन्ध आदत से नही होता। जब समाज किसी विशेष व्यवहार को आवश्यक मानते हुए उसके अनुकूल आचरण करता है तो यही व्यवहार प्रथा बन जाती है।

2 प्रथाओं की तुलना मे लोकरीतियाँ कम होती हैं। प्रथाओं की अवहेलना करने पर सामाजिक तिरस्कार जितना प्रबल हो सकता है, उतना लोकरीतियो की अवहेलना करने पर प्रायः नही होता।

3 प्रथाओं का आधार लम्बा अथवा दीर्घ अनुभव होता है तथा उनकी उपयोगिता को हम तर्क के आधार पर स्पष्ट कर सकते है। दूसरी ओर लोकरीतियो का सम्बन्ध कल्याण से बहुत ही कम किन्तु शिष्टता से अधिक होता है।

4 किसी एक प्रथा को हम अनेक लोकरीतियो द्वारा क्रियान्वित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जन्मोत्सव मनाना एक प्रथा है, पर जन्मोत्सव मनाने की लोकरीतियाँ अनेक हो सकती है।

4 परम्परा
(Tradition)

अर्थ एवं प्रकृति—परम्परा का सम्बन्ध भी साधारणतया समाज के कुछ ऐसे तत्त्वो से होता है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते है। परम्परा का क्षेत्र प्रथाओं अथवा लोकरीतियो की अपेक्षा कही अधिक विस्तृत होता है, क्योंकि परम्परा का निर्वाह अनेक प्रथाओं और लोकरीतियो के माध्यम से सम्भव है। परम्परा का क्षेत्र इस दृष्टि से भी व्यापकतर है कि जहाँ लोकरीतियो और प्रथाओं का सम्बन्ध

समाज द्वारा स्वीकृत विचारो और कार्य करने के ढगो से है, वहाँ परम्पराओ के अन्तर्गत पीढी-दर-पीढी चले आने वाले विश्वासो को भी सम्मिलित किया जाता है।

परम्परा को परिभाषित करते हुए गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "इसका (परम्परा का) अर्थ उन सम्पूर्ण विचारो, आदतो और प्रथाओ के योग से है जो एक समूह की विशेषता है और जो पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित होती रहती है।"[1] रॉस ने अति सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'परम्परा का अर्थ है चिन्तन तथा विश्वास करने की विधि का हस्तान्तरण।'[2] ड्रेवर के अनुसार "परम्परा को हम कानून, प्रथा, कहानी और पौराणिक कथाओ का वह सग्रह कह सकते हैं जो मौखिक रूप से पीढी-दर पीढी हस्तान्तरित किया जाता है।"

उपरोक्त परिभाषाओ से स्पष्ट है कि (1) परम्पराओ की प्रकृति मौखिक होती है। लिखित हो जाने पर ये कानून बन सकती है। दूसरे शब्दो मे सामाजिक विरासत का अलिखित रूप ही परम्परा कहा जाएगा। (ii) परम्परा एक भावात्मक विशेषता को इगित करती है। जिस तत्त्व को हम पीढियो से ग्रहण करते आए हैं, उसे प्रथा अथवा लोकरीति न कहकर परम्परा ही कहा जाएगा। उदाहरण के लिए माता-पिता, नानी आदि द्वारा छोटे बच्चो को कहानी सुनाना एक परम्परा बन चुकी है क्योकि यह बात पीढियो से चलती आ रही है। इसी प्रकार गुरुजनो अथवा माता-पिता या साधुओ के प्रति सम्मान एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो महस्रो वर्षो में हमारे समाज म पीढी दर-पीढी चलता आ रहा है। इसे हम परम्परा ही मानेंगे।

महत्त्व एव प्रभाव—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परम्पराएँ काफी प्रभावपूर्ण एव शक्तिशाली है। इनसे सामाजिक सगठन, सामाजिक एकता और भावात्मक एकीकरण की प्राप्ति की दिशा मे बडा सहयोग मिलता है। परम्पराओ के माध्यम से महस्रो वर्षों का ज्ञान स्थायी रूप से बना रहता है। सामाजिक विरासत के रूप मे हम उस ज्ञान को पीढी दर पीढी हासिल करते रहते है।

स्वस्थ परम्पराएँ समाज मे सदस्यो की शक्तियो और क्षमताओ के अपव्यय को रोकती है। यदि स्वस्थ परम्पराएँ न हो तो समाज को विभिन्न क्षेत्रो मे अनावश्यक रूप से नए-नए परीक्षण करने पडेंगे, और इस प्रकार शक्तियो तथा क्षमताओ का अनावश्यक व्यय होगा। दूसरी ओर जब स्वस्थ परम्पराएँ विद्यमान होगी तो कोई भी कार्य करते समय अतीत के अनुभवो के आधार पर हम आश्वस्त रहेगे, फलस्वरूप विभिन्न नए परीक्षणो की झझट से हम बच जाएँगे और हमारी शक्ति का उपयोग अन्य क्षेत्रो मे हो सकेगा।

परम्पराएँ इस दृष्टि मे भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे हमारे हृदय मे आत्मविश्वास और दृढता का सचार करती हैं। इनसे व्यक्तियो के व्यवहारो मे एकरूपता आती है। जो समाज स्वस्थ परम्पराओ से भरा-पूरा है, वह दूसरे समाजो के लिए उदाहरण

1 *Ginsberg* The Psychology of Society, p 104.
2 *Ross* : Social Psychology, p 168

बन सकता है। परम्पराओं के रूप में ज्ञान का जो संचित भण्डार हमें प्राप्त होता है, वह मानवता की अमूल्य धरोहर है।

5 परिपाटी एवं शिष्टाचार
(Convention and Etiquette)

परिपाटी– किंग्सले डेविस ने लिखा है कि परिपाटी और शिष्टाचार विशिष्ट प्रकार की लोकरीतियाँ हैं। इनका कोई गहन अर्थ नहीं होता, केवल सामाजिक सम्बन्धों में सरलता उत्पन्न करना ही इनका प्रमुख महत्त्व है।[1]

परिपाटी व्यवहार के अपेक्षाकृत एक निश्चित स्वरूप को स्पष्ट करती है जिसका किसी विशेष परिस्थिति में सामाजिक सम्बन्धों द्वारा अनुसरण अवश्य होना चाहिए।[2] सड़क के दाईं ओर मोटर चलाने का नियम एक परिपाटी है। इस नियम के पीछे पवित्रता का कोई भाव या कोई रहस्यवादी सिद्धान्त निहित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति ने केवल इस नियम को स्वीकार कर लिया है और वह इस बात से भी परिचित है कि इस नियम का पालन न करने पर सड़क पर चलना खतरनाक हो जाएगा। इसी प्रकार, यह भी एक परिपाटी ही है कि हम प्रायः किसी आदमी के मुँह पर ऐसी बातें नहीं कहते जो स्पष्ट रूप से उसके मित्रों को बुरा लग सकते हैं। कभी-कभी हँसी में हम कोई सत्य बात इसलिए कह देते हैं कि इसको असत्य मान लिया जाए, अथवा कटुता जैसी बात पैदा न हो। परिपाटियों के ये कुछ उदाहरण ही स्पष्ट संकेत करते हैं कि यदि इनका पालन न किया जाए तो हमारे सामाजिक सम्बन्ध अशोभनीय तथा असहनीय बन जाएंगे।

शिष्टाचार—इसका अभिप्राय किसी कार्य को करने का वह उचित ढंग है। किंग्सले डेविस ने शिष्टाचार की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—"इसका अर्थ यह है कि हम किसी कार्य को कई ढंगों से कर सकने के लिए स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु उनमें से एक अच्छा ढंग चुन लेते हैं। इस कारण वाह्य साधनों में शिष्टाचार एक प्रतीक के समान है, जिसे व्यक्ति के वर्ग का पद जाना जा सकता है। सामाजिक कार्यक्षमता और सरलता के दृष्टिकोण से इसका अधिक महत्त्व नहीं है, जैसे कि आप अपना काँटा और चाकू किस हाथ में पकड़ते हैं, किसी मित्र का परिचय दूसरे से किस प्रकार कराते हैं, अथवा शाम के भोजन के समय कौन से वस्त्र पहनते हैं। किन्तु, शिष्टाचार के दृष्टिकोण से यही तरीके एक बड़ी भिन्नता उत्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि अनेक विधियों में से उचित अथवा अनुचित ढंग को चुनना व्यक्ति का सामाजिक स्तरीयकरण में स्थान स्पष्ट करता है। इस प्रकार शिष्टाचार एक साधन है जिससे समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों की पहचान हो जाती है।"[3]

समाजशास्त्रीय भाषा में, प्रतिमानों की एक पद्धति के रूप में शिष्टाचार के तीन मूल उद्देश्यों को रॉबर्ट बीरस्टीड ने अग्रानुसार स्पष्ट किया है[4]—

1 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 62.
2 वही, पृष्ठ 62.
3 वही, पृष्ठ 63.
4 *Bierstedt*. Op cit, p.239.

1 अन्य प्रतिमानों की तरह, यह विशिष्ट अवसरों पर पालन की जाने वाली मानक प्रक्रियाओं को निर्धारित करता है।

2 यह "उन महत्वपूर्ण सामाजिक भेदों को सूचित करता है जिन्हें कुछ विशेष कारणों से समाज के कुछ भाग सदस्य बनाए रखना चाहते हैं।"

3 जहां पर घनिष्ठता या परिचितता आवश्यक न हो, वहां सामाजिक भेद बनाए रखने का काम शिष्टाचार ही करता है।

6. फैशन तथा सनक (Fashion and Fad)

फैशन का अर्थ एवं प्रकृति—फैशन से साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि मनुष्य में नवीनता और विभिन्नता के लिए परिवर्तन की एक चाह होती है। वह प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए भी नवीनता और परिवर्तन का प्रेमी होता है। इस विरोधाभास की प्राप्ति वह कुछ इस प्रकार के आदर्श नियमों के माध्यम से करता है जो यद्यपि बहुत थोड़े समय तक चलने वाले होते हैं, लेकिन उतने समय तक वह उनके प्रति निष्ठावान रहता है। ये ही आदर्श नियम फैशन, सनक या रुचि अथवा नवीनता के प्रति लगाव (Craze) कहे जाते हैं।[1] बीरस्टीड ने लिखा है—"अनुरूप और भिन्न बनने की विरोधी प्रवृत्तियों में समझौता कराने के लिए फैशन ही एक बहुत उपयुक्त कला है। फैशन की परिभाषा एक प्रतिमान के चारों ओर परिवर्तन की एक स्वीकृत परिधि (A permitted range of variation around a Norm) के रूप में की जा सकती है।"[2]

फैशन विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देता है, लेकिन शायद, यह वस्त्रों के दायरे में सर्वाधिक लोक प्रसिद्ध है। वस्त्रों में होने वाले नित्य नए परिवर्तन फैशन हो है। कुछ वर्षों पहले जिस तरह के वस्त्र बड़े प्रचलित समझे जाते थे, आज वे हास्यास्पद समझे जाते हैं। जो ढंग आज बड़ा सुन्दर लगता है, कुछ वर्षों बाद ही वह हास्यास्पद होकर समाप्त हो सकता है। कुछ पुरानी फोटो देखकर आज हम हँसते हैं और हो सकता है कि आज जो फोटो फैशन में है वे अगले कुछ वर्षों बाद हास्यास्पद बन जाएँ। इस प्रकार, फैशन का तात्पर्य केवल वस्त्रों में या अन्य ढंगों में होने वाले परिवर्तनों से ही नहीं है, बल्कि समाजशास्त्रीय अर्थों में इनका आशय उन मान्य परिवर्तनों से है जो प्रथा के ही अन्तर्गत होते हैं पर मूलभूत अवस्था को कोई हानि नहीं पहुँचाते। फैशन का काम विभिन्नता को अनुमति देना और उसे नियमित करना, और जो भद्दी तथा मृतप्राय एकरूपता है उसे दूर करना होता है।[3] जनमत, विश्वास, वस्त्र, शृंगार, साहित्य, कला एवं संगीत, मनोरंजन आदि फैशन के प्रमुख क्षेत्र हैं, इन सभी क्षेत्रों में फैशन प्रथाओं के अनुसार ही हमारे व्यवहारों को नियन्त्रित और व्यवस्थित करता है।

1 किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 63.
2 Bierstedt : op cit, p 235
3 Ibid, P 235

तत्त्व या विशेषताएँ—उपरोक्त विवरण से फैशन की कुछ विशेषताएँ अथवा इसके कुछ तत्त्व स्पष्ट हैं—

(1) फैशन विभिन्न क्षेत्रों में वे मान्य परिवर्तन हैं जो प्रथाओं के अन्तर्गत ही हमारे व्यवहारों को नियन्त्रित और व्यवस्थित करते हैं।

(2) फैशन व्यक्ति की समाज के अनुरूप बने रहने की इच्छा की पूर्ति करते हैं। कोई भी नवीन व्यवहार या ढंग आरम्भ होने पर साधारणतया व्यक्ति उसी के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न करता है।

(3) फैशन का मौलिक तत्त्व समय है। इसीलिए हम नहीं कह सकते कि भविष्य में कैसे परिवर्तन होंगे और जो वर्तमान समय के फैशन हमें बड़े अच्छे तथा अपने आप में पूर्ण लगते हैं, वे भविष्य में क्या रूप लेंगे।

(4) फैशन इतनी शीघ्रता से बदलते हैं कि हर नए फैशन को समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्राय नहीं अपना पाता। कुछ लोग किसी फैशन को अपनाना आरम्भ करते हैं जबकि कुछ लोग इन्हें अपनाकर छोड़ना आरम्भ कर देते हैं।

(5) फैशन हमारे सामाजिक जीवन के बाह्य पक्ष से ही अधिक सम्बद्ध है।

फैशन और प्रथा में अन्तर—यद्यपि फैशन प्रथाओं के अनुसार ही हमारे व्यवहारों को नियन्त्रित और व्यवस्थित करते हैं, लेकिन फैशन और प्रथा में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। किंग्सले डेविस के शब्दों में, "फैशन का सम्बन्ध उन वस्तुओं से होता है जो तुच्छता के कारण बदलती रहती है, जबकि प्रथाओं का सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो बहुत महत्त्वपूर्ण होने के कारण परिवर्तित नहीं हो सकती। फैशन केवल परिवर्तन से ही सम्बन्धित है, किसी विशेष परिवर्तन का उससे कोई तात्पर्य नहीं है।" विख्यात् फ्रैंच समाजशास्त्री गेब्रियल टार्डे ने प्रथा और फैशन में एक मनोरंजक भेद किया है। उन्हीं के शब्दों में, 'प्रथा से अनुरूपता लाने में हम अपने पुरखों का अनुकरण करते हैं और फैशन से अनुरूपता लाने में अपने साथियों का।"

फैशन का प्रचार वर्तमान सभ्य समाज में आदिम अथवा कृषक समुदायों की अपेक्षा अधिक होता है। फैशन नवीनता को प्रोत्साहन देकर व्यक्ति की कार्य क्षमता को बढ़ाने में सहायक होता है। फैशन में परिवर्तन मान्य प्रथाओं के अन्तर्गत ही होने चाहिएँ अन्यथा समाज विशेष के मूल्यों को आघात पहुँच सकता है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में साड़ी पहनने की प्रथा है तो किसी भी प्रकार तरह-तरह की साड़ियाँ पहनी जा सकती है। लेकिन यदि औरतें ऊँची फ्रॉक पहनना आरम्भ कर दें तो देश के सामाजिक मूल्यों को ठेस पहुँच सकती है।

सनक—जब परिवर्तन आपेक्षित रूप से तेज या आडम्बर-पूर्ण या तुच्छ या अप्रत्याशित या अनुत्तरदायी या बेहूदा हो जाते हैं, तब वे फैशनों के बजाय सनक या अतिराग (Fads) बन जाते है।[1] डेविस ने उदाहरण सहित स्पष्टीकरण देते हुए लिखा है कि "सनक तथा परिवर्तन की झक फैशन की अपेक्षा अधिक परिवर्तनशील,

1. Ibid. p. 236

आडम्बरपूर्ण, अतार्किक और अस्थायी होती है। मध्यकाल में नृत्य की धुन एक प्रकार की झक थी, इसी प्रकार लिन्डी होप (Lindy Hop) नामक नृत्य एक सनक है। अपनी इन विशेषताओं के कारण सनक और झक, फैशन की तुलना में जनसंख्या के बहुत कम अनुपात तक ही सामान्यतया सीमित होती हैं। जब लम्बे स्कर्ट पहनने का फैशन आता है, तो सभी स्त्रियाँ अपना स्कर्ट लम्बा करवा लेती हैं, किन्तु जब कोई नए खेल या नृत्य के किसी कदम की धुन कुछ लोगों पर सवार होती है तो जनसंख्या का बहुत छोटा भाग ही उसमें सम्मिलित होता है। यह विवेचन स्पष्ट करता है कि समान रूप से फैशन की अपेक्षा सनक अथवा परिवर्तन की झक (Craze) का सामाजिक महत्त्व कम होता है। हम इसको आदर्श नियम न मानकर केवल भीड़ या व्यवहार का उदाहरणमात्र समझते हैं।"[1]

7. नैतिकता एवं धर्म (Morality and Religion)

सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में नैतिकता और धर्म की विस्तार से विवेचना एक अगले अध्याय में की गई है। सामाजिक प्रतिमानों के सन्दर्भ में हमें यहाँ संक्षेप में ही इन्हें समझ लेना उपयुक्त होगा।

नैतिकता शब्द कर्त्तव्य की आन्तरिक भावना पर बल देता है अर्थात् इसका सम्बन्ध 'उचित' और 'अनुचित', 'शुभ' और 'अशुभ' की भावना से है। दूसरे शब्दों में, जिन नियमों की स्वीकृति समाज द्वारा उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ की भावना के आधार पर होती है, उन नियमों की व्यवस्था को हम नैतिकता कहते हैं। किंग्सले डेविस के अनुसार "नैतिकता के अन्तर्गत किसी नियम को मानने के प्रति मनोभाव और कुछ मात्रा में व्यक्ति के व्यवहार सम्बन्धी चारित्रिक दृढ़ता तथा सिद्धान्तों का पालन सम्मिलित है। किसी आदर्श नियम (Norm) का पालन हम केवल इसलिए नहीं करते कि वह परम्परागत है, अथवा हमारे आस-पास के दूसरे लोग उसका पालन करते हैं बल्कि इसलिए भी करते हैं कि वह न्याय, पवित्रता सच्चाई आदि के अमूर्त सिद्धान्तों के अनुरूप है। इस प्रकार, नैतिकता प्रथा की अपेक्षा अधिक आत्म-चेतन, अमूर्त और अनुकूल प्रकृति की होती है इसलिए यह लोकाचारों के अधिक निकट है।"[2]

धर्म कुछ अलौकिक विश्वासों और ईश्वरीय सत्ता पर आधारित एक शक्ति है जिसके नियमों का पालन करने से हमें पुण्य का आकर्षण होता है और उन नियमों का उल्लंघन करने से हमें पाप का भय लगता है। धार्मिक नियमों और प्रतिमानों का लक्ष्य व्यक्ति को पवित्र आचरण करने का प्रोत्साहन देना तथा उसे शुभ मार्ग की ओर ले जाना होता है। धार्मिक नियम "स्वर्ग और नरक' की कल्पना के सहारे हमारे व्यवहारों को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। धर्म श्रद्धा और विश्वास की वस्तु है। यह तार्किक नियमों पर आधारित नहीं होता और न ही इसके लिए प्रमाणिकता का

1. किंग्सले डेविस वही, पेज 66
2 वही, पेज 61.

प्रश्न उठता है। जिस्बर्ट ने लिखा है कि धर्म-संहिता दो रूपो मे स्पष्ट होती है—एक तो इसका आन्तरिक रूप है और दूसरा वाह्य रूप। इसके आन्तरिक रूप मे हम धार्मिक विचारो, मान्यताओ तथा ईश्वर के प्रति हमारे उद्वेगो को सम्मिलित करते हैं। इसके वाह्य रूप मे हम मानव-सस्कारो, अनुष्ठानो, प्रार्थनाओ को लेते है। इनके द्वारा हमारी धार्मिक भावनाओ को मूर्त रूप प्राप्त होता है।

धार्मिक प्रतिमानो का सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने के साधन रूप मे विशेष महत्त्व है। लोग प्राय विश्वास करते हैं कि अपने समाज के धार्मिक प्रतिमानो को न मानने से दु ख भोगना पडेगा और परलोक भी बिगडेगा। विभिन्न धर्मों के नियम अलग अलग हैं जो सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने का कार्य अलग अलग आदर्शों द्वारा पूरा करते है। उदाहरणार्थ बौद्ध धर्म अहिंसा के द्वारा, जैन धर्म सत्य, अहिंसा, कर्म एव समानता के द्वारा तो ईसाई धर्म दस आदेशो या शिक्षाओ (Ten Commandments) के द्वारा अपना नियन्त्रणकारी प्रभाव रखता है।

8. वैधानिक नियम (Enacted Laws)

जिन प्रतिमानो को हम वैधानिक नियम अथवा राजकीय कानून कहते है उनसे हम सम्भवत आज सर्वाधिक परिचित हैं। पर, जहाँ सभी समाजो मे लोक-रीतियाँ और लोकाचार अवश्य होते है, वहाँ सभी समाजो मे वैधानिक नियम नही होते। वैधानिक नियम अथवा राजकीय कानून केवल उन्हीं समाजो मे अस्तित्व मे होते है जिनमे कोई राजनीतिक सगठन होता है, अर्थात् जिनमे कोई सरकार है। वैधानिक नियम विधानमण्डलो द्वारा बनाए जाते है अथवा जिनकी घोषणा राज्य की ओर से लिखित रूप मे होती है और जिनका उल्लघन करने पर राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। कुछ समाज इतने छोटे और साधारण होते हैं कि उनमे इन औपचारिक कार्यों का अभाव होता है। चूँकि वैधानिक नियम सदैव लिखित होते हैं और किसी न किसी रूप मे उनका रिकार्ड रखा जाता है, अत वे निरक्षर समाजो म नही पाए जा सकते।[1] यद्यपि कुछ लेखक कानून अथवा विधि का अर्थ व्यापक रूप मे लेते हैं और उसमे उन सब रिवाजो और नियमो को सम्मिलित कर लेते हैं जो किसी भी साक्षर या निरक्षर समाज मे किसी मान्य सत्ता द्वारा लागू किए जाते हों, और इस अर्थ मे वे "आदिम कानून" (Primitive law) की बात करते हैं। लेकिन, जैसा कि बीरस्टीड का अभिमत है समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह उचित है *कि वैधानिक नियमो (Laws) को औपचारिक रूप मे निर्मित और* अभिलेखित प्रतिमानो के रूप मे लिया जाए, खास तौर पर इसलिए कि तभी यह सम्भव होगा कि हम एक ओर वैधानिक नियमो तथा दूसरी ओर लोकरीतियो और लोकाचारो के बीच महत्त्वपूर्ण रूप से अन्तर कर सकें।[2]

1 Ibid, p 216
2 Ibid, P 216

लोकाचार और लोकरीतियां विकसित (Grow) होती हैं, जबकि वैधानिक नियम निर्मित (Enact) किए जाते हैं। जब किसी क्लास-रूम (Class room) मे विद्यार्थी पहली बार प्रवेश करते हैं तो वे अपनी इच्छानुसार सीटो पर बैठ जाते है और प्रतिदिन अपनी उन्ही सीटो पर बैठने लगते हैं। इस प्रकार क्लास मे बैठने की एक व्यवस्था (Sitting pattern) स्वत विकसित हो जाती है, उसका कोई पूर्व नियोजन नही होता। यह लोकरीति अथवा लोकाचार का उदाहरण है। दूसरी ओर वैधानिक नियमों का इस तरह विकास नही होता, वरन् उनका विधानमण्डलो द्वारा निर्माण होता है, न्यायालयो द्वारा उनकी व्याख्या की जाती है और पुलिस उन्हे लागू करती है। बीरस्टीड का स्पष्ट अभिमत है कि "अलिखित कानून" (Unwritten law) जैसी अभिव्यक्ति से आशय "कानूनों" (Laws) से न लेकर "लोकाचारो" (Mores) से लिया जाना चाहिए।[1] आदिम समाजो मे जो ऐसे नियम थे कि उनका पालन सभी के लिए अनिवार्य था, उन्हे प्रथागत विधियाँ (Customary laws) कहना उचित होगा, न कि "वैधानिक अथवा राजकीय विधियाँ" (Enacted laws)।

वैधानिक नियम संहिता मे दबाव और बाध्यता की विशेषताएँ होती हैं। राज्य सभी को वैधानिक नियमो के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य करता है। उनसे हमारे कार्य नियन्त्रित होते हैं। आधुनिक जटिल सामाजिक युग मे सघर्षों को रोकने और सामाजिक जीवन को सम्भव बनाने के लिए वैधानिक नियम अनिवार्य हैं। ये नियम सुविचारित होते है, अत बदलती हुई परिस्थितियो के अनुकूल बनने की क्षमता रखते हैं। समाज जितना ही गतिशील होगा, वह परम्परा से प्राप्त प्रथागत नियमो पर उतना हो कम निर्भर रहेगा और उतना ही अधिक नवीन वैधानिक नियमो पर आश्रित बनता जाएगा।

9 संस्थाएँ
(*Institutions*)

किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "संस्था को परस्पर सम्बन्धित लोकरीतियो, लोकाचारो तथा वैधानिक नियमो की समग्रता कह कर परिभाषित किया जा सकता है, जो एक अथवा अधिक कार्यों के लिए बनाई गई हो। यह सामाजिक संरचना का एक भाग होती है जो अपने संगठन की घनिष्ठता तथा कार्यों की विभिन्नता द्वारा बनती है। लोकरीतियो तथा लोकाचारो के अभाव मे किसी संस्था का जन्म नही हो सकता।"[2]

हम उदाहरणो के माध्यम से "संस्था" को समझ सकते हैं। विवाह एक संस्था है। यह अनेक लोकरीतियो का एक संकुल है जिसमे विवाह की बात पक्की करना, विवाह की अंगूठी देना, चावल फेंकना, सुहागरात मनाना आदि सम्मिलित है। इसमे कुछ लोकाचार भी सम्मिलित हैं, जैसे विवाह से पूर्व लड़के-लड़की का

1 Ibid, P. 216
2 किंग्सले डेविस . वही, पृष्ठ 59.

ब्रह्मचर्य जीवन, विवाह के बाद दोनों का एक दूसरे के प्रति विश्वास की प्रतिज्ञा करना, पुरुष द्वारा पत्नी की रक्षा करने और उसका भरण-पोषण करने का भार लेना आदि। अन्त में, इसमें कुछ वैधानिक नियम भी सम्मिलित हैं, जैसे कानूनी मान्यता, समुचित कारण होने पर विवाह-विच्छेद का अधिकार, उचित आयु, निषेधात्मक सम्बन्धों का पालन आदि। ये सब आदर्श-नियम अथवा सामाजिक प्रतिमान एक साथ मिल कर एक सामाजिक सरचना को जन्म देते हैं, जैसे "विवाह की संस्था।" किम्बले डेविस के अनुसार "यह कहा जा सकता है कि जितनी भी राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा मनोरंजनकारी संस्थाएँ हैं, वे सभी भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्तर्सम्बन्धित लोकरीतियों, लोकाचारों और वैधानिक नियमों के उस ढाँचे का प्रतिनिधित्व करती हैं जो परस्पर संगठित हैं और विभिन्न प्रकार के कार्य करने के योग्य हैं।"

सामाजिक प्रतिमान तथा व्यक्ति
(Social Norms and the Individual)

सामाजिक प्रतिमानों अथवा आदर्श-नियमों का चाहे हम पूर्णतया पालन करें अथवा न करें, ये हमारे व्यवहारों तथा विचारों को अवश्य प्रभावित करते हैं। इन्हीं प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्ति अपने व्यवहार को व्यवस्थित और समाज के अन्य सदस्यों के अनुकूल बनाता है। वस्तुतः प्रतिमानों द्वारा ही समाज एक संगठित सरचना प्राप्त करता है। प्रतिमानों के द्वारा ही सामाजिक जीवन के कार्य व्यवस्थित बनते हैं।[1] हम ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते जो प्रतिमानों से रहित हो। यदि किसी समाज के अपने प्रतिमान न हों तो वह तो हॉब्स का अराजक और जगली समाज बन जाएगा जहाँ सहयोग का नहीं वरन् संघर्ष का बोलबाला होगा। व्यक्ति सामाजिक प्राणी इसलिए है कि वह विभिन्न प्रतिमानों को सीखता है तथा उनके माध्यम से अपने व्यवहार को सचालित करता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों को हम सामाजिक प्रतिमानों से पृथक् करके नहीं समझ सकते। दूसरे शब्दों में जब हम मानव समाज के बारे में विचार करते हैं तो हमारा अभिप्राय केवल व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की व्यवस्था से ही नहीं होता वरन् सामाजिक प्रतिमानों की व्यवस्था से भी होता है।

सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति के लिए इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके अभाव में उसका सामाजिक जीवन ही दूभर हो जाएगा। बीरस्टीड ने लिखा है कि "व्यक्ति के लिए प्रतिमानों का प्रमुख कार्य उन असख्य सामाजिक परिस्थितियों में जिनका कि वह सामना करता है और जिनमें कि वह भाग लेता है, निर्णय लेने की आवश्यकता को घटाना है।"[2]

प्रतिमान इस स्थिति को सम्भव बनाते हैं कि "जितने अधिक कार्यों का हम बिना विचारे कर सकते हैं, हम उतने ही अधिक अच्छे हैं।"[3] मेकाइवर के अनुसार

1. किम्बले डेविस वही, पृष्ठ 66.
2. *Bierstedt* op cit, P. 211
3. Ibid, P 211

भी "सामाजिक प्रतिमानों के बिना निर्णय का भार असहनीय होगा तथा आचरण की तरी पूरी तरह खोखला देने वाली होगी।"

प्रतिमान व्यक्ति के जीवन को कितना सरल, सुविधामय और स्वचालित बना देते हैं, यह एक रोचक उदाहरण से स्पष्ट है जो कि रॉबर्ट बीरस्टीड ने निम्नवत् प्रस्तुत किया है—

"एक काल्पनिक स्नातक कक्षा के विद्यार्थी का मामला लीजिए और देखिए कि हमारे समाज के प्रतिमान, उसके लिए क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए के विचार में सारा दिन खर्च किए बिना ही, दिन बिताना कैसे सम्भव बनाते हैं। प्रातःकाल जब वह जागता है तब उसको यह निर्णय नहीं करना पड़ता है कि वह जूते पहने या नहीं, कि दाढ़ी एक उस्तरे से बनाए या एक छोटे चाकू से, कि अपने सहवासियों का स्वागत अंग्रेजी में करे या अन्य किसी भाषा में, कि अपने वाक्यों में उद्देश्य को विधेय पद के पूर्व रखे, कि अपनी कॉफी को एक चम्मच से हिलावे या एक काँटे से, कि अपने रास्ते के साथियों को छोड़ने पर 'हैलो' (Hello) कहे या 'सो लोंग' (So long) कि क्या उपमार्ग के चबूतरे या बस की सूखी मिट्टी में कील, नुकीली चीज, या बिल्ला डालना चाहिए। अथवा, यदि वह कार चला रहा है तो, एक समीप आती हुई कार को दाहिनी ओर से निकलने दे या बायीं ओर से, कि अपने प्रोफेसर को 'बच' (Butch) के रूप में सम्बोधित करे या कि 'डॉ जॉन्स' के रूप में, कि कक्षा में धूम्रपान करे या नहीं, कि कक्षा में कब तक बने और कब नहीं, कि दोपहर के बाद बेसबाल खेले या क्रिकेट। इसी तरह की और भी बातें इसमें भी बहुत बड़े वाक्य में रखी जा सकती हैं।"[1]

बीरस्टीड ने उपरोक्त उदाहरण देकर बताया है कि प्रतिमानों के सहारे ये सब काम स्वचालित ढंग से होते रहते हैं, हमें इनके बारे में निर्णय करने सम्बन्धी कोई विचार नहीं करने पड़ते। वास्तव में, यदि प्रतिमान न हों तो हमारे सामाजिक सम्बन्ध ऊल-जलूल, अराजक, और सम्भवतया हानिकारक हो जाएँगे। ये प्रतिमान ही हैं जो सामाजिक जीवन को व्यवस्था, स्थिरता, तथा निश्चयात्मकता प्रदान करते हैं और परिणामस्वरूप सामाजिक संरचना के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। जहाँ कोई प्रतिमान नहीं है वहाँ फिर समाज भी नहीं है।[2]

सामाजिक प्रतिमान न केवल हमारे निर्णयों को सरल बनाते हैं और हमारे बहुत से कार्यों को स्वचालित बनाते हैं, बल्कि सामाजिक सीख की प्रक्रिया को भी सरल बना देते हैं। प्रतिमानों के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अधिकार को स्वयं ही प्राप्त कर लेने का दावा करने लगेगा जिससे सामाजिक संघर्षों की स्थिति पैदा हो जाएगी और व्यक्ति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। प्रतिमान इस स्थिति से हमें बचाते हैं। प्रतिमान सामाजिक सीख के लिए एक स्वस्थ वातावरण तैयार कर देते हैं और उन तरीकों को स्पष्ट कर देते हैं जिनके द्वारा हम अपने कार्यों को

1. बीरस्टीड - सामाजिक व्यवस्था (हिन्दी अनुवाद by गुप्ता एवं जेटली), पेज 237
2. वही, पेज 238.

व्यवस्थित और सुचारु ढंग से कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक प्रतिमान बाह्य बन्धन के रूप में नहीं होते, अतः हमारे हृदय में प्रायः यह भावना पैदा नहीं होती कि इन्हें स्वीकार करें या इनसे बचें। प्रतिमानों की सर्वोपरि उपयोगिता इस बात में है कि ये हमारे व्यक्तित्व का अंग बनकर हमारा पथ प्रदर्शन करते हैं। ये हमसे इतने अभिन्न बन चुके हैं कि हम इनकी सत्ता का अनुभव किए बिना ही इनके अनुसार व्यवहार करते रहते हैं।

इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे जीवन में प्रतिमान ही सब कुछ हैं और प्रत्येक प्रतिमान का हमें अक्षरशः पालन करना चाहिए। प्रतिमान और व्यक्ति के सम्बन्ध में स्थिति लगभग वैसी ही है कि जिस प्रकार एक माँ की आकांक्षा होती है कि बच्चा उसकी आशाओं के अनुरूप व्यवहार करे, उसी तरह समाज अपेक्षा करता है कि उसके सदस्य प्रतिमानों का पालन करेंगे। अब व्यक्ति किस अनुपात में सामाजिक प्रतिमानों का पालन करता है, यह उसकी विभिन्न परिस्थितियों पर निर्भर है। पुनश्च, हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक सामाजिक प्रतिमान सभी व्यक्तियों पर तथा सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू नहीं होता। एक विशेष स्थिति (Status) के व्यक्ति के लिए जो प्रतिमान उचित है, वही दूसरी स्थिति के व्यक्ति के लिए अनुचित अथवा कम महत्त्वपूर्ण हो सकता है। कुछ प्रतिमान बहुत ही आवश्यक होते हैं जिनका पालन करने की अपेक्षा समाज के सभी सदस्यों से की जाती है जबकि कुछ प्रतिमानों का हम संशोधित रूप में पालन कर सकते हैं। अनेक प्रतिमान इतने कम महत्त्वपूर्ण होते हैं कि उनका पालन न भी किया जाए तो भी किसी गम्भीर प्रतिक्रिया की सम्भावना नहीं होगी। संक्षेप में, प्रतिमान निरंकुश और बाध्यकारी प्रकृति के नहीं होते वरन् परिस्थितियों के अनुरूप इनमें समुचित संशोधन और परिवर्तन के मार्ग खुले रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिमानों के वैकल्पिक चुनाव की भी व्यक्ति को काफी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। आधुनिक सुसंस्कृत व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह दाढ़ी बनाए, पर उसे इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह दाढ़ी सेफ्टी रेजर से बनाए, विद्युत मशीन से या किसी पुराने ढंग के लम्बे उस्तरे से।

अन्त में, हम सामाजिक प्रतिमानों की कोई पूर्ण सूची नहीं बना सकते। किसी भी जनजाति, समुदाय अथवा राष्ट्र में प्रतिमानों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनकी सूची कभी समाप्त ही नहीं होगी। समाजशास्त्री प्रतिमानों की सूची को नहीं देखता वह तो प्रतिमानों की व्यवस्था को समझना चाहता है।[1]

हम प्रतिमानों से अनुरूपता क्यों रखते हैं ?
(Why We Conform to the Norm, ?)

रॉबर्ट बीरस्टीड ने उन प्रमुख आधारों की चर्चा की है जिनकी वजह से हम प्रतिमानों से समानरूपता रखते हैं। इन आधारों का उल्लेख करते समय बीरस्टीड ने लोकाचारों, लोक-रीतियों और कानून में भेद करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी है। प्रतिमानों से समानरूपता के मूल में मुख्य आधार ये हैं[2]—

1 पिछले देखिए पेज 66
2 बीरस्टीड सामाजिक व्यवस्था, पेज 2[illegible]

1 सिद्धान्त शिक्षण (Indoctrination)—प्रतिमानो से समानरूपता रखने का प्रथम कारण यह है कि हमको ऐसा करने के लिए शिक्षा दी गई है। अपने बचपन से लेकर हमे समाज के प्रतिमानो का पालन करने की सीख दी गई है। उदाहरण के लिए, हमको सिखाया जाता है कि दिन मे अमुक समय पर भोजन करना चाहिए, अपने से बडो को आदरपूर्वक सम्बोधन करना चाहिए, अपने भाषण से अमुक अशिष्टताओ को निकाल देना चाहिए, बाएँ से दाएँ को लिखना-पढना चाहिए, छोटे बच्चो को पीटना नही चाहिऐ, आदि। वास्तव मे बच्चे का "समाजीकरण" उसके अपने समाज के प्रतिमानो को सीखने की प्रक्रिया ही है। बहुत-सी स्थितियो मे हम प्रतिमानो से अनुरूपता बनाते हैं क्योकि हम कोई विकल्प नही जानते।

2 अभ्यस्तता (Habituation)—प्रतिमानो से अनुरूपता रखने का दूसरा कारण यह है कि हम उनके आदि हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, चाकू, काँटा और चम्मच के प्रयोग के लिए हमे शिक्षा दी जाती है और कुछ समय के बाद इनका प्रयोग एक आदत का विषय बन जाता है। जब कोई व्यक्ति इस अभ्यास का आदी बन चुकता है तो वह उसे बिना किसी परिवर्तन अथवा प्रयास के अपने आप करने लगता है। वास्तव मे किसी लोकरीति का उल्लघन करना उससे अनुरूपता बनाए रखने की अपेक्षा अधिक कठिन हो जाता है। स्पष्ट है कि अभ्यस्तता प्रतिमानो को शक्तिशाली बनाती है और अनुरूपता की नियमितता की सुरक्षा करती है।

3 उपयोगिता (Utility)—समाज के प्रतिमान के अनुरूपता बनाए रखने का तीसरा कारण उनकी उपयोगिताएँ हैं। प्रतिमान हमको सबकी सर्वोत्तम रुचियो के लिए सहायक ढग से दूसरो के साथ परस्पर व्यवहार करने के लिए समर्थ बनाते हैं तथा सामाजिक सम्पर्क की सरलता मे योगदान करते हैं।

4 समूह तादात्मीकरण (Group Identification)—प्रतिमानो से अनुरूपता का चौथा कारण यह है कि अनुरूपता समूह से तादात्मीकरण का एक साधन है। उदाहरणार्थ, हम अपने से सम्बन्ध न रखने वाले समूहो के प्रतिमानो के बजाय अपने निजी सामाजिक समूह के प्रतिमानो से अनुरूपता रख सकते हैं, इसलिए नही कि हम अपनो को श्रेष्ठ मानते हैं, और इसलिए भी नहीं कि हमको विशेषकर उन्ही की शिक्षा दी गई है तथा उन्ही की आदत है बल्कि इसलिए कि उनसे अनुरूपता रखने के लिए हम इन समूहो के साथ अपनी पहचान को दर्शाते हैं। लोक-रीतियाँ सदैव तर्कसगत नहीं होती, लेकिन फिर भी हम उनसे अनुरूपता बनाते हैं क्योकि वे हमारी अपनी हैं, क्योकि वे हमारा, हमारे निजी समाज और हमारे निजी सामाजिक समूहो से परिचय कराती हैं।

7 सामाजिक परिवर्तन, उद्‌विकास और प्रगति के सिद्धान्त

(THEORIES OF SOCIAL CHANGE, EVOLUTION AND PROGRESS)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। समाज इसी प्रकृति का एक अंग है, अत: सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक है। परिवर्तन की प्रक्रिया कभी रुकती नही। हम किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नही कर सकते जो पूर्णत स्थिर (Static) हो। यदि हम 1874 और 1974 के समाजो की तुलना करें तो सभी दशाओ मे जो परिवर्तन हुए है उन्हें देखकर हम विस्मित हो जाएँगे। मानव-समाज की जो सरचना अतीत मे थी वह आज नही है और जो आज है वह कुछ वर्षों बाद नही रहेगी। पूरा समाज ही नही, बल्कि व्यक्ति का जीवन भी बचपन से युवावस्था, फिर वृद्धावस्था और अन्त मे मृत्यु के स्तर को परिवर्तित होता रहता है। धीरे-धीरे परिवर्तन की यह प्रक्रिया 'उद्‌विकास' (Evolution) कहलाती है, लेकिन यह भी परिवर्तन का ही एक विशिष्ट स्वरूप है।

प्रत्येक समाज मे परिवर्तन की 'प्रकृति' समान नही होती। यहाँ 'प्रकृति' से हमारा आशय 'गति' (Speed) तथा 'स्वरूप' (Form) से है। कुछ समाजो मे परिवर्तन की गति तीव्र होती है तो कुछ मे मद। पर परिवर्तन की प्रक्रिया चलती अवश्य रहती है। इसी प्रकार परिवर्तन के स्वरूप मे भी भिन्नता हो सकती है। किसी समाज मे धार्मिक पक्ष मे तीव्र परिवर्तन होते हैं तो किसी मे आर्थिक या राजनीतिक पक्ष मे। यह भी नही होता कि समाज के एक पक्ष मे तो परिवर्तन होता रहे जबकि दूसरा पक्ष 'स्थिर' बना रहे। सामाजिक जीवन के किसी भी एक पक्ष मे परिवर्तन दूसरे पक्षो मे भी न्यूनाधिक परिवर्तन अवश्य ही लाएगा। परिवर्तन की अवधारणा 'समय' से भी सम्बन्धित है, अर्थात् परिवर्तन की गति प्रत्येक समय अथवा प्रत्येक युग मे समान नही होती। मुगलकालीन भारतीय समाज मे परिवर्तन की जो गति थी वह ब्रिटिश कालीन समाज मे नही रही और ब्रिटिश काल मे जो

1 *A W Green* Sociology, p 615.

गति रही उससे कही अधिक तीव्र गति से परिवर्तन वर्तमान स्वतन्त्र भारत के समाज मे हो रहे हैं। पुनश्च, यह भी है कि परम्परागत समाजो की तुलना मे खुले अथवा मुक्त समाजो (Open Societies) मे परिवर्तन की गति अधिक होती है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पहलुओ का विवेचन करेंगे। हमारे अध्ययन की रूपरेखा निम्नवत् होगी—

(1) सामाजिक परिवर्तन अर्थ एवं परिभाषा
(2) सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ
(3) सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान
(4) सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ
(5) सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित अन्य अवधारणाएँ
(6) सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन मे अन्तर
(7) परिवर्तन की दर
(8) सामाजिक परिवर्तन के कारक
(9) सामाजिक परिवर्तन की दशाएँ

सामाजिक परिवर्तन : अर्थ एवं परिभाषा
(Social Change : Meaning and Definition)

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौम और निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है। जब हम परिवर्तन शब्द के पीछे सामाजिक शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे हमारा आशय मानव समाज मे होने वाले परिवर्तनों से होता है। आज हमे मानव समाज का जो भी रूप दिखायी देता है, वह वस्तुत परिवर्तनों की प्रक्रिया का ही परिणाम है। प्रत्येक बात जिसको हम सामाजिक कहते हैं, कभी भी स्थिर नही रहती बल्कि गतिशील और परिवर्तनशील रहती है।

सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। कुछ के अनुसार सामाजिक ढांचे मे होने वाले परिवर्तनो को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है तो कुछ दूसरो के अनुसार सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तनो को ही सामाजिक परिवर्तन कहना उचित है। वास्तव मे, मोटे तौर पर समाज मे अथवा समाज के सदस्यो के जीवन मे जो परिवर्तन होते हैं उन्हें ही सामाजिक परिवर्तन कहना उपयुक्त है।

पारिभाषिक विवेचन की दृष्टि से लें तो मेरिल एव एलड्रीज (Merill and Eldredge) के शब्दो मे, "सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों मे सलग्न हैं जो कि उनके पहले के लोगो के कार्यों से भिन्न हैं। समाज प्रतिमानित (Patterned) मानवीय सम्बन्धो का एक विशाल और जटिल जाल-सा है जिसमे सभी मनुष्य भाग लेते हैं। जब मानव-व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया मे होता है तो हम इसी बात को दूसरे रूप मे कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[1] स्पष्ट है कि इस परिभाषा मे सामाजिक

1. *Merill and Eldredge* : Culture and Society, pp 512-13

परिवर्तन की कसौटी के रूप मे मानवीय क्रिया-कलापो को लिया गया है। मानवीय क्रिया-कलाप ही उनके व्यवहारो को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन मानवीय क्रिया-कलापो अथवा मानवीय व्यवहारो में होने वाला परिवर्तन है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनो से है जो सामाजिक सगठन मे होते हैं—अर्थात् समाज की सरचना और समाज के कार्यों मे।"[1] इस परिभाषा के अनुसार सामाजिक सगठन की सरचनात्मक (Structural) और प्रकार्यात्मक (Functional) दोनो पक्षो मे होने वाले परिवर्तनो को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे। दूसरे शब्दो मे सामाजिक परिवर्तन से आशय समाज की किन्ही एक-दो विशेषताओ मे नही बल्कि सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन है।

डॉसन एव गेटिस (Dawson & Gettys) के अनुसार, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है क्योंकि सम्पूर्ण सस्कृति अपनी उत्पत्ति, अपने अर्थ और प्रयोग म सामाजिक है।"[2] इन लेखको ने सामाजिक एव सांस्कृतिक परिवर्तन मे कोई अन्तर नहीं माना है, क्योकि इनका विचार है कि सस्कृति वास्तव म एक सामाजिक घटना है जिसकी उत्पत्ति सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही होती है। अत सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन मे अन्तर करना कोई मायने नही रखता।

गिलिन एव गिलिन (Gillin & Gillin) ने लिखा है कि "सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियो मे परिवर्तनो को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओ के परिवर्तनो से हुए हो अथवा सांस्कृतिक साधनो, जनसख्या की रचना या सिद्धान्तो के परिवर्तनो से हुए हो या प्रसार से हुए हो अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कारो के फलस्वरूप हुए हो।"[3] यह परिभाषा उन विभिन्न कारणो को प्रस्तुत करती है जिनके कारण सामाजिक परिवर्तन घटित होता है।

मेकाइवर एव पेज (MacIver & Page) के अनुसार, "समाजशास्त्री के रूप मे हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धो म है अत केवल सामाजिक सम्बन्धो म होने वाले परिवर्तनो को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"[4] जेन्सन (Jenson) के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन को लोगो के कार्य करने और विचार करने की पद्धतियो म होने वाला परिवर्तन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[5] मकाइवर और जेन्सन की ये दोनो ही परिभाषाएँ सामाजिक परिवर्तन के विस्तृत क्षेत्र पर प्रकाश डालती हैं।

इन सभी परिभाषाओ का निचोड़ निकालें तो हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक और निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है जिसमे समाज द्वारा

1. किंग्सले डेविस, वही, पृष्ठ 544
2 *Dawson & Gettys* · Introduction to Sociology p 580
3 *Gillin & Gillin* : Cultural Sociology, pp 561 62
4 *MacIver & Page*, Society, p 511
5 *M D Jenson* Introduction to Sociology and Social Problems, p 190

M.A Unhealted

S.W.M.

स्वीकृत सम्बन्धो, प्रक्रियाओ, प्रतिमानो, सस्थाओ आदि के रूपो मे इस प्रकार परिवर्तन उपस्थित होते रहते हैं कि हमारे समक्ष उनसे पुन. अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। वस्तुत. आज हम एक बहुत तीव्र और विशाल रूप से परिवर्तित होने वाले समाज मे रह रहे है। जीवन के प्रत्येक स्तर पर हमे परिवर्तन दिखायी देता है। वैयक्तिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रो मे सामाजिक ढगो, रूपो, व्यवहारो और आदर्शो मे परिवर्तन होता है। समाज कभी स्थिर नही रहता, यह सदैव बदलता रहता है। प्राचीन समाजो में परिवर्तन की प्रक्रिया चाहे बहुत धीमी रही हो, लेकिन आधुनिक सभ्य समाजो मे यह प्रक्रिया सापेक्षिक रूप से बहुत तीव्र है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सभी समाजो मे एक सी नही होती अर्थात् अलग-अलग समाजो मे इसकी गति और इसके रूपो मे, भिन्नता होती है। फिर भी हम इसकी प्रकृति से सम्बन्धित कुछ आधारभूत विशेषताओ का उल्लेख कर सकते हैं—

1 सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामुदायिक परिवर्तन मे है—जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, सामाजिक परिवर्तन मे अन्तर्निहित परिवर्तन की धारणा "वैयक्तिक" नही है। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष या समूह विशेष के जीवन मे होने वाले परिवर्तनो से न होकर वास्तव मे सामुदायिक परिवर्तनो से है।

2 सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है—सामाजिक परिवर्तन एक स्वाभाविक और अनिवार्य घटना है। ऐसा नही हो सकता कि सामाजिक परिवर्तन घटित न हो। किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन सदैव होता रहता है और वह सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। यह सम्भव है कि विभिन्न समाजो मे परिवर्तन की मात्रा मे अन्तर हो, लेकिन यह सम्भव नही है कि परिवर्तन हो ही नही। समाज की आवश्यकताएँ सदैव बदलती रहती हैं और मानववृत्तियो तथा रुचियो मे परिवर्तन आता रहता है। नवीन परिस्थितियो से अनुकूलन करना ही पडता है। इन सभी कारणो से सामाजिक परिवर्तन एक आवश्यक स्थिति है, अर्थात् यह सदैव विद्यमान रहती है।

3 सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है—सामाजिक परिवर्तन बिना किसी अपवाद के ससार के सभी समाजो मे सामान्य है। मानव समाज के इतिहास के आरम्भ से लेकर आज तक समाज का रूप चाहे जैसा भी रहा हो, परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही है। परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रभाव इतना सर्वव्यापी होता है कि कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नही पाए जाते। व्यक्तियो, समूहो और समाजो की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं और उनका रूप सामाजिक परिवर्तन द्वारा निश्चित होता रहता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक परिवर्तन अनेक नवीन परिवर्तनो का जनक होता है। यदि परिवहन और सचार साधनो मे वृद्धि होगी तो सामाजिक गतिशीलता भी बढेगी और इसी प्रकार अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ेगा ही।

4. सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती--कोई भी व्यक्ति यह भविष्यवाणी नही कर सकता कि समाज मे कौन-कौन से परिवर्तन होगे और कब होगे ? अधिक से अधिक परिवर्तन की सम्भावना मात्र प्रकट की जा सकती है। इस सम्भावना का सकेत दिया जा सकता है कि आगामी कुछ वर्षों मे विवाह की पद्धति कैसी हो जाएगी, औद्योगिक परिवर्तन के फलस्वरूप अपराध कितने बढ जाऐंगे और वे किस प्रकार होने लगेंगे ? लेकिन इन सबके बारे मे निश्चित भविष्यवाणी करना सम्भव नही है। अभिप्राय यह है कि सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओ को व्यक्त कर सकते हैं, उनके बारे मे निश्चित मत प्रकट नही कर सकते। सामाजिक परिवर्तन अत्यधिक अस्पष्ट एव अनिश्चित होते हैं।

5 सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है--सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को हम चित्रो द्वारा स्पष्ट नही कर सकते। इसका सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों (Qualitative Change) से है। गुणात्मक तथ्यो का माप नही हो सकता। अत सामाजिक परिवर्तन की जटिलता भी बहुत अधिक बढ जाती है। भौतिक वस्तुओ मे होने वाला परिवर्तन अधिक सरल होता है जबकि सांस्कृतिक मूल्य (Cultural Values) मे इतना जटिल होता है कि हम सरलता से उसके रूप भी नही समझ सकते। ज्यो-ज्यो सामाजिक परिवर्तन की मात्रा बढती जाती है त्यो-त्यो वह अधिक जटिल और दूरस्थ (Complex and Distant) होता जाता है।

6 सामाजिक परिवर्तन की गति असमान होती है--सामाजिक परिवर्तन एक सतत् प्रक्रिया है, लेकिन इसकी गति प्रत्येक समाज मे अथवा एक ही समाज के विभिन्न पक्षो म समान नही होती। चूँकि सामाजिक परिवर्तन के कारक प्रत्येक समाज मे समान रूप से क्रियाशील नही होते अत सामाजिक परिवर्तन की गति का असमान होना स्वाभाविक है। जिन समाजो मे परिवर्तन के कारण अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं वहाँ परिवर्तन की गति तीव्र होती है बनिस्पत उन समाजो मे जहाँ कि परिवर्तन के कारक शिथिल या कम प्रभावपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार एक ही समाज के विभिन्न अगो मे भी परिवर्तन की समान गति नही पाई जाती। यह सम्भव नही है कि अर्थव्यवस्था मे भी उसी गति से परिवर्तन हो जिस गति से राजनीतिक व्यवस्था मे परिवर्तन हो रहे हो अथवा जाति व्यवस्था, विवाह तथा अन्य सामाजिक मूल्यो और आदर्शो मे हो रहे हो। प्राय आर्थिक परिवर्तनो की गति सामाजिक परिवर्तनो की तुलना मे अधिक तेज होती है।

7 सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक है--हम सामाजिक परिवर्तन का अनुमान किन्ही दो या अधिक समाजों की तुलना करके ही लगा सकते हैं। हम कह चुके हैं कि परिवर्तन की गति और मात्रा मे अन्तर होता है। किन्ही समाजो मे परिवर्तन कम और धीरे-धीरे होता है तो दूसरे समाजो मे प्रति क्षण नवीन परिवर्तन होता रहता है। यही नही, गाँवो मे प्राय परिवर्तन की गति धीमी रहती है जबकि नगरो मे बडी तेज होती है। कभी-कभी कुछ विशेष घटनाएँ या परिस्थितियाँ (जैसे औद्योगिक क्रान्ति) आकस्मिक रूप से ऐसे परिवर्तनो को जन्म दे देती है जिनका हमे

पहले से अनुमान नहीं होता। कहने का सार यह है कि दूसरी परिस्थितियों की तुलना में ही सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट किया जा सकता है। हम यह नहीं कहते कि "परिवर्तन हो रहा है" पर यह अवश्य विचारते हैं कि पूर्वापेक्षा यह परिवर्तन कितना और कैसा हो रहा है?

मूर द्वारा बताई गई विशेषताएँ

विख्यात् समाजशास्त्री मूर (W E Moore) ने आधुनिक समाजो के सन्दर्भ मे सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताओ को स्पष्ट किया है[1]—

1 सामाजिक परिवर्तन बिना किसी अपवाद के एक अनिवार्य नियम है, अर्थात् सामाजिक सरचना के किसी न किसी अग मे परिवर्तन अवश्य होता रहता है। सामाजिक पुनर्निर्माण के दौरान परिवर्तनो की गति सबसे तेज होती है।

2. पूर्वापेक्षा वर्तमान युग मे सामाजिक परिवर्तनो का अनुपात कहीं अधिक है और इन परिवर्तनो को हम अधिक स्पष्ट रूप से देख भी सकते है।

3. परिवर्तन का फैलाव यद्यपि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रो मे है लेकिन विचारो और सस्थाओं मे परिवर्तन की गति से कही अधिक तेज गति भौतिक वस्तुओ के क्षेत्र मे देखने को मिलती है।

4 स्वाभाविक ढग से और सामान्य गति से होने वाले परिवर्तनो का हमारे विचारो तथा हमारी सामाजिक सरचना पर अधिक प्रभाव पडता है।

5 सामाजिक परिवर्तनो के बारे मे हम अनुमान ही लगा सकते हैं, निश्चित रूप से कुछ नही कर सकते।

6 सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है अर्थात् इसके अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को परिवर्तित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि समाज इसके अच्छे अथवा बुरे प्रभावो से परिचित नही हो जाता।

7 आधुनिक समाजो मे सामाजिक परिवर्तन मनमाने और असगठित ढग से नही किया जाता बल्कि 'सामाजिक नियोजन' द्वारा इसे नियन्त्रित रखकर इच्छित उद्देश्यो की पूर्ति की दिशा मे क्रियाशील बनाया जाता है।

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान
(Patterns of Social Change)

हम कह चुके है कि सभी समाजो मे और सभी समयो मे सामाजिक परिवर्तन एक-सा नही होता। अत स्वाभाविक है कि सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न रूप अथवा प्रतिमान (Pattern) देखने को मिलें। मेकाइवर एव पेज ने सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमानो का उल्लेख किया है[2]—

प्रथम प्रतिमान—इसके अन्तर्गत हम उन परिवर्तनो को लेते हैं जो एकाएक हमारे सामने आ जाते हैं पर एक बार उत्पन्न होने के बाद निरन्तर कुछ न कुछ आगामी परिवर्तनों को जन्म देते है। उदाहरण के लिए एक नवीन आविष्कार समाज

1 *W E Moore* : Social Change, p 2

2 *MacIvor & Page* : op. cit , pp. 519-521.

में न केवल आकस्मिक परिवर्तन लाता है बल्कि अनेक आगामी परिवर्तनों का क्रम या सिलसिला भी उत्पन्न करता है। उस आविष्कार में ज्यों-ज्यों सुधार होते जाते हैं, परिवर्तनों का सिलसिला आगे बढ़ता रहता है। टेलीफोन, मोटर कार, हवाई जहाज, रेडियो आदि आविष्कारों के इतिहास में यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से देखी जाती है। चूँकि इस प्रथम प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तनों की प्रकृति निरन्तर एक ही दिशा में आगे बढ़ने की ओर होती है, अतः ऐसे परिवर्तनों को "रेखीय परिवर्तन" (Linear Change) भी कहते हैं।

द्वितीय प्रतिमान—इस प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तन की प्रवृत्ति निरन्तर एक ही दिशा में आगे की ओर बढ़ने की बनिस्पत ऊपर-नीचे जाने की होती है। दूसरे शब्दों में कुछ समय तक परिवर्तन ह्रास या प्रगति की ओर बढ़ने के बाद विपरीत दिशा की ओर अर्थात् प्रगति या ह्रास की ओर मुड़ जाता है। चूँकि इस द्वितीय प्रतिमान में परिवर्तनों की दिशा ऊपर से नीचे की ओर तथा फिर नीचे से ऊपर की ओर (अथवा पहले नीचे से ऊपर की ओर तथा फिर ऊपर से नीचे की ओर) होती है अतः इन परिवर्तनों को "उतार-चढ़ावदार परिवर्तन" (Fluctuating Change) भी कहते हैं। इस ढंग का परिवर्तन विशेषकर आर्थिक घटनाओं और अधिक लम्बे कालों के जनसंख्या के कार्य-व्यापारों में देखा जा सकता है। नगरों का पहले विकास होता है और तब ह्रास। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति और अवनति होती है और इसी प्रकार व्यापारिक क्षेत्र में तेजी या मन्दी आती रहती है। प्रथम प्रतिमान में कम से कम इतनी निश्चितता रहती है कि परिवर्तन एक ही दिशा में होगा जब कि द्वितीय प्रतिमान में इस प्रकार की कोई निश्चितता नहीं रहती।

तृतीय प्रतिमान—यह प्रतिमान कुछ कुछ दूसरे प्रतिमान से मिलता-जुलता है। अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय प्रतिमान में परिवर्तन की दिशा एक सीमा के बाद विपरीत दिशा की ओर मुड़ जाती है और इस विपरीत रूप को हम निश्चित रूप से देख सकते हैं, जबकि तृतीय प्रतिमान में, लहरों की तरह एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता रहता है और यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरी लहर पहली लहर के विपरीत है या दूसरा परिवर्तन प्रथम के सन्दर्भ में ह्रास अथवा प्रगति का सूचक है। इसीलिए तृतीय प्रतिमान को "तरंगीय परिवर्तन" (Wave-like change) कहा जाता है। उदाहरण के लिए, समाज में नए-नए फैशनों की तरंग या लहर आती रहती है जिसमें पतन या प्रगति की कोई बात कहना कठिन है। जैसे समुद्र में लहर उठने समय इसका न तो कोई निश्चित आरम्भ होता है और न ही कोई निश्चित अन्त, लेकिन लहरों का आना-जाना लगभग एक निश्चित क्रम में बना रहता है, वैसे ही बहुत से विद्वानों ने मानवीय कार्यों, व्यवहारों और राजनीतिक क्रियाओं के परिवर्तनों को इसी प्रतिमान के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने इसी प्रतिमान को "चक्रीय परिवर्तन" (Cyclical change) की संज्ञा दी है, लेकिन यह धारणा भ्रामक है। चक्रीय परिवर्तन का अर्थ है कि परिवर्तन की गति गोलाकार में आगे बढ़ते-बढ़ते पुनः वहीं लौट आती है जहाँ

प्रारम्भ में थी, जबकि वास्तविकता यह है कि हम किसी परिवर्तन को, किसी विशेषता को दुबारा ग्रहण करते भी हैं तो भी उसमें कुछ न कुछ संशोधन अवश्य हो जाता है। अतः इस प्रतिमान को 'तरंगीय' कहना ही अधिक उपयुक्त है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ
(Processes of Social Change)

परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमानों के आधार पर समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की कुछ प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। हम मैकाइवर एवं सारोकिन के विचारों को ग्रहण करते हुए इन प्रक्रियाओं का विवरण देंगे। इनका अभिज्ञान आवश्यक भी है, क्योंकि किसी भी समाज में एक साथ ही परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएँ गठित होती हैं। कहीं समायोजन होता है। संघर्ष समायोजन को समाप्त कर देता है। कहीं प्रबलता स्थापित होती है और कहीं उसे उखाड़ फेंका जाता है। कहीं क्रान्ति होती है और कहीं वह दबायी जाती है। कहीं लोग नए लक्ष्यों को प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं और कहीं वे पुराने लक्ष्यों पर वापिस लौटना चाहते हैं।[1]

(1) एक चक्रीय प्रक्रिया (Cyclical Process) के रूप में सामाजिक परिवर्तन—इस प्रक्रिया के अन्तर्गत परिवर्तन की प्रकृति एक चक्र की भाँति होती है। परिवर्तन एक निश्चित क्षेत्र में होता है और जिस स्थिति से वह शुरू होता है, उसकी गति गोलाकार में आगे बढ़ते-बढ़ते पुनः उसी स्थान पर लौट आती है जहाँ पर कि वह प्रारम्भ में थी। उदाहरणार्थ, फैशन के क्षेत्र में वस्त्रों और आभूषणों के अनेक डिजाइन, संगीत, नृत्य आदि, जो कि बहुत प्राचीन या आदिकालीन समाजों में प्रचलित थे, परिवर्तनों के चक्र से गुजरते हुए पुनः आज के समाज में लौट आए हैं। भारत में वैदिक काल में विलम्ब-विवाह (Late marriage) का प्रचलन था जो परिवर्तन के चक्र में घूमता हुआ अब पुनः प्राचीन स्थिति में लौट आया है और आज हम कम उम्र में विवाह या बाल-विवाह को त्याग कर पुनः विलम्ब विवाह को अपनाने लगे हैं।

(2) विकासवादी प्रक्रिया (Evolutionary Process) के रूप में सामाजिक परिवर्तन—आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए उद्‌विकासवादी धारणा का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है। यद्यपि प्राचीन काल में सोफोक्लिस (Sophocles) ने समाज के उद्‌विकास की धारणा की व्याख्या का प्रयास किया था, लेकिन 19वीं शताब्दी में डार्विन के विश्लेषण के बाद उद्‌विकासवादी सिद्धान्तों की ओर अभूतपूर्व रूप से आकर्षण बढ़ा। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सामाजिक परिवर्तन की विकासवादी प्रक्रिया को एक निश्चित ढंग से प्रस्तुत किया और बाद में अनेक समाजशास्त्री इस दिशा में आगे बढ़े।

विकासवादी प्रक्रिया के अनुसार प्राणी-शास्त्रीय परिवर्तन की भाँति सामाजिक परिवर्तन भी कुछ आन्तरिक शक्तियों के कारण सम्भव होता है। किसी व्यक्ति के आन्तरिक और छिपे हुए तत्त्व स्वतः प्रकट हो कर वस्तु का रूप बदल देते हैं। यदि बाह्य शक्ति के दबाव से वस्तु के रूप में परिवर्तन हो तो इसे उद्‌विकासीय परिवर्तन

1. मैकाइवर तथा पेज, समाज, पेज 459.

नहीं कहा जा सकता। सामाजिक परिवर्तन की विकासवादी प्रक्रिया के समर्थकों का कहना है कि समाज और उसकी विभिन्न संस्थाएँ आन्तरिक शक्तियों के कारण अपने आप परिवर्तित होती रहती हैं। सामाजिक परिवर्तन धीरे धीरे कुछ निश्चित स्तरों से गुजरता हुआ सरल से जटिल की ओर होता है। उदाहरणार्थ, आरम्भ में समाज का रूप अत्यधिक सरल था, लेकिन विभिन्न स्तरों से धीरे-धीरे गुजरते हुए आज वह इतना जटिल हो गया है। उद्‌विकास की प्रक्रिया को कोई रोक नहीं सकता। यह निरन्तर क्रियाशील रहने वाला एक क्रमिक परिवर्तन है, सामाजिक परिवर्तन की एक प्रमुख प्रक्रिया है।

(3) प्रगति (Progress) के रूप में सामाजिक परिवर्तन—सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया तब सामने आती है जब परिवर्तन अच्छाई की दिशा में हो रहा हो। अच्छाई के लिए परिवर्तन ही प्रगति है। परिवर्तन सामाजिक मूल्यों के अनुसार होने चाहिए। समाज विरोधी उद्देश्यों के लिए होने वाले परिवर्तनों को हम प्रगति नहीं कह सकते। इस प्रकार प्रगति का नैतिकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सामाजिक परिवर्तन की उद्‌विकासीय प्रक्रिया में परिवर्तन आन्तरिक शक्तियों के फलस्वरूप धीरे-धीरे कुछ स्तरों को पार करते हुए सामने आता है जबकि प्रगति के रूप में सामाजिक परिवर्तन बाह्य शक्तियों द्वारा भी प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त, परिवर्तन बहुत तेजी से भी हो सकते हैं, एक के बाद दूसरे स्तर में से उनका गुजरना आवश्यक नहीं। प्रगति के रूप में सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक नहीं बल्कि अधिकांशतः परिमाणात्मक (Quantitative) होता है। यह समाज के लिए कल्याणकारी होता है और इस अच्छाई की मात्रा को देखा तथा मापा जा सकता है।

(4) क्रान्ति (Revolution) के रूप में सामाजिक परिवर्तन—यह सामाजिक परिवर्तन का चरम रूप है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया तब सामने आती है जबकि परिवर्तन बहुत ही आकस्मिक और विस्फोटक रूप में होता है। क्रान्ति की स्थिति में आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भारी उलट-फेर हो जाता है तथा एक नई समाज-व्यवस्था का निर्माण आवश्यक होता है। हम ध्यान से देखें तो क्रान्ति भी एक प्रक्रिया ही है क्योंकि क्रान्ति के लिए उत्तरदायी सभी परिस्थितियों और कारणों का विकास एकाएक नहीं हो जाता बल्कि उनका धीरे-धीरे संग्रह होता जाता है और तब चरम सीमा पर पहुँच कर उनका विस्फोट हो जाता है। क्रान्ति द्वारा परिवर्तन लाने के लिए हिंसात्मक साधन बहुधा काम में लाए जाते हैं। लेकिन 'औद्योगिक क्रान्ति' की तरह अहिंसक क्रान्ति के माध्यम से भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाए जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

(5) अनुकूलन (Adaptation) के रूप में सामाजिक परिवर्तन—प्राय अनुकूलन भी सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत विभिन्न समूह अथवा विभिन्न व्यक्ति सदैव एक दूसरे से समायोजन का प्रयत्न करते रहते हैं। अनुकूलन की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि व्यक्ति सदैव ही स्वयं को परिस्थितियों और पर्यावरण के अनुकूल नहीं बनाता बल्कि कभी-कभी पर्यावरण को

ही अपने अनुकूल बना लेता है या बना लेने का प्रयास करता है। इन दोनों ही स्थितियों में कोई न कोई परिवर्तन अवश्य होता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया अभियोजन (Adjustment), समायोजन (Accommodation), सात्मीकरण (Assimilation), एकरूपता (Harmony) आदि विभिन्न रूपों में देखने को मिलती है। अनुकूलन के रूप में परिवर्तन प्रत्येक समाज में सदैव विद्यमान रहता है। दोनों ही प्रक्रियाएँ (अर्थात् स्वयं को परिस्थितियों के अनुसार ढालने और आवश्यकतानुसार परिस्थितियों को ही बदल देना) समाज में सदैव क्रियाशील रहती है, फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन घटित होता रहता है।

सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन (Social Change and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए यह जान लेना चाहिए कि सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न है। कुछ समाजशास्त्रियों ने जैसे गिलिन एवं गिलिन ने, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं माना है। उनका कहना है कि जीवन के स्वीकृत तरीकों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है और चूंकि जीवन के स्वीकृत ढंग का दूसरा नाम ही संस्कृति है, अतः सांस्कृतिक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

लेकिन अधिकतर समाजशास्त्री दोनों में अन्तर करते हैं। डेविस ने लिखा है कि 'सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है। ... यह सच है कि संस्कृति का कोई भी भाग सामाजिक व्यवस्था से पूर्णतः असम्बद्ध नहीं होता, लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक व्यवस्था को बिना किसी ज्ञात रूप में प्रभावित किए हुए, संस्कृति की शाखाओं में परिवर्तन हो सकता है।'[1] डेविस के अनुसार सामाजिक परिवर्तनों का अर्थ केवल उन परिवर्तनों से है जो समाज की संरचना और समाज के कार्यों में होते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का केवल एक भाग है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तनों में सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन भी सम्मिलित होते हैं जो कला, ज्ञान, आचार, प्रथा और परम्परा, विज्ञान और दर्शन, यन्त्रकला और वास्तुकला, विश्वास और कानून, आदतों और प्रविधियों अर्थात् सभी क्षेत्रों में होते हैं। मेकाइवर एवं पेज ने भी सामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न माना है। तदनुसार, समाज सम्बन्धों का जाल है अतः सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत कला, साहित्य, धर्म आदि सभी विषयों में होने वाले परिवर्तन सामाजिक है। मिल-मालिकों श्रमिकों के सम्बन्धों में कोई परिवर्तन होता है तो इसका सम्बन्ध समाज से होगा न कि संस्कृति से जबकि मोटरों या वस्त्रों के डिजाइन में कोई परिवर्तन होगा तो इसका सम्बन्ध संस्कृति से होगा न कि समाज से।

1. किंग्सले डेविस वही, पृष्ठ 544

इस विवेचन के आधार पर अब हम सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन मे निम्नलिखित प्रमुख अन्तरो का सकेत कर सकते है—

1 सामाजिक परिवर्तन केवल सामाजिक सम्बन्धो मे होने वाले परिवर्तन है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत कला साहित्य, धर्म आदि मे होने वाले परिवर्तनो को लिया जाता है।

2 सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि कही अधिक विस्तृत है।

3 सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप समाज का ढाँचा कुछ न कुछ अवश्य बदल जाता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप सस्कृति के विभिन्न पक्षो मे परिवर्तन होते हैं।

4 सामाजिक परिवर्तन एक प्रक्रिया है जो प्राकृतिक और सचित दोनो ही कारणो या प्रयत्नो से निरन्तर रहती है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन इस प्रक्रिया की उपज (Product) है अर्थात् सामाजिक परिवर्तनो का होना स्वाभाविक है जब कि सांस्कृतिक परिवर्तन साधारणत नियोजित होता है। सांस्कृतिक परिवर्तनो के लिए सचेत प्रयत्न करने पड़ते हैं।

5 सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा तेज होती है क्योकि सामाजिक सम्बन्धो मे जितनी शीघ्रता से परिवर्तन हो सकते हैं उतनी शीघ्रता से कला, धर्म और दर्शन, विज्ञान और परम्परा आदि मे नही हो सकते।

स्पष्ट है कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन दो अलग अलग तरह के परिवर्तन हैं, लेकिन भिन्नता का अर्थ यह नही है कि दोनो मे कोई सम्बन्ध है ही नही। वास्तव मे दोनो का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है और एक का प्रभाव दूसरे पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे कुछ न कुछ अवश्य ही पड़ता है।

सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित अन्य धारणाएँ
(Other Concepts of Social Change)

'सामाजिक परिवर्तन' एक व्यापक अवधारणा है जिसमे सामाजिक जीवन मे आने वाले सभी प्रकार के रूपान्तरण आ जाते हैं। अत इसमे सम्बन्धित कुछ अन्य अवधारणाएँ (Other Concepts) भी है जिनसे परिवर्तन की प्रणाली (Mode of Change) अधिक स्पष्ट होती है। ऐसी तीन मुख्य अवधारणाएँ निम्नलिखित है—

(1) सामाजिक प्रक्रिया (Social Process)
(2) सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)
(3) सामाजिक प्रगति (Social Progress)

सामाजिक प्रक्रिया
(Social Process)

जब सामाजिक परिवर्तन मे निरन्तरता होती है, तो उसे हम प्रक्रिया कहते है। मेकाइवर तथा पेज के अनुसार, "प्रक्रिया का अभिप्राय उस निरन्तर परिवर्तन से

है जो एक परिस्थिति विशेष में आरम्भ से ही मौजूद शक्तियों की क्रियाशीलता के माध्यम से एक निश्चित प्रकार से होता है।"[1] उदाहरणार्थ जब दो विभिन्न समूहों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं तो उनके चरित्र में स्पष्ट परिवर्तन हो जाते हैं। ये समूह-प्रक्रिया है। उनमें यह परिवर्तन अन्त क्रिया (Inter-action) के कारण होता है। इसी प्रकार दो संस्कृतियों के सम्पर्क में आने पर अन्तं क्रिया के कारण परिवर्तन होते हैं। यदि दो समूह या संस्कृतियों में विरोध हो जाता है तो उनमें संघर्ष (Conflict) की शुरुआत हो जाती है और प्राय निर्बल समूह या संस्कृति को शक्तिशाली समूह या संस्कृति से अभियोजन (Adjustment) करना पड़ता है। ऐसा नहीं करने पर शक्तिशाली समूह या संस्कृति द्वारा उसका आत्मीकरण (Assimilation) कर लिया जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, सहयोग, एकीकरण, विघटन आदि सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं। ये सब प्रक्रियाएँ इसीलिए कहलाती हैं क्योंकि इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन, लगातार, निरन्तर हो रहा होता है। यदि इनमें लगातार, निरन्तर परिवर्तन न हो रहा हो तो इन्हें 'प्रक्रिया' नहीं कहा जा सकता। विशेष बात यह है कि प्रक्रिया में हम एक स्थिति से दूसरी स्थिति में परिवर्तन का विश्लेषण करते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों की कोई निश्चित दिशा नहीं होती और न ही इनसे किन्हीं गुणों या दोषों का संकेत मिलता है। प्रक्रिया तो निरन्तर परिवर्तनमात्र है जिसमें वस्तु-घटना एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर बढ़ती है।

उल्लेखनीय है कि सामाजिक प्रक्रियाओं के दो मोटे रूप होते हैं—(अ) संगठनात्मक प्रक्रियाएँ (Associative Processes), एवं (ब) विघटनात्मक प्रक्रियाएँ (Dissociative Processes)। सहयोग, व्यवस्था, आत्मसात् आदि संगठनात्मक प्रक्रियाएँ हैं जबकि प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष आदि विघटनात्मक प्रक्रियाएँ हैं।

सामाजिक उद्विकास
(Social Evolution)

जब सामाजिक परिवर्तन में निरन्तरता होती है, किन्तु कोई विशेष दिशा नहीं होती तो उसे हम प्रक्रिया कहते हैं। लेकिन यही प्रक्रिया किसी विशेष दिशा में होती है तो परिवर्तन को हम प्रक्रिया न कहकर उद्विकास (Evolution) की संज्ञा देते हैं। मेकाइवर के शब्दों में "जब हम परिवर्तन में, निरन्तरता के अतिरिक्त दिशा को भी व्यक्त करना चाहते हैं तो अन्य शब्द-समूहों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। वैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए इन शब्दों में सबसे महत्त्वपूर्ण उद्विकास (Evolution) है।"[2] उद्विकास को स्पष्ट करते हुए मेकाइवर ने लिखा है, "उद्विकास का अर्थ वृद्धि से अधिक होता है। वृद्धि में भी परिवर्तन की दिशा का अर्थ निहित होता है, परन्तु यह दिशा केवल परिमाणात्मक प्रकृति की होती है। उद्विकास में किसी वस्तु अथवा संगठन के आकार में ही परिवर्तन नहीं होता अपितु उसकी रचना में भी परिवर्तन का होना निहित होता है। अर्थात् उद्विकास में कुछ

1. मेकाइवर एवं पेज वही, पृष्ठ 457.
2 वही, पृष्ठ 457.

अधिक आन्तरिक परिवर्तन निहित होता है। उद्विकास से ही सम्बन्धित अन्य शब्दों-विकास (Development), प्रत्यावर्तन (Regression) और अवनति (Restrogression) जैसे शब्दों में इसी प्रकार का अर्थ निहित है। इन सभी शब्दों में कुछ मात्रा में आगे अथवा पीछे अथवा नीचे जाने का सुझाव मिलता है।"[1]

मान्यताएँ--सामाजिक उद्विकास का सिद्धान्त डार्विन के प्राणि-शास्त्रीय उद्विकास पर आधारित है। डार्विन ने कहा था कि किसी वस्तु का सरलता से जटिलता की ओर जाना उद्विकास है, और सरलता से जटिलता की ओर जाने की *यह प्रक्रिया कुछ निश्चित स्तरों में गुजरती है। स्पेन्सर के शब्दों में,* "उद्विकास किसी तत्त्व (Matter) का समन्वय तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान वह तत्त्व एक अनिश्चित असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।"[2] स्पेन्सर के अनुसार प्राणिशास्त्री उद्विकास के नियम समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में भी लागू होते हैं—

1 प्रारम्भ में प्रत्येक जीवित वस्तु सरल होती है और उसके विभिन्न अंग इस तरह घुले-मिले होते है कि उन्हे न तो अलग किया जा सकता है और न उनका कोई निश्चित स्वरूप बताया जा सकता है। यह 'अनिश्चित असम्बद्ध समानता' (Indefinite incoherent homogeneity) की स्थिति होती है। पर धीरे-धीरे उस वस्तु के विभिन्न अंग स्पष्टता और निश्चितता ग्रहण करते है। यह 'निश्चित सम्बद्ध भिन्नता" (Definite coherent homogeneity) की स्थिति है।

प्राणिशास्त्रीय उद्विकास का यही नियम समाज पर लागू होता है। प्रारम्भ में समाज अत्यन्त सादा और सरल था जिसके विभिन्न अंग इतने घुले मिले थे कि उन्हें पृथक् करना सम्भव न था। उदाहरणार्थ एक ही परिवार सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी कार्यों को करता था। इसी प्रकार लोगों के कार्य, व्यवसाय और विचार लगभग एक-से थे। पर इस स्तर पर कुछ भी निश्चित न था। न निश्चित जीवन था, न निश्चित सामाजिक संगठन और न निश्चित संस्कृति। दूसरे शब्दों में यह प्रारम्भिक अवस्था 'अनिश्चित असम्बद्ध' समानता की थी। लेकिन धीरे-धीरे लोगों के अनुभवों, विचारों और ज्ञान में उन्नति होती गई। सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंग स्पष्ट होते गए। परिवार, राज्य, धार्मिक संस्था, ग्राम, नगर, आदि ने स्पष्टता और निश्चितता प्राप्त की। इस प्रकार, निश्चित सम्बद्ध भिन्नता की स्थिति विकसित हुई।

2 जीवित वस्तु के विभिन्न अंग स्पष्ट और पृथक् होने के साथ-साथ अपने-अपने विशेष प्रकार के कार्य करने लगते हैं, जैसे हाथ अपना काम करता है, पैर चलने का, मुँह खाने का तो आँख देखने का। समाज पर भी यही नियम लागू होता है। विकास के दौरान समाज के विभिन्न भाग ज्यों-ज्यों स्पष्ट रूप लेते जाते है त्यों-त्यों वे अपने-अपने विशेष प्रकार के कार्य करने लगते हैं, अर्थात् समाज के विभिन्न अंगों

1. मेकाइवर तथा पेज वही, पृष्ठ 457-58
2 *Herbert Spencer* First Principles, p 396

के बीच श्रम-विभाजन और विशेषीकरण हो जाता है। परिवार एक विशेष प्रकार का कार्य करता है तो शिक्षण-संस्थाएँ दूसरे प्रकार के कार्य और राज्य अन्य प्रकार के कार्य।

3 जीव के विभिन्न अंग विकसित और स्पष्ट होने पर यद्यपि अपने-अपने काम करने लगते हैं, लेकिन सभी अंगों में सदैव अन्त सम्बन्ध बना रहता है। उनमें अन्तर्निर्भरता होती है। इसीलिए एक अंग के खराब होने पर दूसरे अंगों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। समाज में भी यद्यपि विभिन्न अंगों के विकसित हो जाने पर श्रम-विभाजन और विशेषीकरण हो जाता है, लेकिन वे अंग एक दूसरे से सर्वथा पृथक् और आत्म-निर्भर नहीं होते। उनमें कुछ-न-कुछ अन्तर्निर्भरता बनी रहती है, कुछ में निश्चित अन्तःसम्बन्ध होता है। परिवार, राज्य से सम्बन्धित और उस पर निर्भर है तो राज्य भी परिवारों से सम्बन्धित और उन पर निर्भर है।

4 उद्‌विकास की प्रक्रिया एक निरन्तर प्रक्रिया है, प्राणी के शरीर में कब, कौन-सा परिवर्तन हुआ इसे हम निश्चित रूप से नहीं बता सकते क्योंकि प्रतिक्षण उसमें विकास हो रहा है। बहुत कुछ यही बात समाज पर लागू होती है। सामाजिक उद्‌विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और जिस तरह एक छोटा-सा जीव वर्षों में पूर्ण व्यक्ति का रूप धारण करता है उसी तरह एक सम्पूर्ण समाज का निर्माण दीर्घावधि में धीरे-धीरे होता है।

5 उद्‌विकास की प्रक्रिया कुछ निश्चित स्तरों से गुजरती है। एक बीज वृक्ष के रूप में विकसित होने से पूर्व अनेक स्तरों से गुजरता है। एक बच्चा पहले जन्म लेता है फिर बचपन, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि के स्तर पार करता है। समाज भी अपने सरल रूप से अनेक स्तर पार करते हुए जटिल रूप धारण करता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक जीवन के प्रारम्भ में 'अदला-बदली' की व्यवस्था थी और धीरे-धीरे आज वह जटिल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का रूप धारण कर चुका है। प्रारम्भ में व्यक्ति का जीवन परिवार तक ही सीमित था पर अब अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। समाज का यह सम्पूर्ण विकास अनेक स्तरों से होकर गुजरा है। सामाजिक जीवन के विकास-क्रम को मोटे तौर पर इन स्तरों में रखा जा सकता है—(1) शिकारी अवस्था, (2) चरवाही अवस्था, (3) कृषि अवस्था, एवं (4) औद्योगिक अवस्था। शिकारी अवस्था के अत्यन्त सरल और साधारण स्वरूप में विकसित होते-होते समाज आधुनिक जटिल औद्योगिक स्वरूप धारण कर सका है। इस प्रकार समाज उद्‌विकास का फल है, इसकी किसी विशेष समय पर उत्पत्ति या रचना नहीं हुई। उद्‌विकास के इस लम्बे युग में समाज में भिन्नता और समन्वय दोनों ही के तत्त्व विकसित होते रहे हैं तथा इन दोनों तत्त्वों की क्रियाशीलता के कारण ही समाज का अस्तित्व सम्भव है। इसीलिए समाज को 'समन्वय और विभिन्नता का एक गतिशील सन्तुलन' कहा जाता है।

समीक्षा—यद्यपि सामाजिक उद्‌विकास का सिद्धान्त बड़े क्रमबद्ध और तार्किक रूप में प्रस्तुत किया गया है, लेकिन यह विभिन्न दृष्टियों से कटु-आलोचना का विषय है—

1 इस सिद्धान्त के समर्थकों ने इस तथ्य की उपेक्षा करदी है कि सभी समाजो के लिए एक सा नियम लागू नही किया जा सकता। हर समाज की भौगोलिक और अन्य परिस्थितियो मे भिन्नता होती है जिनका प्रभाव सामाजिक विकास की प्रक्रियाओ पर पडना स्वाभाविक है। यह नही माना जा सकता कि परिस्थितियो की भारी भिन्नताओ के बावजूद प्रत्येक समाज मे उद्विकासीय प्रक्रिया एक-सी रही होगी।

2 उद्विकास के सभी चरण अथवा स्तर सभी समाजो मे एक ही क्रम मे आए हैं—यह दावा भी गलत है। आज भी अनेक ऐसी जन-जातियाँ हैं जहाँ शिकारी अवस्था, पशुपालन और कृषि अवस्था—तीनो साथ साथ चल रही हैं। उद्विकासीय सिद्धान्त आविष्कार और प्रसार के कार्यो की विकासक्रम मे जो महत्ता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रत्येक परिवर्तन प्राकृतिक शक्तियो से होता है जबकि हम इस सच्चाई को नही झुठला सकते कि मनुष्य प्राकृतिक शक्तियो को अपने नियन्त्रण मे लेकर अनेक नए परिवर्तन भी करता है।

3 यह सिद्धान्त इस तथ्य की अवहेलना कर देता है कि सस्कृति का एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रसार होता है। प्रसार (Diffusion) के सिद्धान्त को भुला देना और इस तरह उसके परिणामो को नजरों से ओझल कर देना इस सिद्धान्त की बडी भूल है। एक सस्कृति को मानने वाले लोग ज्यो-ज्यो दूसरी सस्कृति के सम्पर्क मे आते हैं, सांस्कृतिक आदान प्रदान बढते है जिससे सस्कृतियो का विकास होता है।

4 प्रसार की भाँति ही आविष्कार के महत्त्व की भी उपेक्षा करदी गई है। स्वत सामाजिक विकास के साथ आविष्कारो के फलस्वरूप सामाजिक विकास कितना होता है, इस तथ्य की उद्विकासीय सिद्धान्त मे उपेक्षा कर दी गई है।

सक्षेप मे, सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त को हम सर्वथा प्रामाणिक या मान्य नही कह सकते। इसमे असगतियाँ हैं दुर्बलताएँ है। पर साथ ही इसे पूर्णत ठुकराया भी नही जा सकता क्योकि यह किसी सीमा तक हमे समाज के विस्तृत इतिहास को समझने मे सहायता देता है। इस सिद्धान्त मे सांस्कृतिक विकास के अध्ययन का एक अच्छा सिलसिला मिलता है। इसकी उपेक्षा कर देना एक अध्ययन-पद्धति से वचित रह जाना है।

सामाजिक प्रगति
(Social Progress)

विकास जब इच्छित दिशा मे चलता है अर्थात् विकास की प्रक्रिया जब आगे को जाती है, पीछे को नही जाती तब हम 'प्रगति' (Progress) शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रगति मे आदर्शात्मक मूल्यो (Normative Values) का भाग निहित रहता है। दूसरे शब्दों मे, प्रगति मे हम अच्छे-बुरे का, उसके मूल्यांकन का निर्णय करते हैं। प्रगति मे विकास की दिशा का कोई न कोई लक्ष्य होना आवश्यक है। इस लक्ष्य का निर्माण प्राकृतिक शक्तियो (Natural Forces) द्वारा न होकर समाज के मूल्यों (Values) से होता है। प्रगति (Progress) और अधोगति या परावर्तन (Regression) का निर्णय विभिन्न व्यक्ति-समूह अपनी मानसिकता (Mentality) एव अनुभव के अनुसार करते हैं।

मेकाइवर एव पेज ने लिखा है कि "प्रगति का तात्पर्य केवल दिशा मे नही होता, बल्कि किसी अन्तिम लक्ष्य की ओर जाने वाली दिशा से होता है, और किसी ऐसे आदर्श पर गन्तव्य से होता है जिसका विचार कार्यरत शक्तियो के केवल वस्तुपरक विचार पर आधारित नही होता।" लुम्ले के शब्दो मे, 'प्रगति एक परिवर्तन है, लेकिन यह इच्छित अथवा मान्यता प्राप्त दिशा मे होने वाला परिवर्तन है, किसी भी दिशा मे होने वाला परिवर्तन नही।" ऑगबर्न एव निमकॉफ के मतानुसार, "प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिए होने वाला वह परिवर्तन है जिसमे मूल्य निर्धारण का तत्त्व निहित हो।" इसी प्रकार गिन्सबर्ग की दृष्टि मे, "प्रगति का अर्थ उस दिशा मे होने वाला विकास है जो सामाजिक मूल्यो का विवेकयुक्त हल प्रस्तुत करता हो।"

इन विभिन्न परिभाषाओ से यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज के ऐच्छिक और सृजनात्मक परिवर्तन का ही दूसरा नाम 'प्रगति' है। प्रगति के लिए मूल्य-निर्धारण का तर्कसगत मापदण्ड और निश्चित लक्ष्य होना आवश्यक है।

विशेषताएँ—सामाजिक प्रगति के अर्थ को हम इसकी निम्नलिखित विशेषताओ के माध्यम से अच्छी तरह समझ सकते है—

1 **वांछित दिशा की ओर परिवर्तन**—जब परिवर्तन वांछित दिशा की ओर होता है तभी प्रगति है, अन्यथा नही। परिवर्तन समाज की दृष्टि मे लाभकारी भी हो सकता है और हानिकारक भी। किन्तु प्रगति सदा लाभदायक तत्त्व लिए होती है। इसके पीछे एक निश्चित लक्ष्य होता है और जब समाज उस लक्ष्य की ओर बढता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

2 **प्रगति तुलनात्मक है**—प्रत्येक समाज मे प्रगति का अर्थ एक सा नही होता। कुछ समाज आध्यात्मिक उन्नति को वास्तविक प्रगति मानते हैं तो दूसरे समाज भौतिकता को प्रगति का आधार मानते है। इस प्रकार प्रगति का मापदण्ड सामाजिक मूल्य द्वारा स्वीकृत लक्ष्यो की ओर परिवर्तन कहा जाता है।

3. **निश्चित लक्ष्य**—प्रगति के लिए एक निश्चित लक्ष्य होना जरूरी है। इस लक्ष्य की प्राप्ति से ही समाज मे समृद्धि होती है।

4 **सामूहिक जीवन से सम्बन्धित**—प्रगति किसी एक या कुछ व्यक्तियो के अनुसार होने वाले परिवर्तन को नही कह सकते। प्रगति तभी होती है जब सामाजिक परिवर्तन अधिकांश लोगो के हित मे हो।

5 **स्वचालित नहीं**—प्रगति स्वचालित नही है बल्कि मनुष्य के सक्रिय प्रयास और परिश्रम पर आधारित है। समाज मे वाँछित लक्ष्यो की पूर्ति तभी सम्भव है जब हम जागरूक होकर प्रयत्न करें।

6 **केवल मनुष्य से सम्बन्धित**—प्रगति का सम्बन्ध केवल मनुष्य से है, किसी अन्य प्राणी से नही। प्रगति का अर्थ मान्यता—प्राप्त लक्ष्यो की ओर बढना है और लक्ष्य केवल मनुष्य ही निश्चित करता है।

उद्विकास और प्रगति में अन्तर—इन दोनो ही शब्दो मे यद्यपि परिवर्तन का बोध होता है, लेकिन इन दोनो मे निम्नलिखित मौलिक भेद है—

1 उद्विकास विशेषत. एक जैविकीय धारणा है जबकि प्रगति एक नैतिक धारणा है। उदविकास जैविकीय नियमो पर आधारित है और जैविकीय परिवर्तनो के क्रम को स्पष्ट करता है। समाज से इसका विशेष सम्बन्ध नही है। इसके विपरीत प्रगति का समाज से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। समाज की नैतिकता से यह निश्चित किया जाता है कि कौन-सा परिवर्तन प्रगति है अथवा नही।

2 उदविकास सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमे आगे आने वाली अवस्था का पिछली अवस्था से सम्बन्ध होता है। प्रगति का तात्पर्य एक इच्छित दिशा की ओर होने वाला परिवर्तन है।

3 उद्विकास मानवीय नियन्त्रण मे मुक्त है जबकि प्रगति के लिए मानवीय नियन्त्रण आवश्यक है। जहाँ विकास एक अनियन्त्रित और प्राकृतिक प्रक्रिया है वहाँ प्रगति एक नियन्त्रित प्रक्रिया है।

4 विकास की धारणा सार्वभौमिक है क्योंकि जैविकीय नियम सभी समाजो मे एक से होते हैं। इसके विपरीत प्रगति की धारणा तुलनात्मक है क्योंकि सभी समाजो के नैतिक मापदण्ड, सामाजिक मूल्य आदि एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

5. विकास की प्रक्रिया स्वचालित होती है जबकि प्रगति पूर्णत मनुष्यो के जागरूक प्रयत्नो पर निर्भर है।

6 विकास की प्रक्रिया क्रमिक होती है जबकि प्रगति का सम्बन्ध भौतिक तथ्यों के तीव्र परिवर्तनो से होता है।

स्पष्ट है कि प्रगति और विकास की धारणाएँ परस्पर मौलिक अन्तरो को लिए हुए है पर वे दोनो ही सामाजिक जीवन के दो महत्त्वपूर्ण जटिल तथ्य है। इसका उपयोग भारी सावधानी से किया जाना चाहिए।

प्रत्येक परिवर्तन प्रगति नहीं है (Every Change is not Progress)—प्रगति सामाजिक परिवर्तन का ही एक अग है, लेकिन हम प्रत्येक परिवर्तन को प्रगति नही कह सकते, क्योकि बिना किसी उद्देश्य की पूर्ति किए भी परिवर्तन सम्भव है। इसके अतिरिक्त, जहाँ परिवर्तन किसी भी दिशा मे हो सकता है वहाँ प्रगति के लिए आवश्यक है कि परिवर्तन इच्छित दिशा की ओर ही हो। इस प्रकार प्रगति सामाजिक नियोजन का पर्यायवाची रूप है। सामाजिक परिवर्तन से समाज को लाभ भी हो सकता है और हानि भी, लेकिन प्रगति एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करती है जिससे सदैव लाभ ही पहुँचता है। प्रगति की दिशा भी सामाजिक मूल्यो और आदर्शों के अनुसार निश्चित होती है। वास्तव मे, जैसा कि हम कह चुके हैं, सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है जिसका रूप सदैव एक-सा नही रहता। इसके रूप और इसकी मात्रा को स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्दो का प्रयोग किया जाता है जिनमे परिवर्तन, प्रक्रिया, उद्विकास, प्रगति आदि मुख्य है।

यह कि विभिन्न प्रकार के सम्पूर्ण समाजों के बीच की तुलना, यद्यपि कठिन है फिर भी, प्रामाणिकता का अधिक दावा कर सकती है।"

सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के कारक
(Factors of Socio-cultural Change)

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए कोई एक कारक नहीं अपितु अनेक कारक उत्तरदायी है। कारण और कारक में कुछ अन्तर है। इतिहासकार उन अनेकों कारणों की खोज करने का प्रयत्न करता है जो किसी विशेष घटना को उत्पन्न करते है जबकि एक समाजशास्त्री उन परिणामों को खोजता है जो कारणों के एक वर्ग द्वारा उत्पन्न होते है। इन कारणों के वर्ग को हम "कारकों" (Factors) की संज्ञा दे सकते है।[1] आगे हम कुछ उन विशेष कारकों का विवेचन करेंगे जो समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। इनमें से प्रत्येक का सामाजिक परिवर्तन के एक विशेष सिद्धान्त में पृथक् पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से साथ होता है।[2]

(1) प्राकृतिक कारक
(Natural Factors)

व्यक्ति पर्याप्त सभ्यता और ज्ञान विज्ञान का अधिकारी होने पर भी सम्पूर्ण प्रकृति पर विजय प्राप्त नहीं कर पाया है। अतः कई बार प्रकृति अपने तरीके से सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारक बन जाती है। प्राकृतिक संकटों के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाते हैं कल के एक शहर और गाँव आज उजाड़ या वीरान स्थानों में बदल जाते हैं। गर्मी, सर्दी वर्षा, भूकम्प भूमि की बनावट आदि प्राकृतिक दशाओं तथा विभिन्न प्राकृतिक संघर्षों का व्यक्तियों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनसे व्यक्तियों में प्रेरणा और आत्मबल का संचार होता है तो उनमें निराशा और उत्साहहीनता भी पनप सकती है। अकालों के फलस्वरूप जनसंख्या और लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध में भयंकर परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं। कहा जाता है कि क्षुधा पीड़ित माँ बच्चे को छोड़कर चली जाती है पति मुट्ठी भर चावल के लिए पत्नी को बेच देता है और रोटी के टुकड़े के लिए मनुष्य और कुत्ते में संघर्ष होता है। हैजा प्लेग आदि महामारियों का प्रभाव लोगों के जीवन और सामाजिक सम्बन्धों पर अवश्य ही पड़ता है। प्राकृतिक अथवा भौगोलिक परिवर्तनों पर मनुष्य का नियन्त्रण बहुत कम अथवा नहीं होता है, अतः इस प्रकार के परिवर्तनों के साथ-साथ उसको भी परिवर्तित होना ही पड़ता है। बकल तथा हटिंगटन का तो अभिमत है कि जलवायु सम्पूर्ण सभ्यता के विकास और विनाश का कारण बन सकती है और प्राकृतिक अवस्था के अनुसार ही मनुष्य की कल्पना, भौतिक विकास आदि सम्भव होते है।

1. शेपर्डीड वही, पेज 526
2. वही, पेज 526

(2) प्राणिशास्त्रीय कारक
(Biological Factor)

प्राणिशास्त्रीय अथवा जैवकीय कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। जनसंख्या की रचना, उसका घटना-बढ़ना, वितरण, स्त्री-पुरुषों की जनसंख्या का अनुपात, व्यक्तियों के शारीरिक और मानसिक गुण, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इन लक्षणों का आना आदि प्राणिशास्त्रीय कारक में लिए जाते हैं। ये सभी बातें सामाजिक संगठन और संस्थाओं को परिवर्तित करके समाज के रूप को न्यूनाधिक बदल देती हैं। उदाहरणार्थ, यदि वंशानुक्रमण द्वारा दुर्बल सन्तानें हो रही हैं अर्थात् किसी समाज में स्वास्थ्य का स्तर नीचा है तो उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ेगा। जीवनावधि कम होने से देश में अनुभवी व्यक्तियों की कमी होगी और इस प्रकार सामाजिक आविष्कारों की सम्भावनाएँ भी कम हो जाएँगी। किसी समाज में अधिकाधिक लड़के ही पैदा होने लगें से लड़कियों की संख्या बहुत कम हो जाएगी और फलस्वरूप बहुपति प्रथा फैलने से सन्तानों की संख्या कम हो जाएगी, लड़कियों की तुलना में लड़कों का जन्म अधिक होगा, स्त्रियों का बाँझपन पनपेगा और वे अनेक गुप्त रोगों की शिकार बनेंगी। यदि समाज में लड़कियों का जन्म अधिक होगा तो बहुपत्नी प्रथा पनपेगी। फलस्वरूप अधिक सन्तान पैदा होंगी, पुरुषों का स्वास्थ्य गिरेगा और स्त्रियों की दशा दयनीय हो जाएगी।

(3) जनसंख्यात्मक कारक
(Demographic Factor)

जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार से उत्तरदायी हो सकते हैं—

प्रथम, जनसंख्या के आकार और जनसंख्या के घनत्व के घटने-बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन हो जाने की सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ, जन्म दर बढ़ने और मृत्यु दर घटने से देश में जनसंख्या बढ़ेगी और यदि अतिजनसंख्या की स्थिति पैदा हो गई तो देश में भुखमरी, महामारी आदि का प्रकोप होगा। लाखों करोड़ों व्यक्ति मृत्यु का शिकार होंगे। इन सब बातों का सामाजिक जीवन और सम्बन्धों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। दूसरी ओर जन्म दर घटने और मृत्यु दर बढ़ने से देश की जनसंख्या गिरती जाएगी और समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी उत्पन्न हो जाएगी। फलस्वरूप देश के प्राकृतिक साधनों का भरपूर प्रयोग नहीं हो पाएगा, देश की आर्थिक दशा गिरेगी, परिवारों का आकार घटता जाएगा और इन सब के फलस्वरूप सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन होंगे। यह स्वाभाविक बात है कि जनसंख्या बहुत अधिक होने से गरीबी और बेकारी का प्रसार होगा, अपराधी मनोवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा, तथा जनसंख्या बहुत कम होने से भी सामाजिक परिवर्तन प्रतिकूल रूप में प्रभावित होगा।

द्वितीय, यदि आप्रवास (Immigration) होगा अर्थात् एक देश से दूसरे देश से लोग आकर बसेंगे तो भी सामाजिक परिवर्तन होगा। विभाजन के बाद भारत में

पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान से लगभग 90 लाख लोगों के आकर बस जाने से यहाँ के सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में कितने परिवर्तन आ गए, यह बताने की आवश्यकता नहीं। आप्रवास से न केवल किसी समाज की जनसंख्या में वृद्धि होती है बल्कि प्रजातीय (Racial) क्षेत्र में कहीं अधिक बड़ा प्रभाव स्पष्ट होता है। समाज में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती है जिनकी संस्कृति, प्रजातीय विशेषताएँ सामाजिक मूल्य, जीवन-स्तर आदि मूल-निवासियों से भिन्न होते हैं। कालान्तर में, इन विशेषताओं का मूल-निवासियों की विशेषताओं में मिश्रण होने लगता है, फलस्वरूप दोनों समूहों की मिश्रित संस्कृति विकसित होने लगती है, व्यवहार के नए ढंग पनपते हैं और जैवकीय गुणों के मिश्रित हो जाने से व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ भी परिवर्तित होने लगती हैं। इन सभी बातों का प्रभाव लोगों के चिन्तन-प्रणाली, नैतिकता, व्यवहार-प्रतिमानों आदि पर पड़ता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन होता है।

तृतीय, यदि उत्प्रवास (Emigration) होता है अर्थात् हमारे समाज से व्यक्ति दूसरे समाज में चले जाते हैं तो हमारी जनसंख्या कम होने लगती है और फलस्वरूप उत्पादन-साधनों से पुनः अभियोजन की समस्या उत्पन्न होती है। उत्प्रवास के फलस्वरूप सामान्यतः कुछ समय के लिए स्त्रियों का अनुपात बढ़ता है, क्योंकि उत्प्रवास पुरुषों द्वारा ही प्रायः अधिक संख्या में होता है। अनेक परिवारों में पुरुषों की अनुपस्थिति के फलस्वरूप पारिवारिक विघटन के तत्त्व प्रबल हो जाते हैं। इस प्रकार समाज में परिवर्तन होने लगता है।

चतुर्थ, जनसंख्या के घनत्व के बढ़ने से भी सामाजिक परिवर्तन होते हैं। जनसंख्या का घनत्व अधिक होने से उस अधिक जनसंख्या का पालने-पोसने के लिए नए-नए आविष्कारों से सामाजिक प्रगति सरल होती है और गहन कृषि तथा नई भूमि पर कृषि को प्रोत्साहन मिलता है। फिर भी यदि भूमि पर जनसंख्या का दबाव बना रहता है तो लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में बसने लगते हैं और इस प्रकार शहरों का विकास होता है।

अन्त में, आयु लिंग, वैवाहिक स्तर आदि का अर्थात् जनसंख्या सम्बन्धी संरचना का भी सामाजिक परिवर्तन से निकट सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, यदि जनसंख्या में अधिक आयु के लोगों की अधिकता होती है तो अनुशासन के कठोर नियम पनपते हैं और परम्परागत विचारों की रक्षा की जाती है। उत्साहपूर्ण कार्यों की ओर प्रायः शिथिलता पाई जाती है। यदि वृद्धों की अपेक्षा युवकों की संख्या अधिक होती है तो नवीनता के प्रति आकर्षण बढ़ता है, धर्म में तर्क का प्रवेश होता है, सैनिक आकांक्षाएँ बढ़ती हैं और शक्ति तथा उत्साह का वातावरण पनपता है। यदि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अनुपात बहुत कम होता है तो समाज के हर क्षेत्र में पुरुषों को प्रधानता मिलती है और यदि स्त्रियों का अनुपात अधिक होता है तो सामाजिक पद, आर्थिक सेवाओं, राजनीतिक प्रतिनिधित्व आदि में स्त्रियों को पुरुषों से कम महत्त्व प्राप्त नहीं किया जाता, जैसाकि पश्चिमी देशों में—विशेषकर अमेरिका और फ्रांस में है। जब

स्त्रियाँ पुरुषों के कार्य करने लगती हैं तो स्त्रियों में पुरुषोचित आदर्श पनप जाते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, तथा बच्चों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आ जाते हैं।

(4) प्रौद्योगिकीय कारक
(Technological Factor)

आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तनों का सम्भवतः सबसे महत्वपूर्ण कारक प्रौद्योगिकीय कारक है। नई मशीनों, नए यन्त्रों के आविष्कारों का प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य पड़ता है। मेकाइवर तथा पेज ने ठीक ही लिखा है कि वाष्प-इंजनों के आविष्कार से सामाजिक जीवन से लेकर राजनीतिक जीवन में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं कि उनकी कल्पना भी कठिन है। ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है। ये तथ्य हमसे छिपे नहीं हैं कि मशीनों आदि के आविष्कार से वृहद्-स्तरीय उत्पादन सम्भव हुआ है श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का महत्त्व बढ़ा है, व्यापार और वाणिज्य का प्रसार हुआ है, नगरों का तीव्र गति से विकास होने लगा है, जीवन स्तर ऊँचा उठा है, विभिन्न आर्थिक संकटों तथा औद्योगिक संघर्षों में अभिवृद्धि हुई है, ग्रामों का नगरीकरण हुआ है, संयुक्त परिवार विघटित होने लगे हैं, धर्म का प्रभाव घटा है, स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया है और वे घर से बाहर काम करने लगी हैं, नई-नई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, आदि। बीरस्टीड ने लिखा है—"कारण (आविष्कार) से परिणाम (सामाजिक परिवर्तन) की गति एक सरल या स्वचालित प्रक्रिया है।"

(5) राजनीतिक तथा सैनिक कारक
(Political and Military Factor)

बीरस्टीड ने लिखा है कि "कुछ लेखकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन युद्धों (Battles), छुटपुट लड़ाइयों (Skirmishes), वंशों (Dynastis) और युद्धों, विजय तथा पराजय की कहानी है। वास्तव में, इतिहास कुछ ही समय पूर्व तक भी सैनिक शक्ति के आधार पर ही लिखा गया था और इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन में भी सैनिक समाजीय सिद्धान्त विद्यमान है।"[1] यदि मराठों की लड़ाइयों में परशियनों ने अथेनियनों को नहीं हराया होता, यदि नेपोलियन का मास्को पर आक्रमण सफल हो गया होता, यदि हिटलर इंगलिश चैनल को पार कर लेता, तो सैनिक सिद्धान्त के अनुसार सभ्यता का क्रम कुछ और ही होता।[2] यदि हम इन व्याख्याओं को स्वीकार करें, तो इतिहास को केवल थल और जल सेनाओं को उठने गिरते भाग्यों के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। एक सेना की विजय वह एकमात्र कारक बन जाता है जो एक समाज के विकास में अनेकों परिवर्तनों की व्याख्या करता है। इस प्रकार समाज की कहानी संघर्ष और युद्ध, विजय और पराजय की कहानी है। यद्यपि

1. *Biersted* The Social Order, p 518
2 Ibid, p 5 9

सामाजिक परिवर्तन मे सैनिक कारक के महत्त्व को स्वीकार करना होगा, तथापि बीरस्टीड का यह लिखना उचित है कि 'सैनिक सिद्धान्त अकेला ही युद्ध के समाजशास्त्र (Sociology of war) की व्याख्या नही कर सकता।"

सैनिक कारक को राजनीतिक कारक से पृथक करना कठिन है क्योंकि इतिहास के अनेक प्रकरणो मे क्रान्ति और युद्ध की राजनीतिक घटनाएँ है। इतिहास एक भूतकालीन राजनीति है और राजनीति इतिहास को प्रस्तुत करती है। "वह ढग (The manner) जिसके अनुसार लोग स्वय पर और दूसरो पर शासन करते है"— उन महत्त्वपूर्ण दृष्टियो मे से एक है जो हम समाज के बारे मे पूछ सकते हैं। यद्यपि इतिहास कभी शासको और शासक-घरानो की कहानी था और इन राजवशो मे हुए परिवर्तनो का उन सभी समाजो पर प्रभाव पडता था जिन पर कि वे शासन करते थे, तथापि इन राजनीतिक और राजवशीय प्रभावो का समाजशास्त्रीय महत्त्व अभी तक स्पष्ट नही हो सका है।[1]

(6) सांस्कृतिक कारक
(Cultural Factor)

सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारक मे हम धर्म, विचार, नैतिकता, विश्वास, प्रथा, परम्परा, लोकाचार, जनमत, विभिन्न सस्थाओ आदि को लेते है। इनके फलस्वरूप लाए जाने वाले कोई भी परिवर्तन हमारे सामाजिक जीवन मे भी परिवर्तन लाते है। उदाहरणार्थ, समाज मे प्राय नई पीढी अपनी प्रथाओ और परम्पराओ को वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपर्याप्त समझती है, अत नए सामाजिक मूल्यो का विकास होता है। विवाह आज केवल धार्मिक सस्कार नही रहा है बल्कि एक 'समझौता बन गया है और अनेक विवाहो का अन्त विवाह-विच्छेद मे हो रहा है। विवाह का आदर्श आज बदल चुका है। धर्म महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनो को जन्म देता रहा है। धर्म और नैतिकता मे परिवर्तन होने मे सामाजिक स्थायित्व मे प्राय कमी आती है और व्यक्तिवादिता मे वृद्धि होती है। सस्थाओ के परिवर्तन से सम्भवत सर्वाधिक सामाजिक परिवर्तन होते है, क्योकि सस्थाएँ ही सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करती हैं। विवाह-सस्था मे परिवर्तन का उदाहरण हम दे चुके हैं। परिवार सस्था मे विघटन से न केवल वैयक्तिक जीवन मे अनेक परिवर्तन आते हैं बल्कि सामाजिक जीवन म भी विभिन्न परिवर्तन होते हैं। व्यक्तिवादी और अन्य मनोवृत्तियो के विकास के साथ आज सन्तान का महत्त्व घट रहा है जिससे लोग कम से कम बच्चो को जन्म देना चाहते हैं। फलस्वरूप परिवारो के आकार मे कमी और इसके कारण देश की जनसख्या वृद्धि पर प्रतिकूल प्रभाव घटित होते हैं। धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एव अन्य सस्थाओ के परिवर्तनो से महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनो की निरन्तरता बनी रहती है।

सांस्कृतिक विलम्बन (Cultural Lag)—यहाँ हमे ऑगबर्न के "सांस्कृतिक विलम्बन" (Cultural Lag) के सिद्धान्त को भी समझ लेना चाहिए। ऑगबर्न

1. Ibid, p 519

द्वारा संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त का उल्लेख सर्वप्रथम सन् 1922 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'Social Change' में किया गया और तत्पश्चात् सन् 1947 में प्रकाशित अन्य पुस्तक 'A Handbook of Sociology' में। बीरस्टीड के शब्दों में, "ऑगबर्न के सांस्कृतिक विलम्बन का अर्थ यह है कि संस्कृति के एक भाग का परिवर्तन दूसरे की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है और ऐसा ही सदैव होता रहता है। फलस्वरूप दो भागों में सन्धि भग हो जाती है। वास्तव में यदि सम्पूर्ण नहीं तो अनेकों सामाजिक समस्याओं का कारण यही है कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों का एक दूसरे से समुचित सामञ्जस्य नहीं हो पाता। समाज को नए आविष्कारों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले आघातों और नवीनता के साथ सामञ्जस्य करने में एक लम्बा समय (कभी कभी तो शताब्दियों का समय) लग जाता है, और आविष्कारों की गति सामञ्जस्य की सम्भावनाओं से निरन्तर आगे बढ़ सकती है।"[1] ऑगबर्न द्वारा प्रस्तुत शब्द 'विलम्बन' (Lag) का तात्पर्य 'पीछे रह जाना' अथवा लगड़ा जाना है, अर्थात् संस्कृति के भौतिक पक्ष की तुलना में जब अभौतिक पक्ष पिछड़ जाता है तो सम्पूर्ण संस्कृति में एक असन्तुलन की स्थिति पैदा हो जाती है और यही स्थिति 'सांस्कृतिक विलम्बन' (Cultural Lag) कहलाती है। ऑगबर्न ने उन विभिन्न समस्याओं और परिस्थितियों को गिनाया है जो सांस्कृतिक विलम्बन के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती हैं। सर्वप्रथम तो सामाजिक परिवर्तन होने लगता है क्योंकि संस्कृति के एक भाग के दूसरे भाग से पिछड़ जाने से लोगों के व्यवहार के तरीकों और प्रविधियों तथा उनकी मनोवृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। लोग परिवर्तित दशाओं से नए सिरे से अनुकूलन करने को बाध्य होते हैं, अत परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि सांस्कृतिक विलम्बन काफी लम्बे समय तक चलता रहता है तो व्यक्तिगत और सामुदायिक विघटन की स्थितियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। सांस्कृतिक विलम्बन का एक अन्य परिणाम समाज की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के कार्यों का दूसरी संस्थाओं को हस्तान्तरण है। यह इसलिए होता है कि पिछड़ जाने की स्थिति में समाज की महत्त्वपूर्ण प्रथाओं और लोकाचारों की उपयोगिता समाप्त होने लगती है और उनके स्थान पर नवीन संस्थाएँ पनपने लगती हैं। इस प्रकार, सांस्कृतिक विलम्बन विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों और सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है।

(7) महान् लोगों की भूमिका
(The Role of Great Men)

बीरस्टीड ने सामाजिक परिवर्तन के एक अन्य कारक 'महान् लोगों की भूमिका' पर टिप्पणी की है। बहुत से लोगों का दृष्टिकोण है कि इतिहास कभी भी महान् पुरुषों और महान् स्त्रियों के प्रभाव से विमुक्त नहीं होता है। निःसन्देह समाज को मोड़ने, घटनाओं को नई दिशा देने, आदि की दृष्टि से महान व्यक्तियों के प्रभाव

1 बीरस्टीड सामाजिक व्यवस्था, पृष्ठ 547

की उपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन वास्तविकता यह है कि "अन्तिम रूप मे, सभी सामाजिक परिवर्तन पुरुषो और स्त्रियो की क्रियाओ के कारण ही घटित होते हैं। एक समाज मे मनुष्य कही न कही किसी प्रकार से परम्पराओ को थोडा बहुत खण्डित करता है और वह एक अन्य ढग से कुछ करता है। वह एक सक्षिप्त मार्ग ढूंढता है। वह एक नया विचार प्रस्तुत करता है अथवा एक नई खोज करता है। वह एक 'महान् व्यक्ति' हो अथवा नही, लेकिन उपरोक्त कार्य करके वह सांस्कृतिक जलस्रोत (Stream of Culture) को क्षुब्ध कर देता है और जिस प्रकार पानी मे पत्थर फैकने पर पानी चारो ओर उछलता है उसी प्रकार संस्कृति के जल स्रोत को क्षुब्ध कर देने से उठी हुई लहरें सदैव चलती रहती हैं तथा कुछ समय बाद सस्कृति के सभी अग और समाज के सभी क्षेत्र इससे प्रभावित हो सकते हैं।"[1]

(8) आर्थिक कारक
(Economic Factor)

सामाजिक परिवर्तन को आर्थिक आधार पर भी स्पष्ट किया जाता है। इसका प्रमुख श्रेय कार्ल मार्क्स को है। सम्पत्ति का रूप, व्यवसाय की प्रकृति, सम्पत्ति का वितरण, व्यापार-चक्र, वर्ग-सघर्ष, व्यक्तियो का जीवन-स्तर, उत्पादन का आकार आदि समाज को एक विशेष रूप प्रदान करते हैं। इन परिस्थितियो मे जो भी परिवर्तन होते हैं वे विविध सामाजिक परिवर्तनो को जन्म देते है। उदाहरणार्थ यदि सम्पत्ति का रूप पूंजीवाद के स्थान पर समाजवादी हो जाए तो आर्थिक परिस्थितियो मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाएगा और परिणामस्वरूप एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होगा। वास्तव मे इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि आर्थिक कारको मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के फलस्वरूप ही रूसी समाज मे अल्पकाल मे ही इतना परिवर्तन हो गया है कि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व रूस को और आज के रूस को पहचानना कठिन है। व्यापार मे होने वाले परिवर्तन कभी कभी समाज को इतने प्रभावित करते हैं कि समाज विघटित तक हो जाता है। सारांशत आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने मे निर्णायक रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और अन्य कारको से मिलकर ये निर्णायक रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं।

वस्तुत सामाजिक परिवर्तन के एक नही वरन् अनेक कारण हैं। एक कारण समाज मे अनेक परिवर्तनो को जन्म दे सकता है और अनेक कारण मिलकर भी एक परिवर्तन कर सकते है। किन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया रुकती कभी नही है। परिवर्तन एक अनिवार्य नियम है जो समाज मे सदैव व्याप्त रहता है।

1 *Bierstedt* op cit, p 52

8 सामाजिक नियन्त्रण और प्रमुख संस्थाएँ

(SOCIAL CONTROL AND MAJOR INSTITUTIONS)

मनुष्य मे अच्छी और बुरी दोनो प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। उसमे स्वभाव मे अराजकता और व्यक्तिवादिता के प्रति आकर्षण है। उसमे उन प्रवृत्तियो के भी दर्शन होते है जो पशुओ मे पाई जाती है। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्र छोड देने पर यह सम्भव है कि वह स्वेच्छाचारी आचरण करे और सामाजिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जाए। अत इस स्थिति से बचने के लिए सामाजिक नियन्त्रण का मार्ग अपनाया जाता है। समाज मे कुछ ऐसे नियम बनाए जाते हैं जिनसे व्यक्तियो के व्यवहार नियन्त्रित रखे जा सकते है। समाज मे सामाजिक नियन्त्रण एक सन्तुलन शक्ति के रूप मे कार्य करता है। प्रस्तुत अध्याय मे हम सामाजिक नियन्त्रण के परिचयात्मक स्वरूप पर क्रमश निम्नलिखित रूपरेखाओ के अन्तर्गत प्रकाश डालेंगे--

1 सामाजिक नियन्त्रण अर्थ एव परिभाषा
2 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप
3 सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्त्व
4 सामाजिक नियन्त्रण के साधन

सामाजिक नियन्त्रण : अर्थ एव परिभाषा
(Social Control Meaning and Definition)

समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। ये सम्बन्ध समाज के साथ साथ विकसित होते हैं। ये सम्बन्ध सदा बदलते रहते हैं, लेकिन एक निश्चित व्यवस्था अवश्य रहती है। जिस पद्धति अथवा सगठन द्वारा ये सम्बन्ध नियन्त्रित होते हैं, उन्हे हम सामाजिक नियन्त्रण कहते है। समाज व्यक्ति को इच्छानुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नही छोड सकता। ऐसा होने पर सामाजिक सरचना (Social Structure) ही नष्ट हो सकती है। समाज ऐसा नही चाहता। वह अपने को छिन्न-भिन्न न होने देने के लिए सामाजिक नियन्त्रण का प्रयोग करता है समाज इस प्रकार के नियम, रीति रिवाज, प्रथाएँ आदि बनाता है जो व्यक्ति पर आवश्यक नियन्त्रण रखते हैं। ये प्रतिबन्ध उसे यथासाध्य मनमानी नही करने देते। इस तरह यह कहना उचित है कि

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ वे समस्त शक्तियां हैं जिनके कारण समाज या समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है। [1]

सामाजिक नियन्त्रण को समाजशास्त्रियों ने, पारिभाषिक रूप में विभिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है। टी बी बाटाम र के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण का आशय मूल्यों के उस संकलन से है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूह के बीच तनावों तथा संघर्षों को दूर अथवा कम किया जा सकता है ताकि किसी अधिक समावेशी समूह (Inclusive group) की सुदृढता बनाए रखी जा सके। इसका तात्पर्य ऐसे सम्बन्धों से भी है जिनके माध्यम से इन मूल्यों एवं आदर्शों का संचार किया जाता है तथा उनका समाज के भीतर समावेश होता है। [2] इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध कुछ मूल्यों और मान्यताओं से है जिनके अनुपालन से समाज में सन्तुलन रहता है तथा दूसरी यह कि सामाजिक नियन्त्रण का काम समाज में एकता तथा एकरूपता बनाए रखना है।

मैकाइवर एवं पेज के शब्दों में सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस ढंग से है जिसमें सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में सामञ्जस्य और स्थायित्व बना रहता है अर्थात् उस ढंग से जिसमें सामाजिक व्यवस्था एक समष्टि के रूप में और एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में कार्य करती रहती है। [3] इस परिभाषा से प्रकट है कि सामाजिक नियन्त्रण कोई ऐसी व्यवस्था नहीं होती जिसमें कभी परिवर्तन न आता हो। सामाजिक नियन्त्रण को हमें ऐसी स्थिति मानना चाहिए जिसमें परिवर्तनों के बाद भी विभिन्न तत्वों के बीच सन्तुलन बना रहता है।

आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार दबाव का वह प्रतिमान जिसे समाज व्यवस्था बनाए रखने तथा नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाता है सामाजिक नियन्त्रण है। [4] स्पष्ट है कि इस परिभाषा के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण एक व्यवस्था है और दबाव किसी भी प्रकार के हो सकते हैं चाहे धर्म या नैतिकता के रूप में हों या सामाजिक मूल्यों के रूप में या कानून के रूप में। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सभी साधनों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता है।

इन विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण शब्द का प्रयोग हमें किसी संकीर्ण अर्थ में न लेकर व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। इसका अर्थ केवल व्यक्तियों के व्यवहारों का नियन्त्रण करना ही नहीं होता बल्कि एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना भी होता है जिससे व्यक्ति विकास के अधिकाधिक अवसर प्राप्त कर सकें और अराजक प्रवृत्तियों के विरुद्ध उन्मुख न हों। प्रथा और जनमत धर्म और

1 *E A Ross* Social Control

2 *T B Bottomore* Sociology p 211

3 मैकाइवर एवं पेज वही पृष्ठ 124

4 *Ogburn and Nimkoff* op cit p 139

नैतिकता, कानून, शिक्षा आदि सभी सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। हम, वस्तुतः, सामाजिक नियन्त्रण को तीन स्तरों पर देखते हैं—

(1) समूह का समूह पर नियन्त्रण (Control of group over group)

(2) समूह का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण (Control of group over its members)

(3) व्यक्तियों का अपने साथियों पर नियन्त्रण (Control of individuals over their fellows)

सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप
(Forms of Social Control)

प्रत्येक समाज में सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों के स्वभावों, व्यक्तियों के व्यवहारों आदि में भिन्नता होती है। अतः स्वाभाविक रूप से नियन्त्रण भी एक ही प्रकार के न होकर विभिन्न प्रकार के होते है। समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण के अनेक स्वरूपों को स्पष्ट किया है जिनमे से कुछ प्रमुख संक्षेप मे इस प्रकार हैं—

(1) चेतन और अचेतन नियन्त्रण (Conscious and Unconscious Control)—ये दो स्वरूप चार्ल्स कूले ने बताए है। वास्तव मे, सामाजिक घटनाएँ चेतन भी होती है और अचेतन भी। चेतन घटनाओं के प्रति व्यक्ति जागरूक रहते है, सोच-समझकर कार्य करते है। अचेतन घटनाएँ प्रायः सामान्य अनुभव से परे होती है। इन दोनो स्थितियों मे व्यक्ति को जो व्यवस्थाएँ नियन्त्रित करती है उन्हे चेतन नियन्त्रण और अचेतन नियन्त्रण कहा जाता है। बहुत-सी प्रथाओं, लोकाचारों आदि का पालन हम इसलिए करते है कि वे हमारे लिए लाभदायक हैं। अतः इनके नियन्त्रण चेतन सामाजिक नियन्त्रण है। पर अनेक परम्पराएँ, संस्कार आदि ऐसे है जिनसे हम अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होते रहते है, पर हम उन्हे प्रायः अनुभव नही करते, हम उनके प्रति जागरूक नही रहते। इनका नियन्त्रण अचेतन सामाजिक नियन्त्रण है। कूले के अनुसार, बुद्धि या ज्ञान का उद्देश्य समाज के अधिक विवेकपूर्ण चेतन नियन्त्रण का प्राप्त करना है।

(2) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct and Indirect Control)—मानहीम ने सामाजिक नियन्त्रण को दो भागों मे बाँटा है—प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष नियन्त्रण वह है जो हम पर बहुत निकट के व्यक्तियों द्वारा लगाया जाता है, जैसे—माता पिता, मित्रों या पड़ोसियों द्वारा लगाया गया नियन्त्रण। यह नियन्त्रण प्रशंसा, आलोचना, सम्मान, बहिष्कार आदि के माध्यम से लगता है और इसका प्रभाव स्थायी होता है, क्योंकि इसे व्यक्ति प्रायः आन्तरिक रूप से स्वीकार करता है। अप्रत्यक्ष नियन्त्रण वह है जो प्रायः समूहों या संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है और हमारे छोटे से छोटे व्यवहारों को नियन्त्रित करता है। इस नियन्त्रण के माध्यम से हम एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने को विवश होते हैं। पहले हम चेतन रूप से नियन्त्रित होते है पर फिर ऐसे नियन्त्रण मे रह कर काम करना हमारी आदत बन जाती है।

(3) औपचारिक एवं अनौपचारिक नियन्त्रण (Formal and Informal Control)—औपचारिक नियन्त्रण स्पष्ट रूप से परिभाषित होते हैं। राज्य के समस्त कानून विभिन्न समितियों के नियम, संस्थागत नियम आदि औपचारिक नियन्त्रण के ही विभिन्न साधन हैं। आधुनिक समाजों में नियन्त्रण के इन साधनों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। विभिन्न वैधानिक संहिताओं (Legal Codes), आर्थिक संहिताओं (Economic Codes), समिति संहिताओं (Associational Codes) की चर्चा हम सुनते रहते हैं। अनौपचारिक नियन्त्रण के साधन वे हैं जो स्वतः समाज की आवश्यकताओं के अनुसार विकसित होते रहते हैं और अपने आप नियन्त्रण का कार्य करते रहते हैं। प्रथाएँ, रीति-रिवाज, धर्म, शिक्षा, जनमत, लोक रीतियाँ, सामाजिक आदर्श आदि अनौपचारिक नियन्त्रण के प्रमुख साधन हैं। यद्यपि इनकी अवहेलना करने से राज्य की ओर से दण्ड नहीं मिलता, लेकिन व्यवहार में इनका प्रभाव औपचारिक नियन्त्रण से कहीं अधिक होता है।

(4) सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण (Positive and Negative Control)—किम्बाल यंग ने सामाजिक नियन्त्रण को इन्हीं दो भागों में बाँटा है। सकारात्मक नियन्त्रण का अर्थ है—पुरस्कारों युद्ध पारितोषिक, द्वारा व्यक्ति को प्रोत्साहन देना। व्यक्ति पुरस्कारों को प्राप्त करने के लिए स्वयं अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखता है। वह अनुशासित और नियमित रहने की चेष्टा करता है। स्कूलों में सबसे अधिक उपस्थिति (Attendance) पर पुरस्कार देना, अनुशासन के लिए विशेष पुरस्कार देना, किसी कार्य के लिए बधाई देना, आदि सकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण के उदाहरण हैं। नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण का अभिप्राय है—नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना। वह दण्ड नियम के उल्लंघन की गम्भीरता पर निर्भर करता है। यह दण्ड सामान्य आलोचना से लेकर मृत्युदण्ड तक हो सकता है। जाति बहिष्कार, उपहार, व्यंग, निन्दा, सामुदायिक नियम आदि नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप हैं।

(5) संगठित, असंगठित और सहज नियन्त्रण (Organised, Unorganised and Automatic Control)—नियन्त्रण के ये तीन स्वरूप गुरविच एवं मूरे ने बताए हैं। इन लेखकों के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण विभिन्न स्तरों से रहता है। संगठित नियन्त्रण का तात्पर्य उस नियन्त्रण से है जो विभिन्न छोटी बड़ी एजेन्सियों तथा व्यापक नियमों द्वारा किसी निश्चित ढाँचे के भीतर व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है। इन नियन्त्रणों का विकास नियमित रूप से होता रहता है और इनकी प्रकृति स्वेच्छाचारी होती है। विवाह, परिवार, स्कूल, ऑफिस आदि संस्थाओं द्वारा लगाए गए नियम संगठित नियन्त्रण के उदाहरण हैं। असंगठित नियन्त्रण के अन्तर्गत सांस्कृतिक नियम और प्रतीक आते हैं। उदाहरणार्थ विभिन्न संस्कार, परम्पराएँ लोकाचार, सामाजिक मानदण्ड आदि असंगठित नियन्त्रण के साधन हैं। दैनिक जीवन में इन नियन्त्रणों का प्रभाव सबसे अधिक होता है। सहज नियन्त्रण का आधार हमारे मूल्य, आदर्श, विचार, अनुभव,

आवश्यकताएँ आदि हैं। इनके कारण हम स्वभावत. कुछ नियमो के अन्तर्गत कार्य करते हैं। अपने आदर्शो, आवश्यकताओ और मूल्यो की पूर्ति के लिए हम सहज ही कुछ नियमो का पालन करते हैं। कानून और धार्मिक नियम सहज नियन्त्रण के कुछ उदाहरण हैं।

(6) कुछ अन्य स्वरूप (*Some other Forms*)—सामाजिक नियन्त्रणो के सभी प्रमुख स्वरूप ऊपर बताए गए है, तथापि कुछ समाजशास्त्रियो ने और भी अलग ढग से नियन्त्रण के स्वरूपो को बताया है। उदाहरणार्थ फ्रेडरिक जे० टेगार्ट (Fredrick J. Teggart) के अनुसार व्यक्तियो के बीच सामाजिक सम्बन्ध आग्रह और बाध्यता (Persuasion and Constraint) से नियन्त्रित होते हैं। गिडिंग्स (Giddings) ने समाज द्वारा लगाए गए बन्धनो के दो मुख्य कारण माने हैं—पुरस्कार और दण्ड (Reward & Punishment)। व्यक्ति प्रशसा और आरोप, परिहार और धमकाना, पश्चाताप और जुर्माना, सजा, अत्यधिक शारीरिक श्रम आदि से आज्ञा अथवा नियमो का पालन करना सीखता है। गिलिट एव रीनहार्ट (Reinhardt) ने भी सामाजिक नियन्त्रण के दो सामान्य ढग बताए हैं—प्रथम, शिक्षा एव समाजीकरण तथा द्वितीय, सामाजिक निर्देश जैसे पुरस्कार एव जुर्माना।

सामाजिक नियन्त्रण के सभी साधन समाज मे व्यक्तियो के व्यवहारो को सन्तुलित रखते हैं। इन नियन्त्रणो से ही सामाजिक सरचना और व्यवस्था बनी रहती है। समाज का निर्माण ही 'सामाजिक सम्बन्धो" और "नियन्त्रण की व्यवस्था" द्वारा होता है। एक की अनुपस्थिति से दूसरे का अस्तित्व किसी प्रकार भी सुरक्षित नही है।

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्त्व (Need and Importance of Social Control)

जैसे कि हम कह चुके है, समाज मे सामाजिक नियन्त्रण एक सन्तुलन-शक्ति के रूप मे कार्य करता है। यह मनुष्य की अराजक और अतिशय व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पर नियन्त्रण लगाता है जिससे सामाजिक अन्त क्रिया के नियमो की एकरूपता बनी रहती है और समाज अव्यवस्था से ग्रस्त नही होता। सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य ही विभिन्न स्थितियो मे समूह के सन्तुलन को बनाए रखना तथा सदस्यो मे सहयोग की भावना का पोषण करना है। यह उपयुक्त होगा कि हम *सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता और महत्त्व को अलग-अलग बिन्दुओ मे* स्पष्ट करें—

(1) सामाजिक सगठन को स्थिरता—नियन्त्रणो के फलस्वरूप सामाजिक सगठन को स्थिरता प्राप्त होती है। व्यक्ति स्वेच्छाचारी अथवा मनमाने ढग से कार्य नही कर पाते, अत सामाजिक जीवन की अनिश्चितता कम हो जाती है और स्थायित्वकारी शक्तियो को प्रोत्साहन मिलता है।

(2) सहयोग का प्रसार—नियन्त्रणो से सहयोग की स्थापना व प्रसार मे सहायता मिलती है। यदि व्यक्ति मनमाने ढग से कार्य और व्यवहार करने का

स्वतन्त्र हो तो वे सहयोग से नहीं बल्कि शक्ति और संघर्ष द्वारा अपने स्वार्थों को पूरा करने लगेंगे। मनुष्यों में जो पाशविक प्रवृत्तियाँ छिपी पड़ी हैं वे खुल कर सामने आ जाएँगी और इस प्रकार सहयोग को कोई स्थान न रहेगा। सामाजिक नियन्त्रणों की उपस्थिति में ही सहयोग और सहकारिता जैसी शर्तें सम्भव है। कहीं सहयोग बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है तो कहीं यह ऐच्छिक रूप में दिया जाता है। दोनों ही स्थितियों में सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है अन्यथा अनियन्त्रित जीवन और सामाजिक विघटन का मार्ग प्रशस्त होगा।

(3) **परम्पराओं की रक्षा**—परम्पराओं के टूटने से समाज में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती है। सामाजिक नियन्त्रण द्वारा परम्परागत व्यवहार करने पर बल दिया जाता है। परम्पराओं का पालन न करना समाज में हेय समझा जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण से परम्पराओं की रक्षा होती है। इसकी सहायता से संस्कृति की भी रक्षा होती है।

(4) **सामूहिक निर्णयों का पालन**—सामाजिक नियन्त्रण सामूहिक निर्णयों का पालन करने के लिए समाज के सदस्यों को बाध्य करता है। जो नवीन निर्णय समाज करता है उनका पालन करवाने के लिए सामाजिक नियन्त्रण भी निश्चित कर दिए जाते हैं।

(5) **समाज में एकरूपता**—सामाजिक संगठन के लिए सदस्यों में एकरूपता का होना आवश्यक है। एकरूपता का अर्थ है—व्यवहारों दृष्टिकोणों और आदर्शों की एकता। सामाजिक नियन्त्रण सदस्यों को यह एकता निभाने के लिए प्रेरित और बाध्य करता है। यह सदस्यों को समान नियमों के अनुसार रहना और कार्य करना सिखाता है। नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड भी देता है। सामाजिक नियन्त्रण न होने से मतभेदों, विघटन और संघर्ष को प्रोत्साहन मिलता है।

(6) **सामाजिक सुरक्षा**—सामाजिक नियन्त्रण व्यक्तियों को मानसिक और बाह्य रूप से सुरक्षा प्रदान करता है। मानसिक रूप से यह व्यक्ति में विश्वास पैदा करता है कि उसके हितों पर कोई व्यक्ति समाज विरोधी रूप में आघात नहीं करेगा। बाह्य दृष्टि से यह आश्वस्त करता है कि सम्पत्ति और रोजी के क्षेत्र में व्यक्ति का जीवन सुरक्षित रहेगा। सामाजिक नियन्त्रण नैतिक नियमों द्वारा लोगों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को दबाता है। यह उन्हें समाज में अनुकूल रहना सिखाता है।

सामाजिक नियन्त्रण के साधन
(Means of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण एक विस्तृत व्यवस्था है जिसमें विभिन्न साधन संयुक्त रूप से व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहारों को प्रभावित करते हैं। नियन्त्रण की व्यवस्था सतत् चलती रहती है और ऐसा भी नहीं है कि एक समय में कोई एक ही साधन समाज में नियन्त्रण रखे। सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न प्रमुख साधनों का उल्लेख अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है। यह ध्यान रहे कि लोकरीतियों,

लोकाचारों, प्रथाओं, आदि अनेक साधनों का पारिभाषिक विवेचन हम सामाजिक प्रतिमानों के अध्याय में कर चुके हैं, और प्रथा तथा जनमत, धर्म एवं नैतिकता, कानून तथा शिक्षा पर आगे पृथक् अध्याय लिखे गए हैं। सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न प्रमुख साधन निम्नवत् हैं—

(1) जन-रीतियाँ (Folkways)—मैकाइवर के अनुसार, "जन-रीतियाँ समाज में व्यवहार करने की स्वीकृति अथवा मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं।" समाज द्वारा मान्य होने से ये व्यक्ति के व्यवहारों को प्रत्यक्ष और प्राथमिक रूप से प्रभावित करती हैं। जन-रीतियों की अवहेलना करने वाले की समाज के अन्य सदस्यों द्वारा कठोर आलोचना होती है और वह निन्दा का पात्र बनता है।

कुछ जन-रीतियाँ बहुत आवश्यक होती हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम। नमस्कार करना, आवाज देकर घर में घुसना, स्वयं दूसरे की किसी वस्तु का उपभोग करने से पूर्व शिष्टतावश उससे पूछ लेना आदि कम महत्त्वपूर्ण जन-रीतियाँ हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत शिष्टता से अधिक और इनकी अवहेलना से सामाजिक ढाँचे को विशेष ठेस नहीं पहुँचती। दूसरी ओर सड़क के किनारे चलना, सड़क पर कूड़ा न डालना, घर को स्वच्छ रखना आदि जन-रीतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि एक ओर तो इनका सम्बन्ध सामाजिक उपयोगिता से है और दूसरे इनसे समाज-विशेष की प्रकृति स्पष्ट होती है।

जन-रीतियाँ हमारे स्वभाव में इतनी घुल-मिल जाती हैं कि हम अनजाने ही उनका अनुसरण करते रहते हैं। इसी ओर संकेत करते हुए सुमनर ने लिखा है कि "जन-रीतियाँ प्राकृतिक शक्तियों के समान हैं जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता रहता है।" जन रीतियों का जन्म स्वतः होता है तथा बार-बार दोहराने से ये विकसित हो जाती हैं। एक समाज की जन रीतियाँ साधारणतः दूसरे समाजों की जन रीतियों से भिन्न होती हैं। यहाँ तक कि एक ही समाज में ग्रामीण और नगरीय जन रीतियों में भी भिन्नता देखने को मिलती है। जन रीतियों का नियन्त्रण अनौपचारिक और असंगठित होता है।

(2) लोकाचार (Mores)—जन-रीतियों में जब समूह-कल्याण की भावना जुड़ जाती है तो उन्हें हम लोकाचार या रूढ़ियाँ कहते हैं। इनके विरुद्ध आचरण समाज के लिए अहितकर माना जाता है, अतः इनका अनुपालन एक सामाजिक कर्तव्य है। इनसे आचरण की शुद्धता अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त होती है।

लोकाचार सामान्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—आदेशात्मक (Positive) एवं निषेधात्मक (Negative)। आदेशात्मक लोकाचार वे हैं जो कुछ कार्यों को करने का आदेश देते हैं, जैसे माता-पिता का आदर करना चाहिए, सच बोलना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए, आदि। निषेधात्मक लोकाचार वे हैं जो कुछ व्यवहारों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं, अनैतिकता से बचना चाहिए, औरतों से अशिष्ट व्यवहार या छेड़खानी नहीं करनी चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए, आदि।

लोकाचारो या रूढियो का उल्लघन करने वालो की समाज निन्दा करता है, अत व्यक्ति इनका पालन करने के लिए विवश होते है। लोकाचारो मे अच्छे बुरे का भाव या मूल्य निहित है, अत लोग इन्हे विशेष रूप से ध्यान मे रखते हैं। हमारे समाज से अन्तर्विवाह, वहिर्विवाह, पर्दा-प्रथा आदि लोकाचारो या रूढियो के रूप मे हमारे व्यवहार को नियन्त्रित रखते है और सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन बने हुए है। डेविस ने लिखा है कि लोकाचारो को उचित प्रमाणित करने की आवश्यकता नही होती बल्कि वे तो स्वय की अधिकार-शक्ति से ही जीवित रहते हैं।

(3) परम्परा (Tradition)—समुदाय के जो विचार, आदतें और रीति विचार पीढी-दर-पीढी चले आते हैं, उन्हे परम्परा कहा जाता है। समुदाय परम्पराओ द्वारा अपने भूत और भविष्य को जोडता है। इनसे व्यक्ति के सामुदायिक जीवन का विकास होता है। प्रत्येक समाज की अपनी परम्पराएँ होनी है जो, मनुष्य के जीवन पर नियन्त्रण रखती है। साहित्य, सगीत, कला आदि मे भी विचारो की परम्पराएँ पाई जाती है।

(4) प्रचार (Propaganda)—आधुनिक युग मे सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र मे यह एक महत्त्वपूर्ण साधन बनता जा रहा है। आज व्यक्ति के विभिन्न व्यवहारो को किसी प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा नही बल्कि प्रचार द्वारा प्रभावित और नियन्त्रित की जाने की चेष्टाएँ ही अधिक व्यापक हैं। उदाहरणार्थ परिवार नियोजन के क्षेत्र मे प्रचार के प्रभाव से हम सभी परिचित है। प्रचार के महत्त्वपूर्ण माध्यम समाचार पत्र, चल-चित्र, रेडियो, प्रेस, नायक नायिकाएँ आदि हैं। इनके माध्यम से व्यक्तियों के विचारों का प्रभावित किया जाता है, व्यक्तियो म किसी बात के प्रति समान दृष्टिकोण विकसित करके सामाजिक एकरूपता प्राप्त की जाती है।

साधारणत 'प्रचार' शब्द से अच्छा अर्थ नही लगाया जाता। किन्तु उचित प्रयोग से यह नियन्त्रण का प्रमुख साधन बन सकता है। भारत मे चलचित्रो ने कुछ अनैतिकताओ को अवश्य बढाया है, लेकिन दूसरी ओर इन्होने समाज की रूढिवादिता की ओर बढने से रोका भी है। साधु, सन्त, समाज-सुधारक आदि सभी अपने विचारो का प्रचार ही तो करते है। इस प्रचार द्वारा ही वे एक अनुकूल लोकमत का निर्माण करते हैं।

(5) परिवार (Family)—सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र मे परिवार का विशेष महत्त्व है। समाजीकरण के अध्याय म भी हम इस दृष्टि से परिवार के प्रभाव पर सकेत डाल चुके हैं। व्यक्ति का जीवन परिवार से ही सबसे अधिक सम्बन्धित रहता है। जन-रीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, नैतिकता, धर्म आदि अपने आप ही व्यक्तियो को नियन्त्रित नही करते वरन् नियन्त्रण का यह अर्थ अधिकांशत परिवार के माध्यम से ही होता है। परिवार व्यक्ति को बाल्यकाल से ही इनके बारे मे परिचय कराता है, इन्हें समझाता है। परिवार मे रहकर ही बच्चा शुरू से समाज की नैतिकता को समझने लगता है, भूल या गलती हो जाने पर माफी माँगने तथा भविष्य मे उसे न दोहराने और प्रायश्चित करने आदि के महत्त्व को अनुभव करने लगता है तथा

सामाजिक मूल्यों में उसका विश्वास बढ़ता जाता है। बुराइयों से बचने और अच्छाइयों की दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा जितनी परिवार में मिलती है उतनी अन्यत्र नहीं। माता पिता बच्चे के जीवन के हर पहलू पर अपनी सचेत निगरानी रखते और उसके जीवन को अनुशासित बनाते हैं। परिवार द्वारा की जाने वाली आलोचना या पारिवारिक तिरस्कार व्यक्ति के लिए सबसे बड़ा दण्ड होता है। इससे बचने के लिए व्यक्ति आरम्भिक जीवन से ही सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण करता है और अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखता है। परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूह है, अतः सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में भी इसका प्रभाव प्राथमिक होता है।

(6) फैशन (Fashion)—फैशन समाज में एकरूपता का निर्माण करके सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है। यह हमारे बाह्य और अनावश्यक व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है। समाज के अनुरूप होने की हमारी इच्छा को फैशन पूरा करता है। हम प्रायः फैशन के विरुद्ध कार्य करने का साहस नहीं करते, क्योंकि समाज के उपहास का हमें भय रहता है। फैशन हमारे बाह्य व्यवहार को नियमित करके सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

(7) नेतृत्व (Leadership)—यह भी सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावशाली साधन है। महान् नेताओं के विचार समाज को नियन्त्रित रखने में सदैव महत्त्वपूर्ण रहे हैं। सेना में तो नेतृत्व का अत्यधिक महत्त्व है। इसके अभाव में सैनिकों का जीवन एकदम अनियमित और उच्छृंखल हो सकता है। उचित नेतृत्व द्वारा समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जा सकता है। लोगों का एक विशेष प्रकार से कार्य करने का निर्देश दिया जा सकता है। सुयोग्य और महान् नेता समाज को किसी भी दिशा में मोड़ सकते हैं। महात्मा गांधी, अब्राहम लिंकन, मुसोलिनी, हिटलर आदि ने अपने देश के लोगों को किस तरह नियन्त्रित किया, यह सर्वविदित है।

(8) प्रथा (Custom)—सामाजिक प्रथाएँ हमारे जीवन में इतनी घुल मिल जाती हैं और हमारे जीवन को इस गहराई से प्रभावित करती हैं कि हम अनजाने ही उनके अनुकूल आचरण करते रहते हैं। सामाजिक नियन्त्रण में इनके महत्त्व को एक कारक (Factor) के रूप में हममें से बहुत कम लोग महसूस करते हैं, क्योंकि ये हमारे जीवन के अनुभवों में इतना सामान्य स्थान प्राप्त किए रहती हैं कि हम जीवन भर इनके प्रभावों का भान नहीं कर पाते। मैकाइवर के शब्दों में, 'प्रथाएँ हमसे इतनी घनिष्ठ होती हैं कि जब तक हम उन पर विचार नहीं करते हम यह कभी नहीं जान पाते कि वे किस प्रकार हमारे जीवन के लगभग प्रत्येक अवसर से सम्बन्धित होती हैं और सुबह से लेकर रात तक तथा जवानी से लेकर बुढ़ापे तक किस प्रकार हमारे सारे कार्य प्रथाओं द्वारा नियमित होते हैं।'[1]

1 मैकाइवर एवं पेज : समाज, पृष्ठ 161

समाज चाहे सरल हो या जटिल, प्रथाएँ सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख आधार हैं। ये न केवल व्यक्तिगत व्यवहारों को नियन्त्रित करती हैं बल्कि हमारी संस्कृति को भी स्थायित्व प्रदान करती हैं। प्रथाओं के पीछे इतनी अधिक सामाजिक शक्ति छिपी होती है कि सामान्य स्तर के व्यक्ति इनकी अवहेलना करने का साहस ही नहीं कर पाते, चाहे उनके विचार में कुछ प्रथाएँ अनुपयोगी ही हों। समाज में प्रथाओं का पालन करना ही मनुष्य का उचित आचरण समझा जाता है और व्यवहार के किसी भी अध्याय में हम प्रथाओं को महत्त्वपूर्ण रूप से उपस्थित पाते हैं। सामाजिक नियन्त्रण में प्रथाएँ जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं अथवा इस दृष्टि से प्रथाओं के जो उपयोगी कार्य हैं, उन्हें पृथक् पृथक् बिन्दुओं के अन्तर्गत समझना अधिक सुविधाजनक होगा—

(i) सामाजिक सीख के माध्यम से नियन्त्रण—प्रथाएँ हम यह सामाजिक सीख देती हैं कि यदि हम पीढ़ियों से चले आ रहे व्यवहारों को तिलांजलि देते रहे और सभी कार्यों को करने में अपनी ही बुद्धि का प्रयोग करने लगे तो इसका अर्थ यह होगा कि—प्रथम हमारा सारा जीवन त्रुटि और सुधार (Trial and Error) के झमेले में ही बीत जाएगा और हम अपनी आवश्यकताओं को कभी पूरा नहीं कर पाएँगे, द्वितीय हम पीढ़ियों से चले आ रहे व्यवहारों और ज्ञान का कोई लाभ नहीं उठा पाएँगे, एवं तृतीय, हम हर चीज दुबारा खोजनी होगी जिससे हमारे समय और हमारी शक्ति का अनावश्यक रूप से अपव्यय होगा। प्रथाएँ, वास्तव में हम यह विश्वास दिलाती रहती हैं कि वे पीढ़ियों से उपयोगी रही हैं अतः उनका पालन करने से हम कोई हानि नहीं होगी। यह विश्वास हमारे हृदय में इतना घर किए रहता है कि हम अचेतन रूप से वही व्यवहार करने लगते हैं जो समाज की दृष्टि में उचित है। स्पष्ट है कि सामाजिक सीख देकर प्रथाएँ हमारे व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं, सामाजिक नियन्त्रण के लिए समुचित वातावरण बनाए रखती हैं।

(ii) हमारे व्यवहारों में एकरूपता लाकर सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखना—प्रथाएँ सामाजिक एकरूपता लाकर सामाजिक नियन्त्रण को प्रोत्साहन देती हैं। हमारे व्यवहारों में अनिवार्य समरूपता उत्पन्न करके समाज का संगठन करने की दिशा में प्रथाओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। प्रथाओं की अवहेलना करने पर सामाजिक निन्दा अथवा दण्ड के पीछे समाज का एक मूल उद्देश्य यही रहता है कि व्यक्ति प्रथाओं की अनिवार्यता को महसूस करे और उन व्यवहारों को अपनाए जिन्हें समाज 'उचित' समझता है। प्रथाओं में एक प्रकार की निर्देश शक्ति होती है जिसका हम अचेतन रूप से पालन करते रहते हैं उसके विरुद्ध जाने का साहस नहीं करते। आदिम समाजों में प्रथा की या निर्देश शक्ति और उसका उल्लंघन करने पर सामाजिक दण्ड का भय बहुत अधिक रहता है। सभ्य समाजों में तुलनात्मक रूप से प्रथाओं की यह शक्ति कम रहती है, क्योंकि सभ्य समाजों की परिस्थितियाँ कानून (Law) को अधिक महत्त्व देती हैं। फिर भी व्यक्तियों में, चाहे वे किसी भी समाज के हों,

प्रथाओं के प्रति श्रद्धा पाई जाती है और हम व्यवहार में प्राय देखते हैं कि यदि हमसे आकस्मिक रूप में या परिस्थितिवश किसी महत्वपूर्ण प्रथा की अवहेलना हो जाती है तो हमारे हृदय में स्वय ही आत्म ग्लानि की भावना पैदा हो जाती है और हमारे परिवार के लोग, मित्रगण, सगे-सम्बन्धी हमे इसके लिए बुरा-भला कहते हैं और हम नतमस्तक होकर यह आश्वासन देते हैं कि भविष्य में ऐसी गलती नहीं करेंगे। वास्तव में, प्रथाएँ व्यक्तियों के व्यवहारो पर मनोवैज्ञानिक रूप से नियन्त्रण रखती हैं और इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती हैं।

(iii) सामाजिक अनुकूलन में सहायक—प्रथाओं के पीछे सारे समूह की शक्ति छिपी होती है, अत व्यक्ति समूह या समाज में अनुकूलन करने के लिए प्रथाओं का पालन करना उचित समझता है। ऐसा करने में हम अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं। आदिम समाजो में और कुछ-कुछ हमारे समाजो में भी लोग अनेक प्रथाओं की अवहेलना इस भय से भी नहीं करते कि कहीं कुल देवता अप्रसन्न न हो जाएँ। धार्मिक क्षेत्र में प्रथाओं को पवित्रता का जामा पहिना दिया जाता है और इस प्रकार लोगो में यह भाव भरने की कोशिश की जाती है कि अमुक प्रथाओं को लोग अनिवार्यत मानें, अन्यथा वे अधार्मिक आचरण के भागी होंगे। सामाजिक परिवर्तनो की लहर आने पर भी प्राय प्रथाओं को आमूल चूल उखाड फैंका नहीं जाता वरन् प्रथागत व्यवहारों में समयानुकूल संशोधन करके उन्हें बने रहने दिया जाता है। स्पष्ट है कि प्रथाएँ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हमारे व्यवहारो पर कुछ न कुछ नियन्त्रण सदैव बनाए रखती है और समाज से अनुकूलन करने के लिए हम पर दबाव डालती रहती हैं। प्रथाओं की अवहेलना का विचार ही हमें यह अनुभव कराता है कि हम कोई "सामाजिक अपराध" करने जा रहे हैं। समाज के डर से हम इनका यथासाध्य उल्लघन नहीं करते। इसीलिए बुकन ने प्रथाओं को व्यक्ति के जीवन का प्रमुख दण्डाधिकारी (The principal magistrate of man's life) माना है।

(iv) समूह कल्याण में वृद्धि—यद्यपि प्रत्येक समाज में कुछ प्रथाएँ रूढिवादी अथवा अनुपयोगी हो सकती हैं, लेकिन अधिकांश प्रथाएँ अपनी उपयोगिता के बल पर टिकी होती हैं अर्थात् वे ऐसी प्रथाएँ होती हैं जिनसे समूह-कल्याण (Group-welfare) में वृद्धि होती है। इसीलिए वे इतनी जड जमाए होती हैं और इतना गहरा प्रभाव रखती हैं कि व्यक्ति द्वारा उनकी अवहेलना को "सामाजिक अपराध" माना जाता है। इस प्रकार की उपयोगी और कल्याणकारी प्रथाएँ समाज में व्यवहार के तरीको में अनावश्यक परिवर्तनों पर रोक लगाती हैं। किसी भी नवीनता को अपनाने में कुछ न कुछ खतरे की आशंका रहती ही है, जबकि प्रथाएँ पीढ़ियों से सुपरीक्षित होती हैं, अत उनका अनुपालन करने से व्यक्ति विभिन्न आशंकाओं और विपत्तियों से बचा रहता है। प्रथाओं की उपयोगिता इस बात में भी है कि ये समाज में प्रत्येक व्यक्ति के पद या स्थिति और कार्य (Status and Role) का निर्धारण करती हैं, और इस प्रकार सदस्यों को पारस्परिक संघर्षों से बचाती हैं। प्रथाओं से व्यक्तियों को मानसिक सन्तोष मिलता है जिससे अन्ततोगत्वा

समूह-कल्याण में वृद्धि होती है। प्रथाएँ अनिवार्य रूप से 'स्थिर' (Static) नहीं रहती, क्योंकि परिस्थितियों और आवश्यकताओं मे परिवर्तनों के साथ प्रथाओं की प्रकृति में भी थोड़ा परिवर्तन आ जाता है। लेकिन प्रथाएँ व्यापक परिवर्तनों का स्वागत नहीं करती, क्योंकि इससे सामाजिक नियन्त्रण मे शिथिलता की आशंका रहती है।

(v) **प्रशासन मे प्रथाओं की उपयोगिता**—यदि समुचित सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था बनी रहे तो प्रशासन की सफलता का मार्ग भी प्रशस्त होता है। इस दृष्टि से प्रथाओं के महत्त्व को प्रशासनिक क्षेत्र में सदैव स्वीकार किया जाता रहा है। साम्राज्यवादी प्रशासकों ने भी अपने प्रशासन को चलाने तथा प्रशासित प्रदेशों के लिए कानून बनाने की दृष्टि से समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों की सेवाओं का उपयोग किया था। ये समाजशास्त्री और मानवशास्त्री उपनिवेशों मे लोगों की प्रथाओं का अध्ययन करके प्रशासकों को सुझाव देते थे कि प्रथाओं को ध्यान में रखते हुए क्षेत्र-विशेष के लिए किस प्रकार के कानून बनाना उपयोगी होगा। जिन साम्राज्यवादी शासकों ने अपने द्वारा प्रशासित प्रदेशों की प्रथाओं की अवहेलना की, उन्हें इसके कटु-स्वाद चखने पड़े।

(vi) **व्यक्तित्व के निर्माण द्वारा सामाजिक नियन्त्रण मे योग**—प्रथाएँ व्यक्तित्व के निर्माण मे सहयोग देकर भी सामाजिक नियन्त्रण को दृढ बनाती हैं। व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक अनेक गुणों का विकास विभिन्न प्रथाओं द्वारा होता है और फलस्वरूप व्यक्ति का जीवन अनुशासित तथा समाज के अनुकूल बनता है। जिन समाजों मे प्राकृतिक आपदाएँ बहुत अधिक होती हैं वहाँ की प्रथाएँ शक्ति-प्रदर्शन के व्यवहारों को अधिक मान्यता देती हैं। वैवाहिक प्रथाओं में भी शारीरिक शक्ति परीक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। दूसरी ओर हमारे जटिल और नगरीकृत समाजों में प्रथाओं का सम्बन्ध सामूहिकता तथा शिष्टता के व्यवहारों मे अधिक होता है। आशय यह हुआ कि प्रथाएँ संस्कृति के सन्दर्भ मे हमारे व्यक्तित्व का विकास करने मे सहयोग देती हैं जिससे सामाजिक नियन्त्रण मे अधिक सन्तुलन उत्पन्न होता है।

स्पष्ट है कि प्रथाएँ बहुत कुछ "एक निरंकुश राजा" की तरह समाज पर नियन्त्रण रखती है और यह कहने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि समाज की सम्पूर्ण संरचना एक अर्थ मे प्रथागत ही होती है।

(9) **जनमत (Public Opinion)**—जनमत सामाजिक नियन्त्रण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। यह व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने वाली प्रमुख शक्ति ही नहीं है बल्कि विशालकाय संघों और समूहों के स्वेच्छाचारी व्यवहार पर भी अंकुश रखती है। प्रत्येक समाज मे, चाहे वह सरल हो या जटिल अथवा प्राथमिक हो या द्वैतीयक, जनमत का प्रभाव देखा जा सकता है। आदिम समाजों मे तो जनमत ही सब कुछ है, वही प्रजा है और वही राजा। हमारे सभ्य समाजों मे भी जनमत सामाजिक व्यवहार को, राजकीय नीतियों को, सरकार को, संघों और

समूहो को विभिन्न रूपो मे प्रभावित करने वाला शक्तिशाली हथियार है। जहाँ प्रथा "एक निरकुश राजा" की तरह समाज पर नियन्त्रण रखने की क्षमता रखती है वहाँ जनमत अनजाने ही व्यक्ति को समाज के अनुकूल व्यवहार करने की प्रेरणा देता है। जनमत के नियन्त्रणकारी महत्त्व को हम निम्नलिखित बिन्दुओ मे अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सकते हैं—

(i) **प्राथमिक समाज मे व्यक्तिगत व्यवहार पर नियन्त्रण**—जनमत प्राथमिक और द्वैतीयक सभी समाजो में व्यक्तियो के व्यवहारो पर नियन्त्रण का प्रभावशाली साधन है। व्यक्तियो के उन विचारो, मनोवृत्तियो और इच्छाओ पर जो समाज के लिए उचित न हो, जनमत के कारण बहुत कुछ अकुश लगा रहता है। प्राथमिक समाजो मे व्यक्ति के अधिकांश व्यवहार सामाजिक निन्दा या उपहास के भय से नियन्त्रित होते हैं। अधिकांश लोगो के प्रत्यक्ष अथवा आमने सामने के सम्बन्ध होते हैं, अत कोई भी व्यक्ति ऐसे व्यवहारो से बचता है जिनके कारण उसे नीचा देखना पड़े, लोगो की निन्दा का पात्र बनना पड़े। प्राथमिक समाजो में यह विश्वास प्रबल होता है कि जनमत सदैव सार्वजनिक कल्याण को अभिव्यक्त करने वाला है अत जो व्यक्ति जनमत की अवहेलना करता है वह समाज विरोधी है। दूसरी ओर, प्राथमिक समाजो मे अधिकाश व्यक्ति इतने जागरूक और शिक्षित नही होते कि वे किसी विषय पर स्वय निर्णय ले सकें। अत जनमत के अनुसार कार्य करना ही उन्हें निरापद लगता है। प्राथमिक समाजो मे लोग जनमत को एक प्रबल शक्ति के रूप मे देखते हैं, और प्राय व्यक्तिगत हानि उठाकर भी जनमत की अवहेलना करने का साहस नही करते।

(ii) **द्वैतीयक समाज मे व्यक्तिगत व्यवहार पर नियन्त्रण**—द्वैतीयक समाजो मे तो जनमत धर्म प्रथा, परम्परा आदि साधनो की तुलना मे नियन्त्रण का कही अधिक प्रभावशाली साधन है। अपनी नियन्त्रणकारी शक्ति मे कभी-कभी तो यह कानून की शक्ति को भी पीछे छोड देता हैं। द्वैतीयक समाजो मे लोगो के पारस्परिक सम्बन्ध अधिकांशत निजी स्वार्थों पर आधारित होते हैं, अत एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मत को प्राय सम्मान देता है। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति का जीवन सामान्यत इतना व्यस्त होता है कि हर समस्या और हर स्थिति के बारे मे यही होता है कि वह जनमत की धारा में बहता चले। इसीलिए उसके अधिकांश व्यवहार जनमत के अनुकूल होते हैं। इसी मे उसके व्यक्तित्व के विकास के बीज भी छिपे होते हैं, क्योंकि अधिकाधिक व्यक्तियो का समर्थन पाकर ही व्यक्ति एक द्वैतीयक समाज मे सफल हो सकता है, अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है। जनमत समाज की मान्यताओ को प्रकट करता है, अत लोगो को ख्याल रहता है कि समाज की मान्यताओ के अनुरूप व्यवहार करने पर ही उन्हें समाज मे सम्मान मिलेगा।

(iii) **शासन पर नियन्त्रण**—जनमत वह है जिसकी उपेक्षा करने से शासन भी प्राय भय खाता है। हजारो लाखो व्यक्ति जब समान निर्णय पर पहुँचते हैं तो उस निर्णय का निरादर करना किसी भी सरकार के लिए कठिन है। सरकार चाहे

लोकतान्त्रिक हो या अधिनायकवादी, अपने पक्ष में जनमत को बिना प्राप्त किए अधिक दिन तक नहीं रह सकती। शासन जनता की मनोवृत्तियों और इच्छाओं की मनमाने ढंग से अवहेलना करने में सकुचाता है। डेविस के शब्दों में, "जनता की शक्तिशाली प्रतिक्रिया एक युद्ध आरम्भ कर सकती है, अथवा क्रान्ति उत्पन्न कर सकती है। प्रत्येक सरकार आवश्यक रूप से अपने पक्ष में जनमत रखने का प्रयत्न करती है, अन्यथा उसके उखड़ जाने का भय बना रहता है।"[1] यदि शासन जनमत की निरन्तर अवहेलना करता रहे तो एक ऐसा शक्तिशाली असन्तुष्ट गुट बन जाएगा जो सरकार को चैन से नहीं बैठने देगा। जनमत कानून से अधिक तेजी के साथ कार्य करता है और सही जनमत जानकर शासन कार्य चलाने से सरकार अनेक आपत्तियों से बच जाती है। प्रत्येक सरकार लोगों को यह विश्वास दिलाती रहती है कि वह जो कुछ भी कर रही है वह सार्वजनिक हित में है। गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "सरकार के लिए जनमत का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि जनमत एक बहुत बड़े जन-समूह के विचारों का मूर्त स्वरूप होता है और इसकी उपेक्षा करने से निश्चित ही एक बड़ी दुर्घटना होने का भय रहता है।"

(iv) शैक्षणिक मूल्य—सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में जनमत का बड़ा शैक्षणिक मूल्य इस रूप में है कि वह व्यक्ति को अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना सिखाता है। जनमत व्यक्ति में यह भाव जाग्रत करता है कि वह किसी परिस्थिति-विशेष पर केवल अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही विचार न करे वरन् सामाजिक हित की दृष्टि से भी विचार करे और अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण का यथासाध्य सामाजिक दृष्टिकोण के साथ सामञ्जस्य बैठाने का प्रयत्न करे। जनमत व्यक्ति को अनुशासित बने रहने की शिक्षा देता है। आधुनिक जटिल समाजों में जनमत समाजीकरण का एक अप्रत्यक्ष साधन है, क्योंकि जनमत की प्रशंसा पाने के लिए व्यक्ति अपने चरित्र, व्यवहार और कार्यों को सही ढंग से रखने और करने का प्रयत्न करता है तथा ऐसे कदमों को उठाने से बचने की चेष्टा करता है जिनसे समाज में उसकी निन्दा का भय हो। जनमत को सामाजिक नियन्त्रण की एक सहायक शक्ति माना जाता है।

(v) प्रायः उच्च वर्ग का व्यवहार स्वेच्छाचारिता की ओर अधिक आकर्षित होता है, किन्तु जनमत उनकी इस प्रवृत्ति पर बहुत कुछ रोक लगाए रखता है। उच्च वर्ग के लोगों में यह जागरूकता बनाए रखने में जनमत का विशेष योगदान होता है कि यदि स्वेच्छाचारिता का मार्ग अपनाया गया और जनमत के विरुद्ध कार्य किया गया तो उनकी प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगेगा। जनमत का इस दृष्टि से भी अधिक महत्त्व है कि यह शासकों को उच्च वर्ग के लोगों को, राजनीतिज्ञों को इस बात का अहसास कराता है कि उनकी वास्तविक कमजोरी क्या है। अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी राजनीतिज्ञ और शासक वर्ग जनमत का सम्मान करने को बाध्य होते

1 किंग्सले डेविस : मानव समाज, पृष्ठ 311

हैं। इतिहास बताता है कि नेपोलियन ने जनमत को अपने पक्ष में बनाए रखने की कला सीख कर ही अपनी राज्य-सत्ता को सुदृढ बनाया।

(vi) समाज में कोई भी प्रथा, रूढि, फैशन, रीति रिवाज अथवा सामाजिक नियन्त्रण का कोई भी अन्य रूप बिना जनमत की सहायता प्राप्त किए नहीं रह सकता। प्रथाएँ जनमत के आधार पर ही पीढी-दर-पीढी चलती रहती हैं और जब कभी जनमत प्रथाओं के विरोध में आ जाता है तो उन प्रथाओं को बदलना या उनमें संशोधन करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए स्त्रियों का राजनीति में भाग न लेना एक प्राचीन और परम्परागत प्रथा थी, लेकिन जब जनमत इस प्रथा के प्रतिकूल हुआ तो स्त्रियों का राजनीति में भाग लेना उपयुक्त समझा जाने लगा और आज स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करती हैं।

जनमत सामाजिक नियन्त्रण का एक मूलभूत शक्तिशाली साधन है और हम यह भलीभाँति जानते हैं कि एक प्रबल जनमत के विरोध का परिणाम सामाजिक बहिष्कार एवं प्रतिष्ठा की हानि अथवा आर्थिक सम्मान की हानि या अन्य कोई हानि हो सकती है। आदिम समाजों में तो जनमत की अवहेलना का परिणाम जीवन की समाप्ति तक हो सकती है।

(10) धर्म (Religion)—सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में धर्म का समाज में सदा से विशेष महत्त्व रहा है। वैयक्तिक, सामाजिक और सार्वजनिक जीवन को नियन्त्रित करने में धर्म एक प्रमुख शक्ति की भूमिका निभाता रहा है। पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक के विचार ने मानव-जीवन को जितना नियन्त्रित किया है उतना अन्य किसी भी एक तत्त्व ने नहीं। टायलर, मेरट, दुर्खीम, मैक्समूलर आदि मानव शास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने में धर्म के महत्त्व को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। हम इस क्षेत्र में धर्म की भूमिका को निम्नलिखित बिन्दुओं में व्यक्त कर सकते हैं।

(i) धर्म व्यक्ति में 'पाप' और 'पुण्य' के प्रति विचार उत्पन्न करता है और यह भाव भरता है कि धार्मिक नियमों का पालन न करना, समाज के अनुकूल चलना, चरित्र को गिराने वाले कार्यों को करना आदि मनुष्य को 'पाप' की ओर धकेलते हैं। धर्म व्यक्ति में इस भय का संचार करता है कि अपराध और दुराचार करने पर वह 'अलौकिक' शक्ति अप्रसन्न होगी और फलस्वरूप इस लोक में भी उसे दुख भोगने पड़ेंगे तथा परलोक में भी उसका जीवन यातनामय होगा। व्यक्ति के कुकर्मों का फल उसकी सन्तान को भी भोगना पड़ेगा। इस प्रकार का भय व्यक्ति के मन में इतनी गहराई से समा जाता है कि वह पाप-कार्यों, अपराधों, दुराचार आदि से यथासम्भव बचने का प्रयत्न करता है। स्वर्ग और नरक की धारणा उसके व्यवहारों को सबसे अधिक प्रभावित करती है। आज के औद्योगिक युग में कानून और न्याय के नियन्त्रण केवल औपचारिक साधन बन गए हैं जिनकी अवहेलना करना हमारी आदत बन गई है। लेकिन 'ईश्वरीय दण्ड' का भय हमें अनेक बुरे कार्यों को करने से रोके रहता है और इसका हम अपने दैनिक जीवन में अनुभव भी करते हैं।

(ii) धर्म न केवल मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध मे अपितु मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्ध मे भी नियम बनाता है। इस प्रकार धर्म के कारण व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध और विभिन्न कार्य बड़ी सीमा तक नियन्त्रित व निर्देशित होते हैं। इसमे सन्देह नही कि धर्म के प्रभाव के अभाव मे सामाजिक दुराचार और अनैतिकता मे इतनी वृद्धि हो सकती है कि हम अनुमान भी नही लगा सकते। धर्म के नियमो का पालन करने से लोगो मे यह विश्वास पनपता है कि वे अपने जीवन को सुधार रहे हैं और परलोक मे उन्हे सुख की प्राप्ति होगी। उनमे यह विश्वास भी पैदा होता है कि उनके अच्छे कार्यों का सुन्दर फल उनके बच्चो को भविष्य मे मिलेगा। इस प्रकार के विचार और व्यवहार से समाज मे नैतिकता और मानवीयता का सचार होता है।

(iii) धर्म निराश व्यक्तियो का सबसे बड़ा सहारा है। निराशा से ग्रस्त व्यक्ति सामाजिक नियमो की सबसे अधिक अवहेलना करते हैं और केवल धर्म ही एक-मात्र ऐसी सस्था है जो उसमे नैतिकता का सचार करती है, उसमे आत्म नियन्त्रण की भावना भरती है। धर्म निराश व्यक्ति से कहता है कि पिछले कर्मो का तो उसे यह फल मिला है और अब फिर बुरे कर्म करके क्यो अपना अगला जीवन अन्धकार मे डालता है। धर्म निराश व्यक्ति मे साहस का सचार करता है कि "भगवान के घर देर है, अन्धेर नही, अत: तू अपने कर्त्तव्य से मत डिग।" धर्म ने व्यक्तियो और परिवारो के विघटन को जितना रोका है उतना अन्य सभी साधन मिलकर भी नही कर सके हैं।

(iv) धर्म 'एक आध्यात्मिक ससार' की रचना करता है जिसमे रहने के फलस्वरूप व्यक्तियो मे सहनशीलता, उदारता, परोपकारिता, दया, सत्यवादिता आदि, मानवीय गुणो का विकास होता है। धार्मिक सस्थाएँ सामाजिक व्यवस्था मे जितनी दृढता से सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना करती हैं, उसकी कोई तुलना नही की जा सकती। विवाह को एक सस्कार का रूप देकर धर्म ने पारिवारिक जीवन को कितना स्थायी बनाया है, इसकी प्रत्येक हिन्दू सहज ही कल्पना कर सकता है। स्वर्ग और नरक तथा जन्म और पुनर्जन्म के धार्मिक विचारो ने भारतीय सस्कृति को जितना सहनशील, उदार और समन्वयकारी बनाया है, कहने की आवश्यकता नही।

(v) धर्म व्यक्तित्व का निर्माण करने वाला और सामाजिक जीवन का सगठन-कर्ता है। धर्म व्यक्ति को सांसारिक निराशाओ से बचा कर उसके व्यक्तित्व को सगठित रखता है और फलस्वरूप समाज मे व्यवस्था बनी रहती है। जब दुनिया व्यक्ति को ठुकराने लगती है तो धर्म उसे सहारा देता है और टूटने से बचाता है। धर्म उसे विश्वास दिलाता है कि नैतिकतापूर्ण जीवन बिता कर वह वर्तमान विपत्तियो से छुटकारा पाएगा और समाज मे पुन सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। धर्म व्यक्ति को दूने उत्साह से काम करने की प्रेरणा देता है। धर्म उसे हर चरण मे समाज से अनुकूलन करना सिखाता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय पैदा करने वाली सस्था है। बचपन किशोरावस्था, वैवाहिक अवस्था, वृद्धावस्था आदि सभी स्तरो पर धर्म ने विभिन्न सस्कारो और व्यवहारो की व्यवस्था

की है जिनसे शुरू से आखिर तक वैयक्तिक जीवन में और फलस्वरूप समाज में एक सन्तुलन बना रहता है, एक निश्चित व्यवस्था बनी रहती है। धर्म वास्तव में भूत, वर्तमान और भविष्य का एक आदर्श समन्वय है।

(vi) धर्म व्यक्ति को भावनात्मक सुरक्षा देकर उसे निर्बलता, अभाव और अनिश्चितता की स्थितियों में सम्बल पहुँचाता है। वह मनुष्य को अपनी परिस्थितियों से अनुकूलन करने की क्षमता देता है जिससे समाज में नियन्त्रण की व्यवस्था को सहारा मिलता है। आज के शुष्क वैज्ञानिक सिद्धान्तों के युग में व्यक्ति को जिन मानसिक सहारे की आवश्यकता होती है, जिन व्यावहारिक और अनुभवातीत लक्ष्यों की आवश्यकता होती है, उनकी प्राप्ति में केवल धर्म ही सहायक होता है।

(vii) धर्म आत्म-त्याग, बलिदान, उत्कट देश-भक्ति आदि का प्रचार करने वाली विलक्षण शक्ति है। इन भावनाओं के विकास से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में अनुशासन आता है। धर्म व्यक्ति के सामने मानव-जीवन के महत्व को स्पष्ट करता है उसे पलायनवादी प्रवृत्ति से हटा कर कर्तव्यपरायणता की ओर उन्मुख करता है। धर्म कहता है—तुम्हारा जीवन अपना नहीं है, वह दूसरों के लिए है अतः दूसरों के लिए काम करते हुए ही जिओ और मरो, इसी में तुम्हारा अपना कल्याण है इसी में मानव-जीवन की महानता है। जब समाज के सदस्यों में ऐसे भाव प्रबल रूप से जाग्रत हो उठते हैं तो वह समाज एक तेजस्वी, सयमी, सुव्यवस्थित और स्वनियन्त्रित समाज बन जाता है।

(viii) धर्म उन सभी शक्तियों को, उन सभी तत्वों को और साधनों को प्रोत्साहित करता है जिनसे सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है। लोकाचार समाज के नैतिक मूल्य हैं जिनकी अनिवार्यता को स्पष्ट करने और जिन्हें स्थायी बनाए रखने में धर्म का बड़ा हाथ है। मेरिल ने लिखा भी है कि 'लोकाचारों का कार्य सामाजिक कल्याण में अभिवृद्धि है और इन लोकाचारों की स्वीकृति धर्म के द्वारा होती है।" अनेक सामाजिक प्रतिमान धर्म का सहारा पाकर स्थायित्व ग्रहण करते हैं, समाज में लोकप्रिय होते हैं। धार्मिक ग्रन्थों के अनेक आदेश लोकाचारों के रूप में होते है जो स्पष्ट करते है कि विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति के कर्त्तव्य क्या है।

(ix) धर्म सामाजिक जीवन में तनावों को रोक कर सामाजिक एकीकरण को प्रोत्साहन देता है। इस दृष्टि से धर्म व्यवहार के समान तरीकों को अपनाने की प्रेरणा देता है और व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के स्थान पर सामाजिक कल्याण की शिक्षा देता है। वैयक्तिक स्वार्थ और सामाजिक कल्याण के बीच संघर्ष की स्थिति में धर्म सामाजिक कल्याण को प्रमुखता देकर सामाजिक एकीकरण में सहायक होता है। धर्म का एक प्रमुख कार्य सामाजिक मूल्यों की उपयोगिता और महत्ता को स्पष्ट करना है जिससे सामाजिक एकीकरण की शक्तियों को सहारा मिलता है। हैरी एम जानसन ने लिखा है कि 'धर्म एकीकरणकारी कोई एकमात्र शक्ति नहीं है वरन् अनेक साधनों में से एक है जो एकीकरण की प्रक्रिया में योगदान करता है।" पर हम इसमें इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि यदि धर्म को स्वस्थ रूप में अपनाया जाए तो वह

सामाजिक एकीकरण की स्थापना करने वाली सबसे प्रबल शक्ति है जिसके सहयोग के अभाव मे अन्य साधन शिथिल पड जाएँगे।

(x) धर्म सामाजिक परिवर्तन पर समुचित नियन्त्रण लगा कर समाज मे स्थायित्व लाता है, विघटित करने वाली शक्तियो से उसे बचाता है। स्वस्थ सामाजिक परिवर्तन समाज को लाभ पहुँचाते है पर यदि परिवर्तन तेजी से हुए तो समाज के विघटन का भय भी उत्पन्न हो जाता है। धर्म आकस्मिक और तीव्र परिवर्तनो पर अकुश लगाता है। धर्म अपनी प्रकृति मे रूढिवादी, अपरिवर्तनवादी और परम्परावादी होता है, अत: किन्ही भी परिवर्तनो को सहसा ही समाज मे जड जमाने की अनुमति नही देता। धर्म का अकुश समाज के सदस्यो को इतना अवसर प्रदान करता है कि वे परिवर्तनो की लाभ हानि को कसौटी पर कस लें। जो परिवर्तन आवश्यक हो, समाज के लिए बडे उपयोगी और स्वस्थ हो, उनका धर्म स्वागत करता है लेकिन सयमित रूप से, हडबडी मे नही। धर्म का महत्त्व इस बात मे भी है कि वह लोगो मे एक ऐसे आत्म-बल का सचार करता है जिससे धर्म की अस्वस्थ रूढियों को दूर करके या उनमे सशोधन करके उस समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

(xi) धर्म इस दृष्टि से भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है कि वह लोगो को स्वस्थ मनोरजन प्रदान करके उनमे भावनात्मक एकता पैदा करता है, लोगो की सामूहिकता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। विभिन्न धार्मिक अवसरो पर सामूहिक भजन-कीर्तन, भक्तिपूर्ण नृत्य आदि के आयोजन होते है, कथा-वाचन होते है, कर्मकाण्ड और सस्कार सम्पन्न किए जाते है। इन अवसरो पर उपस्थित जन-समुदाय मे ऐसे मनोभावो का सचार होता है कि अपने को 'एक' समझने लगते है। ये मनोभाव बडी सीमा तक सामाजिक जीवन मे लोगो को 'अपनेपन' की भावना मे बाँधे रखते हैं। धार्मिक उत्सव मनुष्य की विनोदप्रियता का स्वस्थ रूप मे प्रोत्साहन देकर उसे नैतिक प्राणी बनाने मे सहायक होते हैं।

सार रूप मे, धर्म सरल और जटिल, प्राथमिक और द्वैतीयक समाजो म सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावशाली साधन है। वह 'अच्छे' या 'बुरे' का सम्बन्ध एक अलौकिक शक्ति से जोडकर मनुष्य के कार्यों को नियमित करता है और उसमे यह भावना भरता है कि समाज-विरोधी कार्य करने से ईश्वर अवश्य अप्रसन्न होता है। इस प्रकार सामाजिक नियमो के अनुपालन को प्रोत्साहन मिलता है। धर्म के भय से समाज मे विपथगामी व्यवहार (Deviant behaviour) पर बहुत कुछ अकुश लगा है।

(11) नैतिकता (Morality)—हम कह चुके है कि नैतिकता सामाजिक नियन्त्रण का एक बहुत ही प्रभावशाली साधन है। नैतिकता का पालन व्यक्ति अपनी अन्त करण की प्ररणा से करता है। वह उन नियमो अथवा कार्यों का अनुसरण करना अपना कर्तव्य समझता है जो न्याय, पवित्रता और सत्यता पर आधारित होते हैं। नैतिकता के नियमो का उल्लघन यद्यपि शारीरिक या आर्थिक रूप से दण्डनीय नही है, लेकिन मनुष्य की आत्मा और सामाजिक बुराई का डर व्यक्ति को नैतिक नियमो के उल्लघन से रोकता है।

नैतिकता मे समूह कल्याण की भावना छिपी रहती है। इससे मन की भावनाम्रो और बाह्य आचरण दोनो पर नियन्त्रण लगता है। 'नैतिकता इस रूप मे अधिक सामाजिक हो गई है कि यह व्यक्तिगत सद्गुणो की अपेक्षा सामाजिक न्याय से उत्तरोत्तर सम्बद्ध होती जा रही है।" नैतिक संहिताम्रो का राजनीतिक सिद्धान्तो से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है और नैतिक विश्वासो का अधिकतर राजनीतिक विचार-धाराम्रो मे समावेश हो गया है। यह विकास सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था मे नैतिकता के योगदान को बढाने वाला है। साथ ही इन सभी मामलो मे नैतिकता के समाजशास्त्रीय अध्ययनो के लिए अब अधिक व्यापक क्षेत्र हो गया है।

धर्म और नैतिकता एक दूसरे से परस्पर जुडे हुए हैं, दोनो एक दूसरे के पूरक है। अत धर्म जिस रूप मे सामाजिक नियन्त्रण की सन्तुलन शक्ति है, उसी रूप मे नैतिकता भी सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करने वाली एक प्रमुख शक्ति है। ईमानदारी, सत्य, न्याय, नैतिकता के अग है। चोरी करना, असत्य बोलना, व्यभिचार करना आदि अनैतिक कार्य हैं। लोगो मे सामान्यत यह भय व्याप्त रहता है कि नैतिक कार्यों का फल अच्छा मिलेगा और अनैतिक का बुरा। नैतिक कार्यों को करने से यह लोक भी सुधरेगा और परलोक मे भी मोक्ष मिलेगा। अनैतिक कार्यों को करने से नाना प्रकार के अभिशाप झेलने पडेंगे और परलोक मे नरक देखना पडेगा। इस प्रकार के विचारों के फलस्वरूप लोगो मे नैतिकता के प्रति आस्था विद्यमान रहती है और वे व्यक्तिगत व सामाजिक दोनो क्षेत्रों मे बुरे कार्य करने से यथासम्भव बचते हैं।

(12) कानून (Law)—कानून सामाजिक नियन्त्रण की औपचारिक व्यवस्था है जिसका प्रभाव नैतिक नियमो, प्रथाम्रो आदि की अपेक्षा अधिक निश्चित और अधिक व्यापक होता है। सुनिश्चित नियमो और स्वीकृतियो के द्वारा मानव-व्यवहार मे जो निश्चयात्मकता उत्पन्न होती है वह सामाजिक नियन्त्रण के अन्य साधनो द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। रॉस (Ross) के शब्दो मे "कानून सामाजिक नियन्त्रण का सर्वाधिक विशेषीकृत और अत्यधिक स्पष्ट वाहक है जिसको स्वय समाज क्रियाशील बनाता है।"[1] मैलीनोवस्की (Malinowski) के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र मे कानून की शक्ति इसके विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित है, और कानून का मौलिक कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्वेगो और उसकी मूल प्रवृत्तियो के प्रवाह को कम करना तथा समाजीकृत व्यवहार को प्रोत्साहन देना है। कानून व्यक्तियो के बीच इस तरह सहयोग पैदा करता है कि वे सामान्य लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए अनेक निजी स्वार्थों का बलिदान कर सकें।"[2]

रास्को पाउण्ड के अनुसार "कानून शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा सामाजिक नियन्त्रण का एक राजनीतिक आधार है।" पाउण्ड के अनुसार कानून के तीन मुख्य कार्य हैं जिन्हें सामाजिक नियन्त्रणकारी साधन के रूप मे देख सकते हैं[3]—

1 *E A Ross* Social Control p 183

2 *Malinowski* Crime and Custom, p 64

3 सिंघी एव गोस्वामी . 'समाजशास्त्र विवेचन' से उद्धृत, पृष्ठ 304

(1) शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में समायोजन स्थापित करना एवं आचरणों में व्यवस्था बनाए रखना, (2) समाज के विवादों को सुलझाने के लिए समाज द्वारा स्वकृत आदर्शों पर आधारित सिद्धान्तों को लागू करना, एवं (3) प्रशासनिक ढाँचे को सुन्दृता प्रदान करना। रास्को पाउण्ड की ये तीनों दशाएँ सामाजिक नियन्त्रण को सन्तुलित रखने के लिए आवश्यक हैं।

विभिन्न समाजशास्त्रियों और विद्वानों द्वारा प्रकट किए गए विचारों के आधार पर सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका को हम निम्नांकित रूप में पृथक् पृथक् रूप से अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं—

(i) **व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण**—कानून का निर्माण राज्य द्वारा होता है और उन्हें राज्य के सभी नागरिकों पर समान रूप से लागू किया जाता है। जो व्यक्ति कानून की आज्ञा अथवा कानूनी व्यवस्थाओं का उल्लंघन करते हैं उन्हें राज्य द्वारा दण्ड का भागी होना पड़ता है। अतः दण्ड के भय से लोक कानून सम्मत व्यवहार करने लगते हैं। बर्ट्रेण्ड रसल ने कहा है कि सर्वाधिक आदर्श नागरिक का अच्छा व्यवहार बहुत कुछ पुलिस की शक्ति के अस्तित्व के कारण होता है। कानून लोगों के विपथगामी व्यवहार को सहन नहीं करता, फलस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण अपने आप बना रहता है और लोग कानून के शिकंजे में जकड़े जाने के भय से अपने आप सामान्य व्यवहार करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कानूनी शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों में समायोजन स्थापित करते हैं और उन्हें एक दूसरे के अधिकारों में अतिक्रमण से रोकते हैं। कानूनों द्वारा व्यक्तियों को कुछ मौलिक अधिकार दिए जाते हैं जिनका किसी भी व्यक्ति द्वारा हनन या उल्लंघन दण्डनीय है।

(ii) **समूह संस्थाओं आदि के व्यवहारों पर नियन्त्रण**—कानून समाज में विभिन्न समूहों, समितियों, संस्थाओं के व्यवहारों पर अंकुश रखता है। कानून के भय से ही शक्तिशाली समूह निर्बल समूहों का उन्मूलन नहीं कर पाते। कानून सबको संरक्षण प्रदान करता है, अतः शक्तिशाली वर्ग और निर्बल वर्ग सभी का अस्तित्व बना रहता है, समाज में मत्स्य-न्याय नहीं फैल पाता। कानूनों के माध्यम से समूहों, समितियों और संघों के व्यवहारों पर एक बाध्यतामूलक नियन्त्रण लगा रहता है।

(iii) **प्रथाओं की रक्षा**—कानूनों की नियन्त्रण-शक्ति बहुत कुछ इसलिए कायम है कि वे समाज में प्रचलित प्रथाओं के संशोधित रूप होते हैं और उन विभिन्न कार्यों को करते हैं जो कि प्रथाओं द्वारा किए जाते रहे हैं। प्राचीन समाजों के प्रारम्भिक कानून तो धर्म और प्रथाओं से ही मिले-जुले थे और कुछ संस्कृतियों में, जैसे भारतीय संस्कृति में, कानूनों का रूप धर्म द्वारा ही निर्धारित होता है। आधुनिक समाजों में भी कानून प्रथाओं से अछूते नहीं हैं और वेस्टरमार्क के इस कथन में सच्चाई है कि कानूनों का पालन प्रायः इसीलिए अधिक होता है कि वे एक प्रकार की प्रथाएँ होती हैं। यही कारण है कि जो कानून समाज की प्रथाओं द्वारा अच्छे नहीं समझे जाते वे व्यावहारिक रूप में सफल नहीं हो पाते और उन्हें बदलना

या संशोधित करना पड़ता है अथवा वे व्यवहार में वैसे ही मृतप्राय हो जाते हैं। भारत में अन्तर्जातीय विवाह प्रथाओं द्वारा मान्य नहीं है, अत कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर भी ऐसे विवाह देश में इने गिने ही होते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि कानूनों के माध्यम से प्रथाओं को सुदृढ़ता प्राप्त होती है, फलस्वरूप समाज की नैतिकता की रक्षा होती है।

(iv) सुधार द्वारा प्रेरित मनोवृत्तियों और आचरण की स्थापना—बाटोमोर ने लिखा है कि *सामाजिक व्यवहार पर कानून का एक स्वतन्त्र प्रभाव* पड़ता है—कम से कम इस अर्थ में कि सामान्यत एक समाज में यह ऐसी मनोवृत्तियों और आचरण की स्थापना करता है जो कि प्रारम्भ में सुधारकों के एक छोटे-से अल्पमत द्वारा प्रेरित होते हैं। सोवियत संघ में व्यवहार के उन ढगों की स्थापना कानून से हुई जो प्रारम्भ में क्रान्तिकारियों के एक-छोटे से समूह की आकांक्षाएँ थी। पश्चिमी यूरोप में *व्यवस्थित विधान द्वारा* अनेक प्रकार के लोकतान्त्रिक कल्याणकारी राज्यों का निर्माण हुआ है जैसे सामाजिक सुधारकों के सिद्धान्तों का मार्ग दर्शन प्राप्त था।

(v) सामाजिक परिवर्तन का रूप-निर्धारण—जैसा कि उपरोक्त बिन्दु से स्पष्ट होता है, सामाजिक परिवर्तन का रूप निर्धारित करके भी कानून सामाजिक *नियन्त्रण की व्यवस्था में सन्तुलन बनाए रखता है।* विभिन्न कारणों से आधुनिक समाजों की प्रकृति अत्यधिक परिवर्तनशील है। तीव्र परिवर्तनों के कारण, अनेक व्यक्ति बदली हुई दशाओं से समुचित अनुकूलन नहीं कर पाते जिससे विभिन्न सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। अनियन्त्रित परिवर्तन व्यक्तिगत और सामाजिक विघटन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। कानून का यह एक प्रमुख कार्य है कि वह *अनियन्त्रित परिवर्तनों पर अकुश लगा कर विघटनकारी तत्वों* को हतोत्साहित करे। कानून नियोजित परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है जिससे समाज के लक्ष्यों और साधनों के बीच सन्तुलन बना रहता है। नई परिस्थितियों के प्रकाश में कानून *व्यवहार* के ऐसे तरीकों को प्रोत्साहन देता है जिनके सहारे व्यक्ति उन परिस्थितियों से अनुकूलन कर पाते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन में व्यवस्था और संगठन बनाए रखने में कानून का अत्यधिक योगदान होता है।

(vi) विवादों और संघर्षों को सुलझा कर नियन्त्रण व्यवस्था बनाए रखना—कानून विरोधी हितों के बीच सामंजस्य लाकर सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था बनाए रखता है। किन्हीं भी दो पक्षों के बीच विवाद जब आपसी वार्ता से नहीं सुलझ पाते तो कानून के माध्यम से विवाद सुलझाए जाते हैं और कानूनों के आधार पर दिए गए न्यायिक निर्णयों को कोई भी पक्ष अमान्य नहीं कर सकते। जहाँ समाज में प्रचलित प्रथाओं, लोकाचारों, नैतिकता आदि की अधिकार शक्ति को लोग अवहेलना कर सकते हैं वहाँ कानूनों की अवहेलना करने से लोगों को विशेष भय लगता है क्योंकि कानून किसी को माफ नहीं करता। व्यक्तियों के बीच, समूहों या समितियों के बीच और विभिन्न राज्य इकाइयों के बीच विवादों के समाधान में सहयोग देकर कानून सामाजिक नियन्त्रण की प्रभावशाली व्यवस्था करता है।

(vii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियमन में महत्त्व—बाटोमोर ने लिखा है कि सामाजिक नियन्त्रण मे कानून के महत्त्व का एक उदाहरण समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे देखने को मिलता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून विभिन्न राष्ट्रो के सम्बन्धो के नियमन मे अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान पाते जा रहे हैं। बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सगठनो द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून-प्रणाली की आधार-शिलाएँ रखने के प्रयास किए गए है, किन्तु राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के होते हुए प्रगति अभी बहुत थोड़ी हुई है। वास्तव मे यह महसूस किया जाने लगा है कि समाजो के बीच सम्बन्धों को नियमित करने में कानूनी स्पष्टताएँ अधिक प्रभावकारी हो सकती है बनिस्पत नैतिक भावनाओ के। नैतिक भावनाएँ, जब हितों या सिद्धान्तो का सघर्ष उत्पन्न हो जाता है, अधिकाँशत प्रभावहीन रहती हैं। पर यदि इन्हें सुनिश्चित रूप से कानूनी नियमो का रूप दे दिया जाए तो इनका प्रभाव बढ़ जाएगा।

(viii) वैधानिक चेतना उत्पन्न करके सामाजिक नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाना—कानूनो द्वारा समाज के सदस्यो मे वैधानिक जागरूकता उत्पन्न करदी जाती है। जब लोग वैधानिक चेतना-सम्पन्न होते हैं तो वे कानून के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने मे अपने आप योग देते रहते हैं और इस प्रकार नियन्त्रण की व्यवस्था बहुत कुछ 'स्व चालित' सी हो जाती है। कानून किसी व्यक्ति-विशेष के हित मे न होकर सार्वजनिक हित मे होते हैं, अत इनका कार्य लोगो म अपने सामाजिक, राजनीति तथा आर्थिक जीवन और विभिन्न सम्बन्धित समस्याओ के प्रति चेतना-जाग्रत करना होता है। यह चेतना व्यक्ति का समाजीकरण करती है। जब लोग अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो के बारे मे जागरूक होते हैं तो सामाजिक जीवन अनुशासित और नियन्त्रित बनता है।

स्पष्ट है कि कानून सामाजिक नियन्त्रण का बहुत ही प्रभावशाली साधन है—विशेषकर आधुनिक सभ्य समाजो मे तो यह सामाजिक नियन्त्रण की आधार शिला है। नियन्त्रण के दूसरे सभी साधन वह अधिकार-शक्ति नही रखते जो कानून रखते हैं। आधुनिक जटिल समाजो मे, जहाँ द्वैतीयक सम्बन्धो की प्रधानता है, अन्य सभी साधन सयुक्त रूप मे भी उतनी प्रभावी नियन्त्रण-व्यवस्था नहीं बनाए रख सकते जितनी अकेले कानूनो द्वारा बनाए रखी जाती है।

(13) शिक्षा (Education)—सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप मे शिक्षा का महत्त्व असंदिग्ध है। 'यह व्यापक अर्थ मे, बचपन से लेकर प्रौढ़ अवस्था तक सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। शिक्षा द्वारा नई पीढ़ियाँ सामाजिक आदर्शों को सीखती हैं और उनके उल्लघन पर दण्ड-निर्धारण करती हैं।'' शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का वह प्रभावशाली माध्यम है जो किसी प्रकार के दबाव द्वारा नही बल्कि तर्क, विवेक और वास्तविकता का ज्ञान करा कर अनौपचारिक रूप से समाज मे नियन्त्रण-व्यवस्था की स्थापना करता है। समाज का चाहे जो भी रूप हो, शिक्षा व्यक्तिगत व्यवहार को अनुशासित करने, लोगो को सामाजिक और

भौतिक परिस्थितियों से अनुकूलन करने योग्य बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से शिक्षा के उल्लेखनीय कार्यों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट कर सकते हैं—

(i) व्यक्ति का समाजीकरण—शिक्षा व्यक्ति का समाजीकरण कर सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना करती है। यह व्यक्ति की प्रस्थिति और उसकी भूमिकाओं के बीच ताल-मेल बैठाने में सहयोग देती है। यह हमारे जीवन को संयमित करती है, सिखाती है और हमें सामाजिक आदर्शों के अनुकूल बनाने में सहायता देती है। यह व्यक्ति का सही प्रकार से समाजीकरण करती है ताकि वह सामाजिक नियमों के अनुरूप व्यवहार कर सके। गलत समाजीकरण होने से विपथगामी व्यवहार में वृद्धि होती है और शिक्षा का यह प्रमुख कार्य है कि वह गलत बात को सही की ओर मोड़े। बाटोमोर के शब्दों में, "शैक्षिक व्यवस्था नैतिक विचारों को स्पष्ट करके और प्रशस्त व्यक्ति का बौद्धिक विकास करके सामाजिक नियमन में योगदान देती है।" शिक्षा ऐसे गुणों का विकास करती है जिनसे सामाजिक हितों को हम अपना हित समझने लगते हैं और सामाजिक व्यवस्थाओं का पालन करना अपना कर्तव्य मानते हैं। शिक्षा "करने योग्य व्यवहार" और "न करने योग्य व्यवहार" का स्पष्टीकरण करके योग्य बनाकर हमारे जीवन को अनुशासित बनाती है।

(ii) आत्म-विश्लेषण द्वारा सामाजिक नियमों के अनुपालन की प्रेरणा—शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण का एक ऐसा साधन है जिसमें दबाव अथवा दण्ड की मात्रा नगण्य रहती है। शिक्षा से जब हमारे हृदय में नैतिक विचारों और नागरिक गुणों का विकास होता है तो इस बात की कोई आवश्यकता नहीं रहती कि कोई बाहरी दबाव या दण्ड थोपा जाए। शिक्षित समाज में व्यवस्थाओं का पालन स्वतः समुचित रूप से होता रहता है, जबकि अशिक्षित समाज में प्रायः अनियन्त्रित और अनियमित जीवन-व्यवस्था देखने को मिलती है। नियन्त्रण के अन्य साधन प्रचार, दबाव तथा उद्वेगपूर्ण दशाओं पर आधारित हैं जबकि शिक्षा स्वतः ही आत्म-विश्लेषण द्वारा सामाजिक नियमों के अनुपालन की प्रेरणा देती है। नियन्त्रण के अन्य साधन एकपक्षीय हैं, लेकिन शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व के आन्तरिक और बाह्य दोनों पक्षों का नियन्त्रण होता है। शिक्षा सम्पूर्ण जीवन को सन्तुलित बनाती है तथा हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। यह समाज के सदस्यों में समान विचारों और समान भावनाओं को प्रोत्साहन देकर स्वस्थ एकरूपता लाने का प्रयत्न करती है जो कि सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य आधार है।

(iii) नैतिक गुणों और ज्ञान का विकास—शिक्षा व्यक्ति में सहयोग, प्रेम, त्याग, अनुशासन, कर्त्तव्यपरायणता आदि नैतिक गुणों का विकास करती है। यह हमें अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों को समझने में सक्षम बनाती है, फलस्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में जागरूकता और अनुशासन का प्रसार होता है। कर्त्तव्य-बोध की भावना से हमारे हृदयों में सामाजिक व्यवस्था के प्रति निष्ठा पैदा होती है। मनुष्यों में भी क्रोध, हिंसा, संघर्ष, द्वेष, स्वार्थपरता आदि पाशविक भावनाएँ विद्यमान होती

हैं। यदि ये भावनाएँ प्रबल हो जाएँ तो सम्पूर्ण समाज में अराजकता छा जाएगी, सामाजिक नियन्त्रण की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगी। शिक्षा मनुष्य की इन पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाती है और वह भी बिना किसी दबाव के। शिक्षा द्वारा हम स्वेच्छा से ऐसे आचार-विचार सीखते हैं और व्यवहार में लाते हैं जिनसे हमारे व्यक्तिगत और फलस्वरूप सामाजिक जीवन में व्यवस्था बनी रहती है। शिक्षा ज्ञान का विकास करती है और चरित्र का गठन। शिक्षा द्वारा हमारी आत्मा सत्य का दर्शन करती है। शिक्षा अच्छी नागरिकता की कुन्जी है। शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जाग्रत होती है, हमारे मानसिक, बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास होता है हम सच्चे अर्थों में मनुष्य कहलाने के अधिकारी बनते हैं। हम उचित अनुचित को समझ पाते हैं और जब 'उचित' का पालन करते हैं तो स्वतः सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना होती है। शिक्षा हमें तर्क प्रदान करती है तथा अनावश्यक रूप से भावुक, अतार्किक और व्यक्ति-परक निर्णयों से मुक्त होने की प्रेरणा देती है। आत्म नियन्त्रण सिखा कर शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना करती है।

(iv) संस्कृति का संचरण—शिक्षा संस्कृति के संचरण द्वारा भी सामाजिक नियन्त्रण में सहयोग देती है। संस्कृति में वे सभी आदर्श-व्यवहार, नियम, सांस्कृतिक प्रत्याशाएँ (Cultural expectations) आदि सम्मिलित होती हैं जो सामाजिक जीवन के संगठन की आधारशिलाएँ हैं। शिक्षा इसी संस्कृति को पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तान्तरित करती है। शिक्षा द्वारा हमें पुरानी संस्कृति का ज्ञान होता है और हमारे द्वारा अर्जित ज्ञान हमारी भावी पीढ़ी को मिलता है। इस प्रकार शिक्षा भूत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञान का समन्वय है। "शिक्षा के संचरण से ही नए लोगों को पुराने लोगों की मान्यता प्राप्त विधियों का ज्ञान होता है और वे उसका अनुसरण करते हैं। फलस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।"[1] शिक्षा से हमें समाज की आदर्शात्मक व्यवस्था का ज्ञान होता है जो कि सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना के लिए अनिवार्य है। शिक्षा द्वारा सांस्कृतिक ज्ञान को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते रहने से ही विभिन्न पीढ़ियों के बीच मूल्यों के संघर्ष (Conflict of Values) की समस्या उत्पन्न नहीं हो पाती[2] और यदि होती भी है तो वह 'विघटनकारी शक्ति' का रूप ग्रहण नहीं करती।

(v) व्यवस्थित स्तरीकरण द्वारा सामाजिक नियन्त्रण में सहयोग—शिक्षा परिवर्तनशील समाजों में व्यवस्थित स्तरीकरण द्वारा सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना में सहयोग देती है। आदिम बन्द समाजों (Closed societies) में प्रस्थिति-निर्धारण के आधार जन्मजात होते हैं जबकि वर्तमान गतिशील और मुक्त समाजों (Open societies) में अर्जित प्रस्थितियों (Achieved status) का

1. हिवो एवं बोसाकी वही, पृष्ठ 300.
2. J B Mehta - Introduction to Sociology p 390.

महत्त्व बढ़ता जा रहा है। हम अपने ही देश को लें तो देखते हैं कि लोग परम्पराओं से बँधे न रहकर अपने प्रयत्नों से सामाजिक स्थिति पाने को प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार की परिस्थिति समाज के लक्ष्यों और साधनों में सन्तुलन की समस्या उत्पन्न करती है। शिक्षा इस समस्या के समाधान में सहायता पहुँचा कर सामाजिक नियन्त्रण में सहयोग देती है। यह एक ओर तो पुराने प्रस्थिति-निर्धारण के समाप्त होते हुए आधारों के विकल्प के रूप में नए आधार प्रस्तुत करती है और साथ ही दूसरी ओर स्तरीकरण की नई व्याख्या द्वारा हर व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार उन्नति करने की प्रेरणा भी देती है। इस प्रकार, स्तरीकरण के जन्मजात आधारों से संकटग्रस्त होने से जो संक्रमण की स्थिति पैदा हो गई है उसका हल शिक्षा द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है।[1] बाटोमोर ने भी लिखा है कि शिक्षा, स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्दर, व्यक्तियों का स्थान और उनके अधिकारों का निर्धारण करती है।

(vi) व्यक्ति में अनुकूलन की क्षमता का विकास—जैसा कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति के समाजीकरण के सन्दर्भ में कहा जा चुका है, शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक और भौतिक पर्यावरण से अनुकूलन अथवा समायोजन करने की क्षमता प्रदान करती है। फलस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना में सहयोग मिलता है। शिक्षा द्वारा एक ओर तो व्यक्ति में इतनी विवेक बुद्धि जाग्रत की जाती है कि वह घटनाओं और परिस्थितियों का व्यावहारिक विश्लेषण कर उनके अनुरूप व्यवहार कर सके, तथा दूसरी ओर उसमें यह क्षमता भी पैदा करती है कि परिस्थितियों को भी अपने अनुकूल बना सके। इस प्रकार आवश्यकतानुसार एक ओर तो परिस्थितियों से अनुकूलन करने और दूसरी ओर परिस्थितियों को स्वयं के अनुकूल बनाने की दोहरी क्षमताओं का विकास व्यक्ति में शिक्षा द्वारा हो पाता है जिससे समाज में नियन्त्रण की स्थापना होती है। शिक्षा व्यक्ति को सिखाती है कि प्रतिकूल अवसरों पर संघर्षों को आमन्त्रित न किया जाए बल्कि स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लिया जाए।

(vii) सामाजिक सन्तुलन की स्थापना में सहयोग—समाज में परिवर्तन की धारा सदैव बहती रहती है। नए-नए मूल्यों का उदय होता है, नई-नई शक्तियाँ जन्म लेती हैं। दूसरी ओर पुराने मूल्य और पुरानी शक्तियाँ इन नए मेहमानों को घर में घुसने से रोकती हैं। फलस्वरूप दोनों में टकराव या संघर्ष चलता रहता है। यदि कोई सन्तुलनकारी शक्ति न हो तो समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो जाएगी। शिक्षा वह प्रभावकारी साधन है जो इस दृष्टि से सन्तुलनकारी शक्ति का काम करता है। शिक्षा द्वारा एक ओर तो अनुपयोगी पुराने मूल्यों और अन्ध-विश्वासों के बहिष्कार की प्रेरणा दी जाती है और दूसरी ओर उपयोगी परम्परागत मूल्यों को बनाए रखने पर बल दिया जाता है। शिक्षा आकस्मिक और तीव्र परिवर्तनों को अनियन्त्रित रूप से अपनाने के पक्ष में नहीं होती। अभिप्राय हुआ कि

1. सिंघी एवं गोस्वामी, वही, पृष्ठ 300

न तो यह परिवर्तन की विरोधी होती है और न सभी प्रकार के परिवर्तनों का एकदम स्वागत करती है। इस प्रकार शिक्षा द्वारा समाज में सन्तुलनकारी परिस्थिति का विकास किया जाता है। शिक्षा ऐसा विवेक प्रदान करती है जिससे हम पुराने मूल्यों के उपयोगी पक्ष को चुन लेते हैं और अनुपयोगी से चिपटे नहीं रहते, उपयोगी नए मूल्यों को ग्रहण कर लेते हैं किन्तु अनुपयोगी नए मूल्यों के प्रति सचेत बने रहते हैं। शिक्षा का यह कार्य सामाजिक नियन्त्रण व्यवस्था को प्रभावशाली बनाता है।

इस प्रकार शिक्षा विभिन्न रूपों में सामाजिक नियन्त्रण की महत्वपूर्ण शक्ति है। आधुनिक जटिल समाजों में, जहाँ द्वैतीयक सम्बन्धों की प्रधानता है, नियन्त्रणकारी साधन के रूप में शिक्षा का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है।

उल्लेखनीय है कि सामाजिक नियन्त्रण का कोई एक साधन नहीं बल्कि सभी साधन संयुक्त रूप में प्रभावशील होते हैं और समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों को सन्तुलित रखते हैं। इन नियन्त्रणों से ही सामाजिक संरचना और व्यवस्था बनी रहती है। समाज का निर्माण ही "सामाजिक सम्बन्धों' और "नियन्त्रण की व्यवस्था" द्वारा होता है। एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व किसी प्रकार भी सुरक्षित नहीं है।



प्रश्नावली

(UNIVERSITY QUESTIONS)

अध्याय–1

1 समाजशास्त्रीय विमर्श के उद्देश्यों तथा विधियों की व्याख्या कीजिए। (1975)
Explain the objectives and methods of sociological inquiry

2 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के विशिष्ट प्रतिमान क्या हैं ? विवेचना कीजिए।
What are the distinctive patterns of Sociological perspective ? Discuss

3 सामाजिक स्वरूपों को समझने के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए। अन्य सामाजिक विज्ञानों द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोणों से यह किस प्रकार भिन्न है ? (1978)
Discuss the sociological way of understanding social phenomena How does it differ from the approaches of other social sciences ?

4 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं ? (1978)
What do you understand by sociological perspective ?

5 *समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) से आप क्या समझते हैं ? इसके विशिष्ट पहलुओं की* विवेचना कीजिए। (1976)
What do you understand by sociological perspective ? Discuss its distinctive features

6 समाजशास्त्रीय विमर्श की वैज्ञानिक प्रकृति की विवेचना कीजिए।
Discuss the scientific nature of sociological enquiry

7 इसकी विवेचना कीजिए कि समाजशास्त्र किस प्रकार एक विज्ञान है।
Discuss how Sociology is a science

8 विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। इस सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?
Sociology has been defined in many ways by various sociologists What are your views on the theme of sociology ?

9 समाजशास्त्र की प्रकृति की विशेषताएँ क्या हैं, विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
Discuss in detail the characteristics of the nature of Sociology

10 "समाजशास्त्र किसी भी अन्य प्राकृतिक विज्ञान की भाँति एक विज्ञान है।" इस कथन का आलोचनात्मक स्पष्टीकरण कीजिए।
'Sociology is a science like any other natural Science' Discuss

11 "समाजशास्त्र एक विज्ञान है"—इस कथन की विवेचना विज्ञान के रूप मे समाजशास्त्रीय सीमाओ का उल्लेख करते हुए कीजिए।
"Sociology is a science" Discuss this Statement with reference to the limitations of Sociology as a Science

12 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है। समाजशास्त्र की उपयोगिता बतलाइए।
What is the Sociological point of view ? Mention the value of Sociology

13 "समाजशास्त्र क्या है" का अध्ययन करता है, न कि 'क्या होना चाहिए का' समझाइए।

अध्याय 2

14 प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणाओं की परिभाषा कीजिए और उनके पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना कीजिए। (1978)
Define the concepts of status and role and discuss their inter relationships

15 प्रस्थिति व भूमिका के परस्पर सम्बन्धो की विवेचना कीजिए। (1976)
Discuss the relationships between Status and Role

16 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थितियों में भेद स्पष्ट कीजिए। उनके परस्पर सम्बन्धो का परीक्षण कीजिए। (1976)
Distinguish between ascribed and achieved status Examine their relationship

17 'भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।" सोदाहरण स्पष्ट कीजिए। (1977)
Role is the dynamic aspect of status " Illustrate

18 प्रस्थिति और भूमिका से आप क्या समझते हैं ? प्रस्थिति और भूमिका के आवश्यक तत्व क्या है ?
What do you understand by the terms 'Status' and 'Role' ? What are the essential elements of Status and Role ?

19 प्रस्थिति और भूमिका अथवा स्थिति और कार्य की अवधारणाओ की परिभाषाएँ दीजिए। (क) जीवात्मक तथा (ख) सांस्कृतिक कारक, किस भांति सामाजिक भूमिकाओ (अथवा सामाजिक कार्यों) को प्रभावित करती हैं ?
Define the concepts of status and role How do (a) Biological and (b) Cultural factors affect social roles ?

20 सामाजिक संरचना के विश्लेषण मे स्थिति (अथवा प्रस्थिति) और कार्य (अथवा भूमिका) के महत्त्व की आलोचनात्मक जाँच कीजिए।
Critically examine the importance of Status and role in analysing social structure

21 निम्नलिखित पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी कीजिए—
(क) कार्यपालन (ख) कार्य सैट (ग) स्थिति सैट
Write a critical note on the following—
(a) Role Performance (b) Role set and (c) Status Set

22 प्रस्थिति के अर्थ लिखिए। प्रस्थिति के प्रकारों का वर्णन कीजिए ?
Explain the meaning of Status What are the types of Status ?

23 प्रस्थिति तथा भूमिका के प्रत्यय की व्याख्या कीजिए। विभिन्न समाजों में प्रस्थिति प्रदान करने के मुख्य आधार क्या हैं ?
Explain the concepts of Status and role. What are the main bases of Status ascription in different societies ?

24 प्रस्थिति तथा भूमिका के प्रत्यय की व्याख्या कीजिए। विभिन्न समाजों में प्रस्थिति प्रदान करने के मुख्य आधार क्या हैं ?
Explain the concept of Status and role What are the main bases of status ascription in different societies ?

25 प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति में भेद स्पष्ट कीजिए। सामाजिक जीवन में प्रस्थिति और भूमिका के महत्त्व को समझाइए।
Distinguish between ascribed and achieved status Show the importance of status and role in social life

26 प्रस्थिति तथा भूमिका की धारणा का सामाजिक व्यवस्था की धारणा से क्या सम्बन्ध है ?
What is the relationship of status and role with the concept of social order ?

27 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) प्रस्थिति के प्रकार
(ब) प्रस्थिति एवं भूमिका का महत्त्व
(स) प्रस्थिति तथा भूमिका के निर्धारण के आधार
(द) प्रस्थिति तथा भूमिका के आवश्यक तत्व।
Write short notes on the following—
(a) Types of status
(b) Importance of Status and role
(c) Bases for the determination of Status and role
(d) Essential elements of status and role

अध्याय 3

28 समाजीकरण से आप क्या समझते हैं ? समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा विभिन्न भूमिकाओं का अन्तरीकरण कैसे किया जाता है ? (1975)
Define Socialisation How are various roles internalised through the process of socialisation ?

29 "समाजीकरण हृदय स्व के प्रादुर्भाव से सम्बन्धित है" (डेविस) इस कथन को समझाइए। (1976)
"*The heart of socialization is the emergence of the self*" *(Devis)* Explain the statement

30 समाजीकरण का क्या अर्थ है ? इसके प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए। (1976)
What is Socialization ? What are the major theories of Socialization ?

31 समाजीकरण के अर्थ व महत्त्व को स्पष्ट कीजिए। इसकी प्रमुख संस्थाओं की व्याख्या कीजिए। (1976)
Explain the meaning and significance of socialization What are its important agencies ?

32 समाजीकरण के प्रक्रियात्मक पक्ष पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डालते हुए इसे समाजशास्त्र की एक आधारभूत अवधारणा के रूप में विश्लेषित कीजिए। (1977)

Analyse socialization as a basic concept in sociology throwing adequate light on its processual aspect

33 समाजीकरण के अर्थ व प्रक्रिया की विवेचना कीजिए। (1977)
Discuss the meaning and process of socialization

34 समाजीकरण के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना, मुख्यतः कूले और मीड के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में कीजिए। (1978)
Discuss the various theories of socialization with special reference to Cooley and Mead

35 मीड के समाजीकरण के सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। कूले के समाजीकरण के सिद्धान्त से यह किस प्रकार भिन्न है? (1978)
Examine critically Mead's theory of socialization How it differs from Cooley's theory of Socialisation?

36 दुर्खीम और मीड ने समाजीकरण की प्रक्रिया का जो दृष्टिकोण रखा है उसकी विवेचना कीजिए।
Discuss the process of socialisation as viewed by Durkheim and Mead

37 समाजीकरण की प्रक्रिया और उसकी एजेन्सियों की विवेचना कीजिए।
Discuss the process and agencies of Socialisation

38 यह समाजीकरण ही है जो बालक को समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाता है और उसे सामाजिक परिपक्वता प्रदान करता है।" कैसे? बालक का समाजीकरण कौन करता है? व्याख्या कीजिए।
It is socialisation that turns the child into a useful member of the Society and gives him social maturity" How? Who socializes the child Explain

39 जी एच मीड के अनुसार 'आत्म' का उदय और विकास किस प्रकार हुआ है?
How does the 'Self' emerge and develop according to G H Mead?

40 समाजीकरण के उद्देश्य क्या हैं? साथ ही समाजीकरण की प्रक्रिया को भी समझाइए।
What are the aims of socialisation? Also explain the process of Socialization

41 एक व्यक्ति के समाजीकरण में बहुत से समूह तथा संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। व्याख्या कीजिए।
Many groups and institutions play an important part in socializing the person. Discuss

42 समाजीकरण प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं? व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार तथा विद्यालय के महत्त्व को बताइए।
What do you understand by the "Process of Socialization"? Show the importance of family and educational institution in the socialization of the individual.

43 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) समाजीकरण की प्रक्रिया में 'तादात्मीकरण-अवस्था'
(ब) समाजीकरण का कूले का सिद्धान्त
(स) समाजीकरण का दुर्खीम का सिद्धान्त
(द) समाजीकरण में क्रीड़ा समूह
(इ) समाजीकरण के उद्देश्य

Write short notes on the following—
(a) The 'Identification stage' in the process of socialization
(b) Cooley's theory of socialization
(c) Durkheim's theory of socialization
(d) Play groups in socialization
(e) Aims of socialization.

44 बालक का समाजीकरण कौन करता है ? जटिल समाजों में बालक के समाजीकरण में *औपचारिक शिक्षा की क्या महत्ता है ।*
Who socializes the child ? What is the role of formal education in socializing the child in complex societies ?

45 "यह समाजीकरण है जो बालक को समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाता है और उसे सामाजिक परिपक्वता प्रदान करता है।" कैसे ? बालक का समाजीकरण कौन करता है ? *व्याख्या कीजिए ।*
"It is socialization that turns the child into a useful member of the Society and gives him social maturity" How ? Who socializes the child ? Explain

अध्याय 4

46 *निम्नलिखित बिन्दुओं पर प्राथमिक समूह की विवेचना कीजिए—*
(अ) औपचारिक संगठनों में प्राथमिक समूह के प्रकार्य
(ब) प्राथमिक समूहों की आन्तरिक गतिशीलता ।
Discuss the primary group on the following points—
(a) The function of the primary group in formal organisations
(b) The internal dynamics of the primary group

47 मानव-समूहों के कुछ अनिवार्य लक्षणों की विवेचना कीजिए। संक्षेप में मानव-सम्बन्धों में *सन्दर्भ समूह के प्रकार्य का उल्लेख कीजिए ।*
Discuss some of the essential characteristics of human groups Mention in short the role of reference group in human relations

48 समूह की परिभाषा दीजिए और उसका वर्गीकरण बताइए ।
Define group and give its classification

49 मानव-समूहों के अध्ययन में होमन्स की देन की व्याख्या कीजिए । (1976)
Discuss the contribution of Homans to the study of Human Groups

50 मानव-समूह की क्या विशेषताएँ हैं ? सन्दर्भ समूह के अर्थ व महत्त्व की व्याख्या कीजिए । (1976)
What are the characteristics of human group ? Discuss the meaning and significance of Reference Group

51 *सामाजिक समूह की क्या विशेषताएँ हैं ? सामाजिक समूहों के वर्गीकरणों की विवेचना* कीजिए । (1978)
What are the characteristics of Social Group' ? Discuss classifications of Social Groups

52 प्राथमिक समूह की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए । (1977)
Discuss the characteristics of Primary group

53 प्राथमिक समूहों के अर्थ, महत्त्व एवं आवश्यक परिस्थितियों की स्पष्ट व्याख्या कीजिए । (1977)

Explain clearly the meaning signifi ance and essential conditions of primary groups

54 प्राथमिक समूह की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। समकालीन समाज में प्राथमिक समूहो का क्या महत्व है ? (1978)
I iscuss the concept of Primary group' What is the significance of primary groups in contemporary society ?

55 प्राथमिक समूहो के लक्षणों की जाँच कीजिए। ये द्वैतियक समूहों से किस प्रकार भिन्न हैं ?
Examine the characteristics of primary groups How do they differ from Secondary Groups

56 प्राथमिक और द्वितीय समूहो की प्रमुख विशषताएँ क्या हैं ? प्रत्येक के तीन तीन उदाहरण दीजिए।
What are the main characteristics of Primary and Secondary Groups ? Give three examples of Each

57 अर्द्ध अथवा आभासी समूह से आप क्या समझते हैं ? अर्द्ध समूह और प्राथमिक समूह मे अन्तर स्पष्ट कीजिए।
What are Quasi Groups? Distinguish between Quasi and Primary Groups?

58 ग्रामीण और नगरीय जीवन मे भेद बतलाइए। नगर के सामाजिक प्रभाव क्या हैं ?
Give the contrast of rural and urban life What are social effects of the city ?

59 ग्रामीण समुदाय से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रमुख विशषताएँ क्या हैं ?
What is rural community ? What are its main characteristics ?

60 भीड़ और जनता को परिभाषित कीजिए और इनका अन्तर स्पष्ट कीजिए।
Define Crowd and Public' and distinguish them

61 भीड़ की परिभाषा दीजिए। भीड़ मे व्यक्ति का व्यवहार उसके भीड़ से बाहर होने के व्यवहार से क्यों और कैसे भिन्न होता है ?
Define a crowd Why and how does the behaviour of man differ in a crowd from its behaviour when outside ?

62 जनता का समाजशास्त्रीय अर्थ क्या है ? इनकी प्रमुख विशषताओं का उल्लेख कीजिए।
What is the sociological meaning of Public ? Explain its main characteristics

63 प्राथमिक समूह एक्य को सुदृढ अथवा शक्तिहीन बनाने वाले कौन कौन से तत्व हैं ?
What are the factors that strengthen or weaken the primary group cohesion ?

64 प्राथमिक समूहो के अकार्यों का विवेचन कीजिए।
Discuss the dysfunctions of primary groups

65 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं
(ब) प्राथमिक समूह की क्रियाओं पर नगरीकरण का प्रभाव
(स) अन्त समूह तथा बाह्य समूह
(द) द्वैतीयक समूह

Write short notes on the following—
(a) Relations are personal.
(b) The effect of urbanization on the actions of primary groups
(c) Inter groups and other groups
(d) Secondary groups

अध्याय 5

66 स्तरीकरण के कुछ सिद्धान्तों की आलोचनात्मक रूप से जाँच कीजिए।
Examine critically some of the theories of stratification.

67 स्तरीकरण पर प्रकार्यवादियों के विचारों की विवेचना कीजिए। इनके विचार आमूल परिवर्तनवादियों से किस प्रकार भिन्न हैं ?
Discuss the views of functionalists on stratification How do they differ from radicals ?

68 सामाजिक विभेदीकरण एवं सामाजिक स्तरीकरण के भेद को स्पष्ट कीजिए। सामाजिक स्तरीकरण के आधारों का परीक्षण कीजिए। (1976)
Distinguish between social differentiation and social stratification. Examine the basis of social stratification

69 स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षा कीजिए। (1978)
Critically examine the functional theory of Stratification

70 सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति का विवरण दीजिए तथा इसके कुछ स्वरूपों की विवेचना कीजिए।
Describe the nature of social stratification and discuss some of its forms

71 सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या समझते हैं ? सामाजिक स्तरीकरण के आधारों की व्याख्या कीजिए।
What do you understand by 'Social Stratification' ? Examine the bases of social stratification

72 स्तरीकरण की अवधारणाओं को परिभाषित कीजिए। स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। (1978)
Define the concept of stratification Critically evaluate the functional theory of stratification.

73 सामाजिक स्तरीकरण से आप क्या अर्थ लेते हैं ? उपयुक्त उदाहरण देते हुए सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्यात्मक पक्षों की विवेचना कीजिए। (1977)
What do you understand by social stratification ? Discuss the functional and dysfunctional aspects of social stratification with suitable examples

74 सामाजिक स्तरीकरण के कार्यों व अपकार्यों का उल्लेख कीजिए। (1975)
Discuss the functions and dysfunctions of social stratification.

अध्याय 6

75 सामाजिक अन्तःक्रिया पर संक्षेप में एक निबन्ध लिखिए।
Write a short essay on social interaction.

76 सामाजिक अन्तःक्रिया की विभिन्न प्रक्रियाओं पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (1975)
Write a short essay on various processes of social interaction

77 सामाजिक अन्त क्रिया के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझाइए। उपयुक्त उदाहरण देते हुए सामाजिक अन्त क्रिया के अर्थ के कुछ मूल स्वरूपों की विवेचना कीजिए। (1977)
Explain clearly the meaning of social interaction Discuss some of the basis forms of social interaction giving suitable examples

78 सहयोग की परिभाषा दीजिए। इनके स्वरूपों का भी उल्लेख कीजिए।
Define co operation Explain its forms

79 संघर्ष के सामाजिक प्रकार्यों की विवेचना कीजिए। इस सम्बन्ध में कोज़र के विचारों का सन्दर्भ कीजिए।
Discuss the social functions of conflict. Refer to the views given by Coser

80 प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के अन्तर को उदाहरण सहित बताइए। संघर्ष के विभिन्न स्वरूपों का भी उल्लेख कीजिए।
Illustrate the differences of between competition and conflict. Give various forms of conflict

81 सामाजिक प्रक्रियाओं पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
Write a critical note on social processes

82 प्रतियोगिता (अथवा प्रतिस्पर्द्धा) की परिभाषा दीजिए, तथा सामाजिक विकास में इसकी भूमिका की विवेचना कीजिए।
Define competition and discuss its role in social development

83 संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा तथा सहयोग का सम्बन्ध बताइए।
Bring out the relationship between conflict, competition and cooperation

84 सामाजिक प्रक्रिया के अर्थ की विवेचना कीजिए। इसके प्रमुख प्रकार कौन से हैं। (1977)
Discuss the meaning of social processes What are its important types ?

85 संघर्ष की सामाजिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्या कीजिए। यह प्रक्रिया सार्वभौमिक क्यों है ?
Explain conflict as a social process Why is it universal ?

86 प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष में अन्तर को उदाहरण सहित बताइए। संघर्ष के विभिन्न स्वरूपों का भी उल्लेख कीजिए।
Illustrate differences between competition and conflict Give various forms of conflict

87 संघर्ष का अर्थ और परिभाषा दीजिए। इसके स्वरूप बतलाइए। संघर्ष का समाजशास्त्रीय महत्त्व क्या है ?
Give the meaning and definition of conflict Explain its forms What is its sociological importance ?

88 प्रतिस्पर्द्धा की परिभाषा दीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?
Define competition What are its chief characteristics ?

89 प्रतिस्पर्द्धा के विभिन्न स्वरूपों का उल्लेख कीजिए। समाज में प्रतिस्पर्द्धा का क्या महत्त्व है ?
Describe various forms of competition What is its importance in society

90 "मानवीय सम्बन्धों में संघर्ष की प्रक्रिया हर समय विद्यमान रहती है" इस कथन की व्याख्या कीजिए और बताइए कि वह कौन से सामाजिक यन्त्र (साधन) हैं जिनसे संघर्ष को शान्त अथवा कम किया जा सकता है ?
'Conflict is an ever present process in human relations' Explain this statement and state what are the social mechanisms that smooth over conflict.

91 सामाजिक क्रिया के क्या तत्व हैं ? सामाजिक क्रिया व क्रिया में क्या भेद हैं ? स्पष्ट कीजिए। (1977)
What are the elements of social action ? How social action is different from action ? Explain

92 सामाजिक क्रिया के तत्वों की विवेचना कीजिए। (1976)
Examine the elements of social action

93 डविस के द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के कारणों की विवेचना कीजिए। (1976)
What are the elements of Social Action as given by Davis ? Discuss

94 किसी एक प्रमुख समाजशास्त्री के सामाजिक क्रिया सम्बन्धी अध्ययन की विवेचना कीजिए। (1976)
Discuss the contributions of any one eminent sociologist to the study of Social Action

95 सामाज क्रिया की अवधारणा की व्याख्या कीजिए। (1978)
Discuss the concept of Social Action

96 सामाजिक क्रिया को परिभाषित कीजिए। सामाजिक क्रिया के विभिन्न तत्व बताइए। (1978)
Define Social Action Discuss various components of Social Action

97 सामाजिक प्रतिमान अथवा आदर्श नियम क्या होते हैं ? आदर्श-नियमों का समाज को संगठित करने में समाजशास्त्रीय महत्त्व बताइए।
What are Social Norms ? Discuss the sociological importance of norms in the organization of society

98 "जहाँ आदर्श नियम या प्रतिमान नहीं हैं, वहाँ समाज भी नहीं है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
"Where there are no norms, there is also no society" Discuss this statement

99 व्यक्ति और समाज के जीवन को नियन्त्रित करने में सामाजिक प्रतिमानों के योगदान की व्याख्या कीजिए।
Explain the contribution of Social norms in exercising control over individual and society

100 लोक रीतियाँ क्या हैं ? क्या लोक रीतियाँ कभी रूढ़ियाँ बन सकती हैं ? उदाहरण सहित समझाइए।
What are Folkways ? Can Folkways become 'Mores' ? Explain with illustrations

101 प्रथा और परम्परा में आप किस तरह भेद कर सकते हैं ? सामाजिक जीवन में उनकी उपयोगिता का मूल्यांकन कीजिए।
How would you distinguish between 'Custom' and 'Tradition' ? Evaluate their importance and utility in social life

102 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
(अ) परम्परा
(ब) धर्म एवं आचार या नैतिकता
(स) फैशन तथा सनक (अथवा लोक व्यवहार तथा रुचि)
(द) वैधानिक कानून
(इ) लोक रीतियाँ और लोकाचार।

Write short notes on the following—
(a) Traditions
(b) Religion and Morality
(c) Fashion and Fad
(d) Enacted Laws
(e) Folkways and Mores.

अध्याय 7

103 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है—सामाजिक संरचना में परिवर्तन। टिप्पणी लिखिए।
"Social change means change in social structure" Comment.

104 सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी मार्क्सवादी व्याख्या पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (1977)
Comment critically on the Marxist explanation of social change.

105 सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं ? परिवर्तन की सांस्कृतिक व्याख्या का विश्लेषण कीजिए। (1978)
What do you understand by Social change ? Discuss the cultural explanation of change

106 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त में मैक्स वेबर के योगदान की जाँच कीजिए। (1978)
Examine Marx Weber contribution to the theory of Social change

107 सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए। (1976)
Discuss various theories of social change.

108 सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है ? सांस्कृतिक विलम्बना के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
What is the meaning of social change ? Discuss the theory of Cultural Lag

109 सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा स्पष्ट कीजिए। सामाजिक परिवर्तन के कारणों का उल्लेख कीजिए।
Explain the concept of social change Discuss the causes of social change

110 परिवर्तन, उद्विकास तथा प्रगति की अवधारणाओं के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
Clearly distinguish between the concepts of change Evolution, development and progress

111 सामाजिक उद्विकास और प्रगति के सिद्धान्तों पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
Write a critical essay on the "theories of social evolution and progress"

112 सामाजिक विकास और सामाजिक प्रगति की अवधारणाओं के मध्य अन्तर स्पष्ट कीजिए। उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए जिन्हें आप सामाजिक प्रगति में सहायक समझते हैं। (1977)
Mark out the difference between the concepts of social evolution and social progress Discuss those conditions which in your view are conductive to social progress.

113 सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान क्या हैं ?
What are the main patterns of social change ?

114 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
Write a short note on the processes of social change.

115 सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन मे अन्तर प्रकट कीजिए। क्या आप मेकाइवर के इस कथन से सहमत हैं कि "सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न है ?"
Distinguish between social change and cultural change Do you agree with the statement of MacIver that "Social change is a distinct thing from cultural or civilizational charge ?"

116 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारकों की विवेचना कीजिए।
Discuss the demographic factors of social change

117 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिकीय कारको की विवेचना कीजिए।
Discuss the technological factors of social change

118 सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक कारकों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
Discuss the cultural, psychological and economic factors of social change

119 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
(अ) सांस्कृतिक परिवर्तन
(ब) उद्‌विकास और प्रगति
(स) परिवर्तन और उद्‌विकास
(द) सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमान
(इ) सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है।
Write short notes on the following—
(a) Cultural change
(b) Evolution and progress
(c) Change and Evolution
(d) Patterns of Social Change
(e) Social change in Universal

अध्याय 8

120 सामाजिक नियन्त्रण के अर्थ की विवेचना कीजिए। कानून और शिक्षा-व्यवस्था का सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के रूप में क्या महत्व है ?
Discuss the meaning of social control What is the significance of law and educational system as the means of social control

121 सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिए और यह बताइए कि वर्तमान जटिल समस्याओं के लिए कौनसा स्वरूप सबसे उपयुक्त है।
Discuss the various forms of social control and explain which of those forms is best suited to the modern complex societies

122 अपने निजी शब्दों में सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित कीजिए। वर्तमान समाज मे सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों के तुलनात्मक महत्त्व पर एक सोदाहरण टिप्पणी कीजिए। (1977)
Define social control in your own words Write and illustrative note on the relative importance of the fomal and informal methods of social control in the present day society.

123 सामाजिक नियन्त्रण पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए। (1976)
Write a short essay on social control

124 सामाजिक नियन्त्रण में धर्म और कानून की भूमिकाओं की विवेचना कीजिए। (1975)
Discuss the role of religion and law in social control

125 सामाजिक नियन्त्रण की कुछेक अनौपचारिक विधियों की विवेचना कीजिए।
Discuss some of the informal methods of social control

126 सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा दीजिए ? समाज व्यवस्था को बनाए रखने में इसके कार्यों की विवेचना कीजिए।
Define social control and discuss its functions for maintaining social order

127 सामाजिक नियन्त्रण के कुछ साधनों और प्रविधियों की विवेचना कीजिए।
Discuss some of the means and techniques of social control.

128 प्रथा और जनमत का सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के रूप में क्या महत्त्व है ?
What is the significance of customs and public opinion as the means of social control.

129 धर्म और नैतिकता का सामाजिक नियन्त्रण के साधनों के रूप में क्या महत्त्व है ?
What is the significance of law and morality as the means of Social Control ?

SUGGESTED READINGS

1	*Alex Inkeles*	What is Sociology ?
2	*Anderson*	Society
3	*Bernard Philips*	Society Social Structure & Change
4	*Bogardus*	Sociology
5	*Bottomore, T B*	Sociology
6	*Bierstedt R*	The Social Order
7	*Broom & Selznick*	Sociology A Text with Adapted Readings
8	*Chitamber J B*	Introductory Rural Sociology
9	*Cuber J F*	Sociology
10	*Cooley C H*	Social Organization
11	*Davis, K*	Human Society
12	*Eldrege & Merrill*	Culture & Society
13	*Fairchild*	Dictionary of Sociology
14	*Hoebel*	Man in the Primitive World
15	*Gillin & Gillin*	Cultural Sociology
16	*Giddings*	Introductive Sociology
17	*Grooves & Moore*	An Introduction to Sociology
18	*Gisbert P*	Fundamentals of Sociology
19	*Gurvitch & Moore*	20th Century Sociology
20	*Kimbal Young*	A Handbook of Social Psychology
21	*Levy M J*	The Structure of Society
22	*Lundberg*	Social Research
23	*Morris Ginsberg*	Sociology
24	*Maciver & Page*	Society
25	*Manzer, H C*	Practical Sociology and Social Research
26	*Max Weber*	Theory of Social and Economic Organisation
27	*Mckee J B*	Introduction of Sociology
28	*Ogburn & Nimkoff*	A Handbook of Sociology
29	*Olsen N E*	The Processes of Social Organization
30	*Reuter, E B*	Handbook of Sociology
31	*Ross*	Social Psychology
32	*Sapir, E*	Groups Encyclopaedea of Social Sciences

33 *Sutherland & Others* · Introductory Sociology
34 *Sargent* : Social Psychology at Cross-Road
35 *Sorokin P A* Society, Cul ure & Personality
36 *Sorokin, P.A* Contemporary Sociological Theories.
37 *Talcott Parsons* Encyclopaedea of Social Sciences
38 *Wright* · Elements of Sociology
39 किंग्सले डेविस मानव समाज
40 रॉबर्ट बीरस्टीड सामाजिक व्यवस्था
41 हैरी एम जॉनसन समाजशास्त्र
42 मेकाइवर तथा पेज समाज
43 मिश्री एवं गोस्वामी समाजशास्त्र विवेचन
44 टी बी बाटोमोर समाजशास्त्र

